Year-65, Volume-2 April-June 2012
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त
(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

संस्थापक

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

ANEKANTA
(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

Founder

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editor

Prof. Phoolchand Jain 'Premi',Varanasi,

Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subsercription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondance for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

विराजै रामायण घट माहिं

विराजै रामायण घट माहिं,
मरमी होय मरम सो जाने मूरख मानै नाहिं
विराजै रामायण घट माहिं।
आतम राम, ज्ञान गुन लक्षमन, सीता सुमति समेत,
शुभ उपयोग वानर दल मंडित वर-विवेक रण खेत।
विराजै रामायण घट माहिं।

ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि गई विषय दिसि भाग,
भई भस्म मिथ्यामत लंका उठी धारणा आग।
विराजै रामायण घट माहिं।

जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल, लरें निकांक्षित सूर,
जूझे राग-द्वेष सेनापति संसे गढ़ चकनाचूर
विराजै रामायण घट माहिं।

विलखत कुंभकरण भवविभ्रम पुलकित मन दरयाव,
थकित उदार वीर महिरावण, सेतु-बंध सम भाव।
विराजै रामायण घट माहिं।

मूर्च्छित मन्दोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना छुटे छपक गुण बान।
विराजै रामायण घट माहिं।

निरख सकति गुण चक्रसुदर्शन, उदय विभीषण दीन।
फिरे 'कबंध' महीरावण की प्राण भाव सिर हीन।
विराजै रामायण घट माहिं।

इह विधि सकल साधु घट अंतर होय सहज संग्राम,
यह विवहार दृष्टि रामायण केवल निश्चय राम।
विराजै रामायण घट माहिं।

– पं. बनारसीदास

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
श्रुताराधना पर्व	*संपादकीय*	5
1. प्राकृत पूजा : एक अनुशीलन	*- डॉ. उदयचन्द जैन*	6-10
2. हाड़ौती की जैन अभिलेख परम्परा	*- ललित शर्मा*	11-23
3. जैनदर्शन में पुरुषार्थ का स्वरूप एवं उसकी महत्ता	*- डॉ. श्वेता जैन*	24-31
4. जैन चर्या में अहिंसकाहार	*- सतेन्द्रकुमार जैन*	32-41
5. श्रुत पंचमी महोत्सव २०१२		42
6. राष्ट्र और समाज के हित में परिग्रह परिमाण व्रत की उपयोगिता	*- सुरेश जैन, आई.ए.एस. (से.नि)*	43-46
7. जैन संस्कृत आध्यात्मिक टीकाकार : एक सर्वेक्षण	*- डॉ. रमेशचन्द जैन*	47-53
8. जैन-आगम के परिप्रेक्ष्य में : षट्खण्डागम का वैशिष्ट्य	*- पंकज कुमार जैन*	54-60
9. जैनधर्म में शिक्षा व्यवस्था	*- डॉ. शिव कुमार शर्मा*	61-67
10. जैन आगमों में विभिन्न मतवाद एवं उनकी उत्पत्ति के कारण	*- डॉ. वन्दना मेहता*	68-75
11. विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता जैन साहित्य के संदर्भ में	*- डॉ. सागरमल जैन*	76-80
12. पुस्तक समीक्षा		81
13. उज्जयिनी के मंदिरों में सजीले तोरण द्वारों का ऐतिहासिक परिचय	*- श्रीमती अंजलि मुकेश विजयवर्गीय*	82-89
14. समाधितंत्र में प्रतिपादित अंतरात्मा	*- डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी'*	90-96

श्रुताराधना पर्व

दिगम्बर जैन परम्परा में ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को श्रुतपंचमी या श्रुताराधना पर्व के रूप में विशेष महत्त्व है। भ.महावीर के परिनिर्वाण (ई.पू. ५२७) के ६२ वर्ष के पश्चात् श्रुत-ज्ञान की परंपरा क्रमशः क्षीण होती गई और अन्त में उसका बचा कुछ श्रुतांश मात्र ही आ. धरसेन को प्राप्त हुआ। धरसेनाचार्य अष्टांग महानिमित्त के पारगामी लिपिशास्त्र के ज्ञाता थे। उन्हें चिंता हुई कि प्राप्त श्रुतज्ञानांश भी कहीं लुप्त न हो जाय, इसीलिए उन्होंने तत्कालीन आन्ध्रप्रदेश की 'महिमा' नगरी में चल रहे श्रमण-सम्मेलन के संघपति महासेनाचार्य को संदेश भेजा और उन्होंने उज्जवल चारित्र धारी, समस्त विधाओं में पारगामी दो सुबुद्ध मुनिराजों को उनके निकट भेजा। आ. धरसेन ने मुनियों के आने के पूर्व कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शंख के समान श्वेत वर्णी दो हृष्ट पुष्ट बैलों को स्वप्न में देखा। स्वप्नफल विचारकर प्रसन्न हुए "श्रुतदेवी जिनवाणी जयवन्त" हो।

भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दोनों मुनिराजों को धरसेनाचार्य ने श्रुत का उपदेश देना शुरू किया और आषाढ़ शुक्ल एकादशी को उसका समापन कर उन शिष्यों को अन्यत्र विहार करने की आज्ञा दी और इसे लिपिबद्ध करने को कहा। दोनों शिष्य गिरनार से चलकर अंकलेश्वर (सूरत) आये जहाँ वर्षाकाल व्यतीत करते हुए, गुरुमुख से सुने ज्ञान को लिपिबद्ध कर षट्खण्डागम कीरचना ०७५ ईस्वी में की। जो भाव श्रुत उन्होंने आत्मसात किया था, उसकी परिणति थी यह- द्रव्य श्रुत जो खण्ड-सिद्धान्त अथवा छक्खंडागम-सुत्त के नाम से प्रसिद्ध ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को पूर्ण हुआ था और आज के दिन राजा/चतुर्विध संघ एवं ग्रामवासियों ने विशेष उत्सव मनाया जो पूरे भारतवर्ष में प्रसिद्ध हुआ।

१०९०-११८८ ई. में सम्राट विष्णुवर्द्धन की पट्ट महादेवी "शान्तलादेवी" ने उक्त षट्खण्डागम की एक लाख श्लोक प्रमाण धवल टीका सहित इसे ताड़पत्रों पर उत्कीर्ण कराकर जिनमंदिरों को भेंट किया था।

श्रुताराधना पर्व पर हमें न केवल आगम ग्रन्थों की सुरक्षा साज-सम्हाल रखनी है बल्कि इन सिद्धान्त ग्रन्थों की आगम-वाचनाऐं आचार्यों और साधुओं के माध्यम से विद्वज्जनों एवं साधक श्रावकजनों में प्रवर्तमान रहे, ऐसी ठोस योजना मूर्तवन्त हो। उत्सव प्रेमी दि. जैन समाज, ज्ञान यज्ञ के इस महत्त्व को सर्वोपरि रखकर यदि आत्म-पुरुषार्थ के लिए संकल्पित हों। इससे हमारी जैन संस्कृति का भविष्य उज्जवल बना रह सकेगा।

- डॉ. जयकुमार जैन
संपादक 'अनेकान्त'

प्राकृत पूजा : एक अनुशीलन

- डॉ. उदयचन्द जैन

प्रत्येक व्यक्ति सुसंस्कृत संस्कारों की सरिता के प्रवाह में स्नान करना चाहता है। वह जीवन के विकास के लिए कोई न कोई हेतु बनाता है, वह परम पावन पवित्र आत्मा का चिन्तन करता है, वह अंतरंग की दृष्टि की ओर उन्मुख होकर उन भव्यात्माओं के जीवन की ओर लक्ष्य बनाता है, जो इस संसार से पार हो गए, जिन्होंने जन्म-मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है या जो उनके मार्ग पर चल रहे हैं, उन्हें स्मृति में लाता है, उन्हें विविध रूपों में स्मरण करता है तथा महागुणी बनने या आत्मा से परमात्मा बनने के लिए जो भी क्रिया करता है वही गुणकीर्तन है, वही पूजा है, स्तुति है या आराधना है। जिसे वह किंचित् समय की सीमा में नहीं बांधता, अपितु सदैव उन गुणों की प्राप्ति के लिए किसी न किसी तरह का उद्यम करता है। वह इष्टसिद्धि, शिष्टाचार, मानसिक शुद्धि, वाचिक प्रशुद्धि और कायिक शुद्धि आदि के लिए जो भी पुरुषार्थ करता है उसमें उसका निश्चित उद्देश्य होता है।

पूजा एक महान् साध्य है, जिसका उद्देश्य भी महान् है। वह पर से परम पद पर स्थित होने के लिए सर्वप्रथम परमेष्ठियों का स्मरण करता है। हमारे आगमों, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ, प्रवचनसार जैसे पाहुडों आदि में उल्लेख भी आता है। अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों पावन हैं, इनका मार्ग है पवित्र। इसलिए साधक इनके गुणों का श्रद्धापूर्वक आदर-सत्कार करता है। यही प्रवृत्ति है पूजा। 'गुणेषु प्रशस्त रागो पूजा'- गुणों में प्रशस्त राग होना पूजा है।

पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः। (अमरकोष २/३५)

पूजा, नमस्करण, अपचिति, सपर्या, अर्चा, अर्हणा, आदि पूजा के पर्यायवाची हैं।

पूजा- पूजनं पूजा, पूजायां धातु से 'अङ्.' प्रत्यय होने पर पूजा।

नमस्या- नमस्करणं नमस्या, नमस्+य+अ+आ

अपचिति- अप+चाय् (चि)+ति-अपचिति-निर्दोष गुण स्तवन।

सपर्या - सपर्-पूजायां, सपर्+य+अ+आ-सपर्या-गुणज्ञ प्रशंसा।

अर्चा - अर्च्-पूजायां, अर्च्+अ+आ,अर्चा-गुणानुवाद।

अर्हणा - अर्ह् - पूजायां - अर्ह्+यु+आ-अर्हणा - गुणादर।

कृति, स्तवन,कीर्तन, भक्ति, श्रृद्धा, आदर, उपासना, वंदना, स्तुति, स्तव, स्तोत्र, नुति, ध्यान, चिंतन, अर्चना, प्रणाम, नमो तु[१] आदि पूजा के पर्याय हैं। आरती, दृष्टि, श्रद्धार्चना, विनती, गीति उपासना[२] भी इसके नाम हैं।

'पूजनं गन्ध माल्यादिभिः समभ्यर्चनम्' (जैन.ल. ४१९)

गन्ध, मालादि के द्वारा अभ्यर्चन करना पूजा या पूजन है। परिकीर्तन (षट्खण्डागम १/१/१/२१) देवाधि-देवचरणे परिचरणं (रत्नकरण्ड गाथा ११९) परिचरण भी पूजा है।

पूजा का विकास - जो पूज्य होता है, उसकी पूजा होती है, पूज्य हैं- अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। अतः पूज्य गुणों के कारण यह कहा गया -

एसो पंच-णमुक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होदि मंगलं।

मंगलों में प्रथम मंगल अरहंत आदि हैं, वे सर्व पापों का नाश करने वाले हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में अरहंत, सिद्ध, गणधर (आचार्य), अध्यापकवर्ग और साधुओं को नमन किया। आचार्य कुंदकुंद ने ही - तीर्थंकरभक्ति, सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगि, आचार्य, निर्वाण, नंदीश्वर, शान्ति, समाधि, पंचगुरु भक्ति एवं चैत्यभक्ति का प्राकृत में निरूपण किया। मूलाचार के रचनाकार वट्टकेर ने - ''मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदेसिरसा'' के आधार पर मूलगुण वाले संयतों को महत्त्व दिया। भगवती आराधना के शिवार्य ने सिद्ध एवं अरहंत की वंदना की। आचार्य सिद्धसेन ने सिद्धं सिद्वट्ठाणं णमणोवमसुह गयाणमित्ति (स.१/१) आचार्य यतिवृषभ ने संपूर्ण तिरेसठ शलाका पुरुषों का गुणानुवाद ही किया। प्राकृत के सभी काव्यकारों ने अपने अपने मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठियों के साथ-साथ तीर्थंकर ऋषभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं वर्धमान आदि को मंगल रूप माना है।

अरहंत- णमोक्कारो भावणं को करेदि पयडमदी।

सो सव्व-दुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।। आ. वीरसेन जयधवला।।

जो प्रकृष्टमति वाला अरहंत को नमस्कार करता है वह सभी दुःखों के क्षय को प्राप्त होता है। नियमसार एवं मूलाचार के आवश्यक नियमों में छह आवश्यक कर्मों का विवेचन है

समदा थवो य वंदण - पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।

पच्चक्खाण - विसग्गो करणीयावसया छप्पि।। (मू.२२)

समता/सामयिक, स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग में स्तव और वंदना शब्द दिए गए हैं।

थव-स्तव में उसहादि-जिणवराणं (मू.२४) से चतुर्विंशति स्तव और वंदना में- अरहंत-सिद्ध-पडिमा-तव-सुद-गुरु-गुरुण-रागादीणं से अरहंत प्रतिमा और सिद्ध प्रतिमा के साथ साथ तप एवं श्रुत में जो गुरु है उनकी वंदना को महत्त्व दिया है।

जिण- पडिमाणं पणमं करेह - ज्ञाताधर्म -

जिन प्रतिमाओं को प्रणाम करे ऐसा ज्ञाताधर्म आगम में भी कहा है।

'तिक्खुत्तो आयाहीणं पायाहीणं करेमि वंदामि णमस्सामि

सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देइयं चेइयं पज्जुवसामि मत्थेण वंदामि' में देव और चैत्य दोनों की उपासना आदि के साथ तीन प्रदक्षिणा, तीन आवर्त आदि पूर्वक वंदना, नमन, सत्कार, सम्मान उन्हीं को दिया गया है जो देव/आप्त हैं और आप्त के चैत्य हैं।

जब प्रतिक्रमण या सामायिक आदि के पाठ को पढ़ते हैं तब चतुर्विंशति स्तव को पढ़ते हैं।

लोयस्स उज्जोयगरे धर्म्मतित्थ-यरे जिणे।

अरहंते कित्तियहसं चउवीसं पि केवली।।

उसहमजिदं च ददे संभवमहिणंदणं च सुमदिं च। इत्यादि। धवला में अनेकानेक मंत्र हैं- जिनमें णमो जिणाणं, णमो बोहियाणं, णमो सव्वसाहूणं आदि लगभग ८० से अधिक गुणों के स्तवन पर प्रकाश डालते हैं।

श्रावक धर्म और पूजा - आचार्य पुष्पदंत भूतबलि जीवट्ठाण धवला टीका में यह स्पष्ट किया है कि जो श्रावक जिनबिंब के दर्शन करता है, उनकी तीन कारणों से सम्यक् पूजा, उपासना आदि करता है वह जाति स्मरण पूर्वक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

तीहि कारणेहि पढम-सम्ममुप्पदेदि केई।

जाईस्सरा केइ सोहूण केइ जिणबिंबं दट्ठूणं।। (धवला)

जिणबिंबदसणेण णिधत्त-किचादिस्स।

विमिच्छत्तादि-कम्मः कलावस्स खयदंसणादो।। (धवला)

जिनबिंब के दर्शन से निधत्त और निकाचित की प्राप्ति और मिथ्यात्व आदि कर्म कलाप की समाप्ति होती है।

नित्य कर्म - श्रावक के नित्य आवश्यक कर्म -

देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इसे सामायिक पाठ में पढ़ते हैं और सभी जानते हैं।

देव-पूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय - संयमश्तपः।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ।।

जयधवला सूत्र ८२ में श्रावक के चार आवश्यक धर्म कहे हैं-

तं जाधा दाणं पूजा सीलमुववासो,

चेदि चदुव्विहो सावयधम्मो।।

दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकधर्म हैं। रयणसार में दान और पूजा ये दो प्रमुख श्रावक धर्म हैं उनके बिना श्रावक नहीं होता।

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे, ण सावया ते ण विणा।

श्रावक के नित्य, नैमित्तिक कर्मों जिनबिंब दर्शन, अभिषेक, पूजन, प्रक्षालन आदि का विशेष महत्त्व है। आचार्य कुंदकुंद ने अष्टद्रव्य के माहात्म्य को प्रतिपादित करते हुए यह भी

कहा है कि जो श्रावक निर्वाण को प्राप्त अरहंतादि की पूजा करते हैं वे महाकल्याण को प्राप्त करते हैं।

दिव्वेण गंधेण दिव्वेण पुप्फेण दिव्वेण धूवेण दिव्वेण
चुण्णेण दिव्वेण वासेण दिव्वेण व्हाणेण णिच्चकालं
अच्चंति पूजंति, वंदंति णमस्संति-परि-णिव्वाण-महाकल्लाण-
पुज्जं अच्चेमि पूजेमि वंदामि णमस्सामि दुक्खक्ख ओ कम्मक्खओ
बोधिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण-संपत्ति होउ मज्झं।
(निर्वाण भक्ति)

नंदीश्वर भक्ति में भी दिव्वेहि गंधेहि दिव्वेहि पुप्फेहि, दिया है (नंदीश्वर भक्ति) चैत्यभक्ति में दिव्वेवण गंधेण दिण्वेण पुप्फेण- आदि उक्त रूप में ही दिया है।

आचार्य विद्यानंद के जिनपूजा माहात्म्य और जिनमंदिर विवेचन में अनेकानेक पूजा के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है - तीर्थंकरों की पूजा, ध्यान या उपासना आदि से श्रावक शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की ओर भी अग्रसर हो जाता है। उन्होंने अष्टद्रव्य पूजा को इस प्रकार दिया है -

दिव्वेण व्हाणेण	शुद्ध प्रासुक जलाभिषेक
दिव्वेण गंधेण	सुगंध चंदन
दिव्वेण अक्खएण	अंखंड अक्षत
दिव्वेण पुप्फेण	लवणादि पुष्प
दिव्वेण चुण्णेण	दिव्य चरु-चूर्णादि
दिव्वेण दीवेण	दीपक
दिव्वेण धूवेण	सुगंध युक्त धूप
दिव्वेण वासेण	मोक्ष फल

अभिधान राजेन्द्र कोश के पूजा माहात्म्य में उक्त वर्णन है।(६/११०५) शांतिराज शास्त्री ने दिव्वेहि गंधेहि दिव्वेहि अक्खेहि दिव्वेहि पुप्फेहि दिव्वेहि दीनेहि दिव्वेहि धूवेहि, दिव्वेवहि चुण्णेहि दिव्वेहि वासेहि दिव्वेहिव्हाणेहि- को निर्वाण भक्ति के आधार पर विवेचित किया है।

देवच्चणा विहाणं जं कधिदं देस-विरट्ठाणम्मि।
होदि पदत्थं झाणं कधिदं तं वरजिणिंदेहिं।।
(भावसंग्रह-देवसेन ६२६-६२७)

जहाँ देव अर्चना का विधान है वहाँ कर्मों का क्षय अवश्य है। प्राकृत में पूजा पढ़ने की पंरपरा रही होगी, जो बाद में भी प्रचलित रही है। ऐसा इसलिए कि बीसवीं शताब्दी में आर्यिका विशुद्धमति माता जी ने प्राकृत में आचार्य शान्तिसागर पूजा, आचार्य अजितसागर

आदि की पूजा लिखी हैं। इसी तरह सुनील सागर आचार्य ने सन्मतिसागर पूजा और मैंने स्वयं आर्यिका ज्ञानमती, आ. शान्तिसागर, वर्धमान सागर, वीर सागर, अभिनंदन सागर आदि की पूजाएँ लिखी हैं। आज २१वीं शताब्दी में यह क्रम विद्यमान है।

यहाँ एक बात स्पष्ट है कि दशलक्षण पूजा से संबन्धित दशों पूजाएं प्राकृत में हैं।

प्राकृत है सुकुमार उसमें पूजा अतिसुकुमार तो होगी ही, परन्तु उन्हें जो पढ़ेगा वह श्रावक अपने कर्मो का क्षय करेगा।

संदर्भ :

१. जैन पूजा काव्य : एक चिंतन- लेखक- डॉ. दयाचंद साहित्याचार्य
२. वृहत् सं. शब्द कोष - २/६६२

-डॉ. उदयचन्द्र जैन
पिऊकुंज, अरविंद नगर, उदयपुर (राजस्थान)

विषयासक्त-पुरुष

विषयासक्त चित्तानां, गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्य न सत्यवाक्।।१०-१।।
।।क्षत्रचूड़ामणि।।

विषयभोग में आसक्त, किस गुण को नष्ट नहीं करता (सर्वेगुणाः नश्यन्ति) उसका पाण्डित्य, मनुष्यता, कुलीनता और सत्यवचन नहीं ठहरतें।

पराराधन जाद दैन्यात्, पैशून्यात् परिवादतः।
पराभवात्किमन्येभ्यो,न विभेति हि कामुकः।।११-१।।
(क्षयचूड़ामणि)

कामुक व्यक्ति- दूसरे की खुशामद से उत्पन्न- दीनता, चुगली, वदनामी और अपमान की परवाह नहीं करता।

पाकं त्यागं विवेकं च वैभवं मानितामपि ।
कार्माताः खलु मुचंन्ति, किमन्यैः, स्वञ्च जीवितम्।।१२।।

विषयों से पीड़ित जन- भोजन को, दान को, कर्त्तव्याकर्त्तव्य विचार को, संपत्ति को और पूज्यता को भी निश्चय से छोड़ देते हैं, और तो क्या अपने जीवन को भी त्याग देते हैं।

*****

हाड़ौती की जैन अभिलेख परम्परा

- ललित शर्मा

प्राचीन खण्डहरों और मुद्राओं की भांति इतिहास, पुरातत्व की पुष्ठ जानकारी हेतु अभिलेख सर्वाति महत्वपूर्ण और विश्वसनीय साधन है। अनेक स्थलों पर जहॉ पुरातत्त्व मूक और अस्पष्ट होता है, वहॉ अभिलेखों से ही जानकारियाँ मिलतीं हैं और इसीलिये ''बोलते पाषाण'' कहकर पुरातत्वविद्ों ने इनकी महत्ता को स्वीकारा है। अभिलेख अधिकांशतः खण्डहर, इमारतों, मन्दिरों, मठों, मूर्तियों की पीठिकाओं, दबी बस्तियों, मृत्युस्थलों, बावड़ियों, स्तम्भों आदि पर प्राप्त होते हैं। इनकी खोज और पठन बड़ी श्रमसाध्य होती है। इनमें एक एक शब्द, संवत् के प्रति मुक्त सोच, शुद्धिकरण तथा इनके भावार्थ सबसे अधिक दुष्कर कार्य है। ऐसे दुष्कर मन्थन, अध्ययन के पश्चात् ही इनसे तत्कालीन संस्कृति, उपलब्धि और वंशानुक्रम व अनेक कार्यों का प्रामाणिक एवं मान्य विवरण प्राप्त होता है।

उल्लेखनीय है कि पुरातत्व के अलग अलग काल खण्डों में अलग अलग लिपियाँ, मत आदि प्रचलित रहे हैं अतः इन सभी की शैली भी इनमें प्रयुक्त होती है, जिससे तत्कालीन भाषा, कार्यों तथा विचारों का उद्देश्य प्रचुरता से प्राप्त होता है। यहाँ प्रस्तुत पुरा प्रसंग में वर्तमान हाड़ौती प्रदेश (कोटा, बून्दी, बांरा, झालावाड़ जिलों) के अन्तर्गत विभिन्न नगरों, कस्बों, गॉवों तथा उनके मंदिरों आदि की मूर्तियों स्तम्भों, से अवाप्त जैनधर्म के विभिन्न अभिलेखों का परिचयात्मक विवरण किया गया है, जिनसे इस क्षेत्र में जैनधर्म के प्रभाव तथा संस्कृति का परिचय मिलता है।

क्षेत्र के झालावाड़ जिले के खानपुर कस्बे का अतिभव्य चांदखेड़ी का दिगम्बर जैन मंदिर इस दिशा में शिलालेख की दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण इसलिये माना जा सकता है कि यह मंदिर प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का है, इसमें ऋषभदेव की मूर्ति पर संवत् ५१२ का अंकन है।[१] यद्यपि इस संख्याक लेख का प्रामाणिक आधार अभी भी गवेष्य अवश्य है, परन्तु सम्भावना हो सकती है कि यह वीर जैन संवत् हो। क्योंकि वीर संवत् से सम्बन्धित लेखों की प्राचीन जिन मूर्तियां राजस्थान के जोधपुर जिलान्तर्गत मण्डोर के धुधेला तालाब के खोखर मंदिर के पीछे मिली थी, जिन पर वीर संवत् २०३ अंकित है, इस आधार पर यदि चांदखेड़ी जैन मंदिर की उक्त मूर्ति में खुदे ५१२ संवत् का प्रामाणीकरण हो जाये तो यह क्षेत्र जैन धर्म के पुरातात्विक इतिहास में नया पृष्ठ खोल सकता है।

बून्दी जिले के केशोरायपाटन नगर में एक टीले पर जैन मंदिर है, जिसमें अनेक तीर्थंकरों की मूर्तियां है। इनमें सबसे प्राचीन मूर्ति ८ इंच ऊँची श्यामवर्णीय है, इसकी निर्माण तिथि ज्येष्ठ सुदी ३ संवत् ६६४ (६०७ ई.) स्पष्ट अंकित है। यह तिथि प्रदेश के प्राचीनतम जैन अभिलेखों में मानी जा सकती है।[२] यहॉ की अन्य जैन तीर्थंकर मूर्तियों पर वि.स. १३२१

(१२६४ ई.), वि.स. १३५० (१२९३ ई.), वि.स. १४१९ (१३६२ ई.), वि.स. १५४९ (१४९२ ई.), वि. स. १५८१ (१४२४ ई.), वि.स. १७४६ (१६८९ ई.), वि.स. १८२६ (१७६९ ई.), वि.स. २०१६ (१९५६ ई.), वि.स. २०३२ (१९७५ ई.) के अभिलेख उत्कीर्ण है, जिनसे ज्ञात होता है कि उक्त जैन तीर्थंकर मूर्तियां उक्त संवत में निर्मित हुई थी। इन लेखों में तिथि, वार भी है, परन्तु मूर्तियों के जलाभिषेक के कारण वे अंकन धुंधले होने से स्पष्ट रूप सें पठन में नहीं आते हैं। इन अभिलेखों से यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि ईसा की ७वीं सदी से लेकर इक्कीसवीं सदी तक निरन्तर जैनधर्म का प्रभाव इस क्षेत्र में अबाध गति से होता रहा है।

मुख्यालय बून्दी नगर में भी जैनों के अनेक परिवार १४वीं सदी में निवास करते थे। उनके प्रमाण यहां बने जैन मंदिरों की भव्यता से लगा सकते है।[३] यहां के पार्श्वनाथ जैन मंदिर की तीर्थंकर पार्श्वनाथ मूर्ति पर इसके निर्माण की तिथि वि.स. १७४४ (१६८७ ई.) अंकित है। इसी के निकट एक अन्य तीर्थंकर की यहां स्थापित मूर्ति पर वि.स. १३३१ (१२७४ ई.) निर्माण तिथि अंकित है।

बून्दी जिलान्तर्गत एक प्राचीन नगर नैनवा है। इतिहास में इस नगर का नाम जैनधर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात है। यहाँ अनेक ऐसे जैन अभिलेख है, जिनमें जैन मूल संघों के गणों का नामोल्लेख है।[४] यहॉ से प्राप्त एक अभिलेख वि.स. १०८४ (१०२४ ई.) का है, परन्तु इसका विवरण अभी गवेष्य है। यहीं से प्राप्त वि.स. ११८३ (११२६ ई.) का अभिलेख भी इसी स्थिति में है।

द्वितीय एक अन्य लेख यहाँ के जैन स्तम्भ का है, इसकी भाषा संस्कृत है। परन्तु इसमें २ पंक्तियां ही पठन में आती है। अभिलेख के ऊपरी भाग में तीर्थंकर महावीर स्वामी की ९ इंच की मूर्ति का अंकन है, जबकि लेख के अक्षरों का आकार ०.५ गुणा ०.४ वर्ग इंच है। लेख की २ पंक्तियों का पाठ इस प्रकार है :-

सं. ११८३ काति सुदी १० धर्कट जाति साहि

ल पुत्र हरिल स्वर्ग गता

आशय है कि धर्कट जाति के साहिल नामक व्यक्ति के पुत्र हरिल का स्वर्गवास कार्तिक सुदी दसमी संवत् ११८३ (११२६ ई.) को हुआ। सम्भवतः लेख के अंकन की यही तिथि मानी जा सकती है। इसी स्थल पर स्थापित एक अन्य स्तम्भ पर जिसका आकार माप ४८ गुणा १२ इंच तथा अंकित अक्षरों का माप ०.१ गुणा ०.१ इंच है मूलतः संस्कृत निष्ठ है। यह ३ पंक्तियों मात्र का जैन अभिलेख है, जिसके उर्ध्व भाग पर जैन तीर्थंकर मूर्ति का अंकन है। यद्यपि लेख के सम्पूर्ण अक्षर कोशिशों के बाद भी सुपाठ्य नहीं हो पाये परन्तु फिर भी जो कुछ पठन में आया उसका पाठ निम्नतया है :-

१, संवत् १३३...... वदि। थींद देव ....पुत्र। .. प्रणमत''।

उक्त पठन से ज्ञात होता है कि उक्त तिथि पर थीदं देव के किसी पुत्र की मृत्यु हुई थी। इसी क्रम में यहाँ के एक अन्य स्तम्भ पर जिसका आकार २४ गुणा ११ इंच है। इसमें खुदे अक्षर ०७ गुणा ०१ इंच के हैं। इसमें ६ पंक्तियों का एक अभिलेख है, जिसके शीर्ष पर

तीर्थंकर मूर्ति का अंकन है। लेख का पाठ इस प्रकार है :-

।। ऊँ।। श्री सर्व.......पति ग.

नी.... रति पति .... रण जी..

.......संवत् १३३३.......श्रीमूल संघेबलात्कार

गणे सरस्वती गच्छे कुन्द कुन्दाचार्यन्वये

भट्टारक श्री प्रभादेव.... सिष्यः श्री पदमनन्दि देवः तस्मिन।

किसी जैनमतीय श्लोक से आरम्भ उक्त अभिलेख में वर्णित है कि वि.स. १३३३ (१२७६ ई.) में मूल संघ के बलात्कार गण और सरस्वतीगच्छ की कुन्दकुन्दाचार्य परम्परा के भट्टारक प्रभादेव व उनके शिष्य पद्मनन्दि थे। एक अन्य स्तम्भ पर वि.स. १३५१ का जैन अभिलेख निम्नांकित प्रकार का है, जो ४ पंक्तियों का है।

।। ऊँ स्वस्ति श्री संवतु १३५१ वर्ष काती सुदी १५ भट्टारक

प्रताप देव सा ...... सिष्य ...... पण देव

जैन मतीय एक अन्य अभिलेख ६ पंक्तियों का है, जो मूलतः मृत्यु अभिलेख है। यह संस्कृत भाषा में है।

।ऊँ संवतु १३५१ वर्षे काती वदि १५ भट्टारक प्रता दे.

वतत्सि य भ. .... देव, साधु जगदेव पुत्र पद्म सींह

गल वा वाला हालू प्रणाम ति सुम।

उक्त लेख में भट्टारक प्रतापदेव के शिष्य की मृत्यु कार्तिक सुदी १५ संवत् १३५१ (१२९४ ई.) में होना ज्ञात होता है। यद्यपि शिष्य नाम स्पष्ट रूप से पठन में नही आया परन्तु ज्ञात होता है उक्त अवसर पर साधु जगदेव के पुत्र पदमसिंह तथा गलवा वाला हालू उपस्थित थे। एक अन्य स्तम्भ पर ६ पंक्तियों का जैन अभिलेख इस प्रकार है। इसके शीर्ष पर जैन आचार्य की मूर्ति का अंकन है :-

संवत् १५१ (५), आश्विन मूल

संघे, छत्रीकार पिता ....आचार्य

उक्त अभिलेख की तिथि संवत् १५१५ है। इसमें मूल संघ के किन्ही जैन आचार्य की मूर्ति उत्कीर्ण है। सम्भव है इन्ही दिवंगत जैनमुनि की स्मृति में इस छतरी का निर्माण कराया गया होगा।

इस नगर के सरोवर नवल सागर के दक्षिण भाग में कंवर की छतरी के समीप एक छतरी है। इसमें वि.स. १५४३ (१४८६ ई.) का ७ पंक्तियों का एक जैन अभिलेख है, जो सती से सम्बन्धित है।

ऊँ सिद्धि ।। संवत् १५४३ वर्षें भाग

सुदी ५ शनिवारे उत्तराषाढ

नक्षत्रे सा. नाथ .... को दया....

सा ...... गैपा सुत सती सी

ला सहित देव लो ......

के गता .... सुमं भव

तु ।। साके १४०८।।

उक्त लेख मूलतः सती लेख है, जो गैपा के पुत्र के साथ सती हुई, उसकी पत्नी शिला का है, परन्तु इसमें गैपा के पुत्र (शीला के पति) का नामोल्लेख नहीं है।

इसी नगर के छोटा तालाब के किनारे एक जैन अभिलेख वि.स. १९८९ (१८७५ ई.) का है। इसमें कई महत्वपूर्ण तथ्यों का हवाला है।

संवत् १९८९ विक्रमादेय चैत्र मासे शुक्ल पक्षे षष्ठयांतियौ मंगलवासरे श्री महाराजाधिराजे बून्दी नरेश ईश्वरीसिंह जी क राज्यान्तर्गतें नैणवां नगरे बिम्ब प्रतिष्ठायां दीक्षा महोत्सव समये

नीचे की पट्टिका का अंकित लेख इस प्रकार है :-

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मूल संघ सरस्वती गच्छे बलात्कारगणनान्तर्गत

अग्रवंशोदभवानुं आग्रहेण प्रतिष्ठाचार्ये वर्ये केकड़ी नगर निवासी सिमिः पण्डित धन्नालाल महोदयै

।। श्री जिनेन्द्र पादुका एषा संस्थापिते।''

उक्त लेख में वर्णित वि.स. १९८९ में बून्दी के नरेश ईश्वरसिंह के राज्यकाल में उक्त नगर में जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा एवं दीक्षा के अवसर पर दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मूल संघ के सरस्वती गच्छ के बलात्कार गणान्तर्गत अग्रवाल वंशीय केकड़ी (अजमेर) वासी धन्नालाल पंडित ने तीर्थंकर महावीर स्वामी की चरणपादुका स्थापित कराई।

हाडौती क्षेत्र के बांरा जिले में भी जैनधर्म के अनेक अभिलेख उल्लेखनीय है जो इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि यह क्षेत्र भी प्राचीनकाल से ही जैनधर्म से प्रभावित रहा है जिसका प्रभाव आज भी है। क्षेत्र के अटरू कस्बे के बाजार में भैसाशाह नामक एक श्रेष्ठि द्वारा निर्मित जैन मंदिर है, इसमें प्रतिष्ठित तीर्थंकर मूर्ति पर केवल तिथि का अंकन लेख इस प्रकार है[५] :-
चैत्र सुदी ५, मंगलवार संवत् ५०८ (४५१ ई.)

इसी नगर से एक पुरातत्व महत्व का सहस्त्र जिनपट्ट मिला था, जो सम्प्रति कोटा के राजकीय पुरातत्व संग्रहालय में है। इस पट्ट पर निम्न लेख अंकित है[६] :-

ई. ।। संवत् ११६५ ज्येष्ठ सुदी, पंडित श्री मल्लोक नं... दि छात्रेण शुभंकर (सुभंकर) पुत्रैण सौवार्णिक सहदेवेन कर्म्भक्षय निमितेन कारापिंत। श्री परवर्म देव राज्ये।''

उक्त लेख से ज्ञात होता है कि उक्त नगर में श्रेष्ठि सहदेव ने नन्दि मल्लोक के शुभंकर नामक शिष्य की आज्ञा से उक्त जैन पट्ट की प्रतिष्ठा संवत् ११६५ में करवायी थी।

उस समय इस भूभाग पर (परमार) नृपति नरवर्मन देव का राज्य था। अटरू की दो अन्य जैन तीर्थंकर मूर्तियों पर निम्न अभिलेख पठन में आते है, जो वर्तमान में कोटा के उक्त संग्रहालय मे है[७] :-

श्री नर वर्म्मन देव राज्ये संवत ११८८ (१) आषाढ़ वदी १ अ

गुवालान्वय साधुजिनवा ल सुत यम देव पु.

उक्त लेख में उक्त जैन तीर्थंकर मूर्ति की प्रतिष्ठा का वर्णन है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठा राजा नरवर्म्मन देव के काल में संवत् ११८८ में अग्रवाल साधु जिनवाल के पुत्र यमदेव द्वारा करवाई गई थी। एक अन्य मूर्ति पर अंकित लेख इस प्रकार है[८] :-

''श्री सर्व्वनधाचार्य'' ''साधु सर्व्व कानन्दि''

यह लेख अटरू की जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति पर अंकित है, जो सम्प्रति उक्त संग्रहालय में है। इसमें साधुओं के नामोल्लेख है। अक्षरों के शिल्प से यह लेख ईसा की १०वी सदी का माना जा सकता है। उक्त लेखों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि मालवा के परमार नरेशों के युग में उक्त नगर में जैन धर्मावलम्बियों का बाहुल्य था तथा वहां जैन साधुओं तथा उनके संघों का आवागमन रहता था।

बांरा जिले का रामगढ़ नामक कस्बा भी जैनधर्म का बड़ा केन्द्र रहा है। इस स्थान के निकट पहाड़ पर एक दुर्ग में कई जैन मंदिर है, जिनके जैन अभिलेख इस प्रकार है।[९] उक्त दुर्ग के उत्तर में एक जैन तीर्थकर मूर्ति पर लघु लेख इस प्रकार है जो विक्रम संवत् १२११ ज्येष्ठ सुदी १५ का है। जो संस्कृत में है।

''आचार (य) माणिक्य देव, लक्ष (मी)धर, सूत्रधार वालिम।''

दुर्ग की एक दालान के बाहर एक जैन तीर्थंकर मूर्ति स्थापित है, इस पर देवनागरी में संस्कृतनिष्ट भाषा का एक भग्न अभिलेख है जो मंगलवार, चैत्र सुदी १४ वि.स. १२२४ (४ अप्रैल ११६७ ई.) की तिथि का प्राप्त हुआ। इस लेख में किसी व्यक्ति द्वारा जैन स्तुति करने का हवाला है। लेख में आचार्य माणिक्यदेव व साधु कालीचंद के पुत्र साधु देल्हा मेदपाट वासी तथा एक व्यक्ति महिचन्द्र का नामोल्लेख है।

दुर्ग के उत्तर में एक अन्य जैन मूर्ति के निकट के स्तम्भ पर विक्रम संवत् १२३२ (११७५ ई.) का लेख है। यह संस्कृत में है। इसमें कमलदेव की निषेधिका के निर्माण का उल्लेख है। कमलदेव, मणदेव का शिष्य बताया है। इस निषेधिका का निर्माण जल, पदमसिंह व महाघर नाम के व्यक्तियों ने करवाया था। लेख में सोमदेव (पंडित) शिष्य कर्मदेव का नामोल्लेख है। ये सभी तपगच्छ से सम्बन्धित रहे हैं।

इसी दुर्ग के उक्त स्थल में एक खड़गासन जैन तीर्थंकर मूर्ति के नीचे १३वी सदी का संस्कृतनिष्ट एक अभिलेख जो मूलतः स्तुति है, मिलता है। इसमें कुछेक भक्तों के नामों का उल्लेख भी है।

आल्हा पुत्र राय लखम देव ठाकुर हुन्दा, देल्हु दामोदर, कुलिचन्द

यहीं की एक अन्य तीर्थंकर मूर्ति पर स्थानीय भाषा में कुछेक व्यक्तियों के नाम है। यह लेख १२वीं सदी का है। जिसमें फाल्गुन बदी, १, वि.स. १२३७ (११८० ई.) का अंकन है।

बांरा जिले का शेरगढ़ स्थल पुरातत्व की दृष्टि से अतिमहत्त्वपूर्ण है। यहां के एक कुए में जैन अभिलेख बड़ा महत्वपूर्ण है। इसका अंकन अति सुन्दर है। इस लेख में ३४ पंक्तियां थी, परन्तु इसके शिलापट्ट का मध्य भाग भग्न होने से इसकी कई पंक्तियां नष्ट हो गई। इस अभिलेख में पंक्ति संख्या ६ से २८ तक नष्ट है, परन्तु १ से ५ तक और २९ से ३४ तक पठनीय है। इसमें भी संख्या २९ से ३४ तक की प्रति पंक्ति में ४६ व पंक्ति संख्या ६ से २८ की प्रति पंक्ति में २०-२० अक्षर है। इस लेख में ''श्री वरसेन मुनि ना कृतम-इदम्'' शब्द का अंकन है। प्रतीत होता है कि लेख की रचना मुनि वरसेन द्वारा की गई होगी, जो पद्य में है। यह उक्त रचनाकार की विद्वता को भी प्रामाणित करती है। लेख का वर्तमान पठनीय मूल अंश इस प्रकार है :-

तेना स्तुतो वचसा मनसाः प्रसादात्
श्री वरसेन मुनेर मितावाचायत तिरितिल्ली तम
अजा भदन्तेः तत् क्षमितव्यय उतरोस्यायस-
ढ़ोर आत्मज दोशा देहाजनेतुः
द्विशचद्द (त.) सम्क ऐका मिते था वेक्रमे
समा - समूहे सीता सप्तमी मधु चामा से नव चे। -
त्यसमदमनी महात्वसो नेमि जिनस्य करित
पुत्रेण व (ब)ल्देवस्य
राघवेण मनिषिता (ना) दान धर्म्म
निरातेना भष्येन गुनासा (स्या) लिना। -

उल्लेखनीय है कि इस अभिलेख का आरम्भ ''ओ''। नमो वीतरागाय नमः'' से है। जो जैनधर्म का मूलमंत्र है। इसके पश्चात् १६वां श्लोक ''बसन्द तिलक'' छन्दयुक्त है। इस लेख में जैन आचार्यो तथा तीर्थंकरों का यशोगान है। लेख की एक पंक्ति में चैत्य में जैन तीर्थंकर ''नेमिनाथ'' के महोत्सव को चैत्र मास के शुक्लपक्ष में वि. सं. ११६२ (११०५ ई.) में मनाने का हवाला है। यह लेख इसी महोत्सव से सम्बन्धित है। लेख में इसे अंकित करने वाले शिल्पकार का नाम ''राघव'' तथा उसके पिता का नाम ''बलदेव'' लिखा है। यहाँ से प्राप्त एक लघु जैन लेख वि.स. १२८५ (१२२८ ई.) का है। इसमें एक प्याऊ पुण्यार्थ बनाने मात्र का हवाला है।

उक्त दुर्ग के बाहर एक जैन मंदिर में प्रतिष्ठित तीन तीर्थंकरों की मूर्तियों के मध्य पादपीठ पर अभिलेख हैं ये तीन तीर्थंकर मूर्तियां शांतिनाथ, कुंथनाथ तथा अरिनाथ स्वामी की है। लेख की भाषा संस्कृत व लिपि देवनागरी है, परन्तु इसमें प्राकृत का प्रभाव दिखायी देता है। यह लेख वि.स. ११९१ की वैशाख सुदी २ मंगलवार २१ मार्च ११३४ ई. का है। परन्तु पुरातत्वविद्

डी.सी. सरकार की मान्यता है कि सन् ११३४ ई. में २१ मार्च बृहस्पतिवार था अतः मंगलवार के स्थान पर बृहस्पतिवार होना चाहिये। लेख का पाठ इस प्रकार है। यद्यपि इसका आधा भाग भग्न है।

(शोश्रित) माहिल्ल भर्यान्तिमा..........(श) स्य
तिलके सूर्याश्रमे प (त्त) ने श्री पालो गुणापाल
कश्चविपु-
(ले)खंड़ी - ले कुलेसुव (र्य) चन्द्रमा सविवाम्ब
(ब) रतले-प्राप्तो क्रमण-मालवे (१)श्रीपाल
दिहादेव पालात्म (तना) यो दनेना चिन्तामणि
(ह) सा-
(न्तेहश्री) गुणपाल ठकु (क्कु) र सुतादं रूपेण
कामोपमात पुनिमर्थ जन इल्हुक प्रभारिव (त)
यः पुत्राग्र (स=च) ये ग्रा न वे ते ह (तैह)
सव्वैरवि कोशवर्द्धन त-
रत्नात्रयः (याम) करित (म) (२) वर्षे रूद्र
सते (तै) र गतैः सु (शु) भता मेरे का नवति
अधिकैर वैसाख (खे) धवले द्वितीय दिवसे
देवान प्रतिष्ठा-
(पितान) वन्दते नत देवपाल तन्य माल्हु
सधान्वादयः पु (पू) नि शान्ति सुताश्च
नेमी भरतः श्री शांति सत्कु (म) थ्वारान (३)
दमड़ी सूत्र धारोतपन्नाहः (न्ना) शिला-श्री
सूत्र धरिन शान्ति (कु) निथु (थ्व अ) र नाम
(मा) नो जयन्तु धारिता जिनाः (४) देवपालसु-
त इल्हुक गोष्ठी विशाल लल्लुकः (काह)
मौकाह हरिश्चन्द्रादिः गागास्व (सु) पुत्र
(ह) अल्लकः सम्वत् १९९१ वैसाख
सुदि २ (मं)गल दिने प्रतिष्ठा करापित (:) - ।

इस अभिलेख में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसमें जैनधर्म की खण्डेलवाल जाति का वर्णन है। इस जाति से सम्बन्धित राजस्थान की धरती पर अब तक अवाप्त होने वाला यह प्रथम पाषाण अभिलेख के रूप में मान्य है। इसके अलावा इसमें तीन भौगोलिक

स्थलों सूर्याश्रम, कोशवर्द्धन एवं मालवा का वर्णन है। इनमें सूर्याश्रम का पता नहीं चलता परन्तु कोशवर्द्धन वर्तमान का शेरगढ़ तथा मालवा से तात्पर्य वर्तमान मालवा से है। इस लेख में यह बात भी कम आश्चर्यजनक नहीं कि इसमें कोशवर्द्धन (शेरगढ़) को मालवा क्षेत्रान्तर्गत बताया है, जबकि इस हाडौती अंचल से मालवा के परमार युगीन जो अन्य लेख मिले है उनमें किसी में भी कोशवर्द्धन को मालवा में नहीं बताया गया है।

इस लेख का सारांश यह है कि इसमें महिल्ल नामक खण्डेलवाल वंशीय जैन व्यक्ति की पत्नि को सूर्याश्रम वासी दर्शाया है। महिल्ल के दो पुत्र श्रीपाल व गुणपाल ने आकर मालवा में वास किया। श्रीपाल के पुत्र का नाम देवपाल तथा गुणपाल के ९ पुत्र-गुणी, मर्थ, इल्हुक आदि थे। इन सभी ने रत्नात्रय (तीर्थंकर शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरिनाथ) की मूर्तियों का निर्माण करवा कर उनकी कोशवर्द्धन में स्थापना करवायी। देवपाल के पुत्रों माल्हु व सधानु तथा गुणपाल के पुत्रों पुनि, नेमि, भरत, शान्ति ने मिलकर इन तीर्थंकरों की आराधना की। इन मूर्तियों का शिल्पी शिलाश्री था। उसके पिता का नाम दमड़ी था। इन मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा में देवपाल के पुत्रें इल्हुक, गोष्ठिन, विशाल, लल्लुक, मौका, हरिशचन्द्र ने अनन्य सहयोग किया।

बांरा जिलान्तर्गत काकूनी नामक एक पुरास्थल पर जैन धर्मावलम्बियों का बड़ा प्रभाव रहा है। यहां जैनधर्म के कई पुरास्थल है। यह स्थल झालावाड़ जिले की सीमा से भी सटा हुआ है। यहाँ से प्राप्त एक जैन तीर्थंकर मूर्ति पर निम्नांकित लेख मिलता है।[१०]

सवंतु १२२७ आषाढ़ वदि २,
आचार्य श्री वृषभ (भे) सेनः।।
धर्कडान्वय साधु पोसद भार्या
भाणिक सुत
श्री डालू भार्या बाल्ही लघु भ्राताः
वील्हु भार्या
नायक पुत्र सीहड़ महि (जालू)
माधव महिपति प्रणमतिः।

उक्त लेख में वर्णित है कि आचार्य जैन वृषकसेन के आदेशानुसार धर्कट जाति के डालू और बिल्हु श्रेष्ठियों ने इस जैन तीर्थंकर मूर्ति की प्रतिष्ठा आषाढ़ बदी, २ संवत १२२७ (११७० ई.) को करवायी।

वर्तमान हाड़ौती सम्भाग का झालावाड़ जिला मूलतः प्राचीन मालवा का अभिन्न अंग है। यह क्षेत्र आरम्भ से ही जैनधर्म का प्रभावी क्षेत्र रहा है। यहाँ १२वी सदी से ही जैनधर्म की सुदीर्घ परम्परा के अनवरत दर्शन होते हैं। जिनका वर्णन यहाँ की अभिलेखीय परम्परा में निर्बाध गति से मिलता है।

झालावाड़ के निकट झालरापाटन नगरी में ११वीं सदी का एक प्राचीन और कलात्मक

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर है। इसमें मूल नायक तीर्थंकर शांतिनाथ की मूर्ति पर एक संख्याक लेख संवत् ११४५ (१०८८ ई.) झालावाड़ राज्य के पुरातत्ववेत्ता पं. गोपाल लाल व्यास ने पढ़ा था।[११] इससे सम्भावना प्रतीत होती है कि यह संख्याक लेख इस मूर्ति का प्रतिष्ठाकाल हो सकता है। कर्नल जेम्स टाड़ ने इसी मंदिर में एक पाषाण अभिलेख अपनी यात्रा के दौरान पढ़ा था, जिसमें ज्येष्ठ तृतीया संवत १००३ (१०४६ ई.) का अंकन है। टाड़ ने इसी लेख में एक यात्री के नाम का भी उल्लेख किया था।[१२] इस मंदिर में एक पाषाण स्तम्भ पर संवत् १८५४ (१७९७ ई.) का महत्वपूर्ण लेख है। इसका महत्व यह है कि संवत् १८५४ में भट्टारक नरभूषण महाराज ग्वालियर से यहॉ चातुर्मास के हेतु आये थे, उन्होने यहॉ के जैन समाज पर इस मंदिर की धूप दीप की व्यवस्था हेतु एक मणी अनाज और आधा पैसा ध र्मादा कर रूप में देने का निश्चय किया था।

इस प्राचीन जैन मंदिर में कई तीर्थंकर मूर्तियां स्थापित हैं, जो मध्ययुगीन है। ये मूर्तियां जैनधर्म के मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कार गण के भट्टारक सकलकीर्ति व उनके शिष्यों द्वारा प्रतिष्ठित है। इन मूर्तियों के नीचे बलात्कार गण की ईडर शाखा के दुर्लभ अभिलेख है, जिनका परिचय इस प्रकार है :-

संवत् १४९० वर्षें माघवदी १२ गुरौ भट्टारक सकलकीर्ति हूमड़ दोशी मेधा श्रेष्ठी अर्चति।

संवत् १४९२ वर्षें वैशाख वदी सोमे श्री मूलसंघे भट्टारक श्री पद्मनंदि देवास्तत्पट्टे, भट्टारक श्री सकलकीर्ति हूमण जातीय ....

संवत् १५०४ वर्षे फागुन सुदी ११ श्री मूलसंघे भट्टारक श्री सकलकीर्ति देवास्तत्पट्टे, भट्टारक श्री भुवनकीर्ति देवा हुमड़ जातीय श्रेष्ठि खेता भार्या लाख तयो पुत्रा ......

संवत १५३५ पोषवदी १३ बुधे श्री श्री मूलसंघे भट्टारक श्री सकलकीर्ति भट्टारक श्री भुवनकीर्ति, भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हुमड़ श्रेष्ठि पद्माभार्या भाऊ सुत आसा भ. कडू सुत्कान्हा भा. कुंदेरी भ्रातधना भा. वहहनु एते चतुविशंतिका नित्य प्रणमंति।

यहाँ प्रतिष्ठित एक तीर्थंकर पाश्र्वनाथ मूर्ति पर १६२० वैशाखसुदी ९ बुध श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्याम्नाये भ. श्री पद्मनन्दि देवास्तत्पट्टे सकलकीर्ति देवास्तत्पट्टे सुमतिकीर्ति गुरूपदेशात्, हुबड़ जातीय मंदिर गौत्रे संघवी देवा भा. देवाभदे तत्सुत संघवी भार्या परवत् भार्या परमलदे तत्भ्रातृ सं. हीरा भा. कोडमदे तत्भ्रातृ सं. हरष भा. करमादे सुत लहुआ भा. मिन्ना, भ्रातृ लाडण भा. ललितादे सुतं थापर सं. जेमल भा जेताही भ्रा. डूंगर भा. धानदे भ्रा. जगमा सं. हीआ, बलादे एतै, सह संघवी वीवादो सागवाड़ा वासूव नित्यं प्रणमंति।

(ज्ञातव्य है कि यह तीर्थंकर मूर्ति सागवाड़ा जिला बांसवाड़ा में प्रतिष्ठित हुई थी

और विवेच्य मंदिर में अभी प्रतिष्ठित है) यहाँ के एक लेख में किसी दर्शनार्थी के आगमन की तिथि का लेख ''ज्येष्ठ ३, संवत् ११०३'' है।

झालरापाटन में ही जैनधर्म की एक निषेधिका (मृत्युस्थल) है। इसे सात सलाका की पहाड़ी कहते है। यहॉ के एक पाषाण स्तम्भ पर संवत ११०९ के अभिलेख में श्रेष्ठी पापा की मृत्यु का उल्लेख पठन में आता है। चूंकि उक्त जैन मंदिर के निर्माता भी श्रेष्ठी पापा ही थे, अतः सम्भव है कि यह स्तम्भ भी उसी व्यक्ति का ही हो। यहां के एक अन्य स्तम्भ पर संवत् १११३ के लेख में श्रेष्ठी साहिल की मृत्यु का नामोल्लेख है। सम्भवत् श्रेष्ठी पापा और श्रेष्ठी साहिल के मध्य पारिवारिक सम्बन्ध हो।

यहां एक निषेधिका पर संवत् १०६६ का अभिलेख है, जिसमें जैनाचार्य श्री भावदेव के शिष्य श्रीमंतदेव के स्वर्गलोक पधारने का उल्लेख मिलता है। इसमें उक्त जैनाचार्य का चित्र भी ऊकरा हुआ है। इसमें आचार्य का मुख अध्ययन स्थिति में है। उनके समक्ष एक ग्रन्थ खुली अवस्था में ठूणी पर रखा है, जो पढ़ने हेतु डेस्क का काम देता है। इसके निकट ही एक चबूतरे पर देवेन्द्र आचार्य का एक लेख है जिसमें उनका समय संवत् ११८० दिया हुआ है। एक अन्य स्तम्भ लेख में कुमुद चन्द्र आम्नाय के भट्टारक कुमार सेन का नाम दिया है, जिनका स्वर्गवास १२८९ में मूल नक्षत्र में गुरुवार को हुआ था। यहाँ का एक अन्य अभिलेख संवत् १००९ का है। इसमें जैनाचार्य नेमिदेवाचार्य और बलदेवाचार्य का उल्लेख है। इसी स्तम्भ पर संवत् १२४२ के अभिलेख में मूलसंघ और देवसंघ के उल्लेख पठन में आते है।[१४]

झालरापाटन के चन्दाप्रभू जैन मंदिर में १०वें तीर्थंकर शीतलनाथ स्वामी की एक मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस मूर्ति पर एक अभिलेख है, जो इस प्रकार है[१५] :-

संवत् १५५२ वर्षे जेठ बदी ८ शनिवासरे श्री काण्ठा संघे बागडगच्छे (नंदी तपगच्छे) विद्यागच्छे भ. विमलसेन स्तत्पट्टे भ. श्री विजयसेन देवास्तत्पट्टे आचार्य श्री विशालकीर्ति सहित हुबड़ जाति परमेश्वर गौत्रे सा. गोगा भा. वावनदेपुत्र पंच, सा. कान्ह, सा. करमसी, भा. गारी कनकदे साह कालू भा. जीरी, साधेधर भा आदे. सा. गोगा भा गांगादे, तेनेंद शीतलनाथस्य बिम्बं निमाप्य प्रतिष्ठाकर पिता पुत्री २, बाई माही, बाई पुतली।

झालावाड़ और झालरापाटन के मध्य स्थित है गिन्दौर गाँव। यहाँ जैनधर्म की नसियां है। इसमें बायीं ओर की बेदी में हल्के लालवर्ण की तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस पर इसके प्रतिष्ठाकाल का एक लेख संवत् १२२६ ज्येष्ठ सुदी १० बुधवार का अंकित है। इसी प्रकार उक्त मूर्ति के निकट की अन्य तीर्थंकर मूर्तियों पर संवत् १५४५, संवत् १६६५ तथा संवत् १६६९ के अभिलेख है, जो इनके प्रतिष्ठाकाल के प्रमाण लेख है। ज्ञातव्य कि झालरापाटन जैनधर्म का मध्ययुग में बड़ा केन्द्र रहा है। यहाँ की नसियां के बाहर की तिबारी पर एक लेख का अंकन है।[१६] **''श्री संतनाथ जी महाराज मिति जेठ बदी ३ सम्वत १९१० (१८५३ ई.) का उसतो देवराम बेटा गणेसराम बांचे जासे राम राम बचंजो''**

झालावाड़ मुख्यालय से ३५ किलोमीटर दूर खानपुर कस्बे में चांदखेड़ी में जैन दिगम्बर आदिनाथ जी का विख्यात मंदिर है। यहाँ मंदिर निर्माण का एक जैन अभिलेख महत्व का है, जो इस प्रकार है[१७] :-

संवत् १७४६ वर्षे मप्रमांगल्य प्रदमासोत्तम माघ मासे शुक्ल पक्षे .... तिथो सोमवासरे उत्तरा भाद्रपद्र नक्षत्रे .....खीचीवाड़ देश ..... नगर चांदखेड़ी बादशाह श्री अवरंगशहि राज्य प्रवर्तमाने तत्सामन्त चौहाण वंश हाड़ा महाराजाधिराज महाराज श्री माधोसिंहजी तत्पुत्र महाराज कुमार श्री रामसिंह जी तथा महाराजाधिराज श्री किशोरसिंह जी राज्य प्रवर्तमाने बघेरवाल साह श्री भोपातिःस्तद्भार्या भक्तादे तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम पुत्र साह नानू तद्भार्या नौलादे द्वितीय पुत्र श्री जिनसाह..... भक्ति साधुजन दान वितरण सफलीकृत निज मनुष्य जन्मा साह श्री नेतसी तद्भार्या नारंगदे तत्पुत्र संगहीजी श्री कृष्णदास तद्भार्या द्वे प्रथम भार्या कलावती दे द्वितीय भार्या लाड़ी प्रथम भार्यायाः पुत्रः चिरंजीव श्री टोडरमल एतत् सर्व परिवार श्री जिनेन्द्र प्रतिष्ठा चतुःप्रकार संघ भार धुरंधर तथा विनय चातुर्यवदान्य गुणाल्योकृत कल्प पादपः संगही जी श्रीकृष्णदास। जी काख्यस्तने समहोत्साह श्री जिनेन्द्रबिंब प्रतिष्ठालिखित आचार्य कनकमणि।

उक्त लेख चांदखेड़ी जैन मंदिर पर स्थापित है। इस लेख में संस्कृत भाषा का प्रभाव परिलक्षित होने के साथ ही खड़ी बोली भी स्पष्ट दृष्टव्य होती है। इस लेख में यह वर्णित है कि खीचीवाड़ा क्षेत्र में स्थित चांदखेड़ी नगर में माघ मास के शुक्ल पक्ष में सोमवार को संवत् १७४६ (१६८९ ई.) में जब भारत में मुगल बादशाह औरंगजेब का शासन था और इस क्षेत्र में हाड़ा राजपूत वंश के राजा किशोर सिंह का आधिपत्य था। इस समय जैन बघेरवाल जाति के भोपतशाह की भार्या (पत्नि) भक्तादे व पुत्र शाह नानू तथा जिन ने अन्य भक्तों की सहायता से भगवान जिनेन्द्र की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। ज्ञातव्य कि इस लेख के रचनाकर जैनाचार्य कनकमणि थे।

झालावाड़ जिलान्तर्गत एक प्राचीन नगर गंगधार है। इस नगर की प्राचीनता का आधार ईसा की पॉचवी सदी से रहा है। मालवा की उपराजधानी के रूप में चर्चित रहे इस नगर में मध्ययुग में जैनधर्म का बड़ा प्रभाव रहा है। इस नगर के मध्य किले की भैरूपोल के द्वार के निकट स्थित एक जैन मंदिर है। इसमें पीतल धातु की जैन तीर्थंकर मूर्ति पर एक लेख है[१८] :-

संवत् १५१२ वर्षे फागुण सुदी ४ शनो ३,
वंषे भंभरी गोत्रे भंगजा भार्या संसार दे
नामी पुत्र बीरम बेलास्या देया पुण्यार्थ
अभिनन्दनम करितं संदेर गच्छे प्रतिष्ठत
श्री शान्ति सुरभि ।। श्री ।। श्री ।।''

उक्त जैन अभिलेख संवत् १५७२ (१५१५ ई.) की फागुण सुदी चतुर्थी, शनिवार का

है जिसमें यह हवाला है कि भण्डारी गौत्र के किसी नृपति की पत्नि संसारदेवी (रानी) के पुत्र (राजकुमार) वीरम ने जनपुण्यार्थ इस जैन तीर्थंकर मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतरगच्छ से सम्बद्ध भट्टारक शांति सुरभी द्वारा करवायी थी। इसी क्रम में एक अन्य जैन अभिलेख संवत् १५२४ का है, जिसका पाठ निम्न प्रकार है :-

संवत् १५२४ वर्षे फागुण सुदि दिने, श्रीमाल जातिये ठाकुरा गौत्रे। साजयता पु. सा. भांडण सुश्वाव केन पुत्र झाझण दिस हितं श्री श्रेयसं बिंब।। कारितं प्रतिष्ठित श्री खरतर गच्छे श्री श्री जिन चन्द्र सुरभि मंडप दुर्ग।।

उक्त लेख फागुण सुदी सप्तमी संवत १५२४ का है, जिसमें उक्त तिथि को श्रीमाल जाति ठाकुर गौत्र के जैन श्रावक मंडप के पुत्र जयंता व झाझण ने तीर्थंकर श्री श्रेयान्सनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा खरतरगच्छ के मण्डप दुर्ग के भट्टारक जिन चन्द्र सुरभि द्वारा करवाने का वर्णन है। उपरोक्त मंदिर में ३ आसनस्थ व एक स्थानक जैन तीर्थंकर मूर्तियां है। इनमें २ मूर्तियों पर निम्नांकित अभिलेख है :-

(१) संवत् १३३० ज्येष्ठ बदि ५ शनौ।

प्राग्वाट जातीय कुंभा सुत कडुआ दे दा।।

उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा ज्येष्ठ मास की पंचमी सुदी को संवत् १३३० (१२७३ ई.) में प्राग्वाट जाति के कुंभा नामक व्यक्ति के पुत्र कड़वा द्वारा करवायी थी।

संवत् १३५२ वर्षे माह सुदी ६ गुरौ,

पाटन्वये सा आहड़ के पुत्र देद्दा.....।

इस मूर्ति की प्रतिष्ठा माघ सुदी ६ बृहस्पतिवार संवत् १३५२ (१२९६ ई.) को सआहड़ के पुत्र देदा द्वारा करवाई गई थी। इस प्रकार हाड़ौती क्षेत्र में जैनधर्म के छठीं से २०वीं सदी तक के प्रभाव व धर्म की अबाध गति व उन्नति का पता चलता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूचीः-

१. चांदखेड़ी मंदिर में प्रतिष्ठित तीर्थंकर ऋषभदेव की पीठ पर अंकित संख्याक लेख।
२. खान, एस.आर. (संग्राहक) ' हाड़ौती के बोलते शिलालेख, पृष्ठ.६१
३. पूर्वोक्त, पृष्ठ. ६२
४. वरदा, शोधपत्रिका, वर्ष १४, अंक-४, पृ. ११ से २२
५. शर्मा, मथुरालाल - कोटा राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. ७९
६. स्वयं लेखक द्वारा पठन किया गया।
७. स्वयं लेखक द्वारा पठन किया गया।
८. जैन इन्सक्रप्शन्स ऑफ राजस्थान, पृष्ठ. १५१
९. एन्युअल रिपोर्ट ऑफ इण्डियन एपीग्राफी, १९७०, पृष्ठ. १०९ व आगे।
१०. सोमानी, रामबल्लभ - जैन लेख संग्रह, भाग ४, पृष्ठ. १६१, लेख संख्याक २२०
११. हस्तलिखित लेख पं. गोपाललाल व्यास, (संग्राहाध्यक्ष - पुरातत्व संग्रहालय, (झालावाड़) (एस.आर. खान के निजी संग्रह से)
१२. टाड, कर्नल जेम्स - एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज, भाग-३, पृ. १७८९

१३. जैन, बलभद्र - भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग-४ (इन्ही लेखों को पुनः इस लेख के लेखक ने भी परखा तथा पठन किया है)
१४. (१) उक्त लेख उक्त स्थल पर आज भी पठनीय है।
(२) एन्युल रिपोर्ट आन दी वर्किंग ऑफ राजपूताना म्यूजियम अजमेर, १९१२-१३ ई. पृ. ७, ८
१५. लेखक द्वारा स्वपठित लेख
१६. हस्तलिखित लेख पं. गोपाललाल व्यास
१७. शर्मा, मथुरालाल - पूर्वोक्त, परिशिष्ट स-११
१८. खान, एस.आर.-पूर्वोक्त पृ. २६९-२७१

- जैकी स्टूडियो
१३,, मंगलपुरा स्ट्रीट, झालावाड़-३२६००१ (राजस्थान)

गते शोको न कर्तव्यो, भविष्यं नैव चिन्तयेत।
वर्तमानेन कालेन, प्रवर्तन्ते विचक्षणाः।।

शोको नाशयते धैर्य, शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं, नास्ति शोक समोरिपुः।।
(वाल्मीक-रामायण)

बीते हुए का शोक नहीं करना चाहिए और भविष्य के बारे में चिन्तन नहीं करना चाहिए। ज्ञानी पुरुष- वर्तमान काल में प्रवृत्ति करते हैं। शोक धैर्य को नष्ट करता है, शोक शास्त्र ज्ञान को नष्ट कर देता है। यहाँ तक कि शोक सब कुछ नष्ट कर डालता है। अतः शोक के समान कोई शत्रु नहीं।

यथा चतुर्मिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षणच्छेदनतापताड़नैः।
तथा चतुर्मिः पुरुषं परीक्ष्यते, श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा।।
(अज्ञात)

जैसे स्वर्ण की घिसकर, छेद करके, तपाकर और पीटकर, चार प्रकार से परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य कीपरीक्षा ज्ञान, शील, कुल और कर्म से की जाती है।

जैनदर्शन में पुरुषार्थ का स्वरूप एवं उसकी महत्ता

- डॉ. श्वेता जैन

पुरुषार्थ जैन दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है। जैनदर्शन के समग्र साहित्य आगमग्रन्थ टीका, चूर्णि, निर्युक्ति, दर्शन एवं व्याख्या ग्रन्थों में पुरुषार्थ के स्वरूप का विभिन्न आयामों में विश्लेषण सम्प्राप्त होता है। इन सभी ग्रन्थों में प्रमुखतः मोक्ष को लक्ष्य कर पुरूषार्थ का प्रतिपादन हुआ है। आगमों में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ को ही केन्द्र में रखा गया है। किन्तु उत्तरकालीन साहित्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-चतुष्ट्य का विवेचन प्राप्त होता है।[१] अर्थ और काम पर जैनदर्शन के अनुसार धर्म का नियंत्रण आवश्यक है। मोक्ष साध्य है और धर्म साधन है। धर्म की साधना से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है इस दृष्टि से जैनदर्शन के अनुसार जीव के द्वारा आचरणीय पुरुषार्थों में धर्म पुरूषार्थ ही प्रधान पुरूषार्थ है।

भगवान् महावीर के अंतिम उपदेशों के संकलित ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध आगम उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपयोग के साथ वीर्य अर्थात् पराक्रम को जीव का लक्षण बताया गया है।[२] व्याख्याप्रज्ञप्ति में यहाँ तक कहा है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम आदि धर्म आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणमन नहीं करते।[३] कहने का अभिप्राय यह है कि पुरुषकार करने में मात्र जीव ही समर्थ हैं। जीव अपने आत्मभाव की अभिव्यक्ति पुरुषकार के माध्यम से ही करता है।[४] अभिव्यक्ति ही नहीं जीवशब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श गति, स्थिति, लावण्य, यशः कीर्ति के साथ उत्थान, कर्म, बल, पुरुषकार पराक्रम का अनुभव भी करता है।[५]

जीव के लक्षण के अतिरिक्त पुरुषार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भी आगम में चर्चा प्राप्त होती है। गणधर गौतम द्वारा पुरुषकार के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर फरमाते हैं- ''उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तं चेव जाव अफासे पन्नत्ते''[६] उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरूषकार पराक्रम सभी जीव के उपयोग विशेष है, इस कारण अमूर्त होने से वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से रहित हैं। पुरुषार्थ का यह विश्लेषित स्वरूप है, जिसमें पुरुषार्थ के अंतर्गत उठने वाले एक-एक कदम को नामांकित किया गया है। यथा-

उत्थान - आत्म-पौरुष की उद्यतता एवं तत्परता

कर्म- आत्म-पौरुष के साथ की जाने वाली क्रिया

बल- क्रिया में आत्म-शक्ति का प्रयोग

वीर्य- आत्मशक्ति का प्रेरक रूप, जो सामर्थ्य का अनुभव करता है।

पुरुषकार/ पराक्रम- प्रयत्नपूर्वक आत्मपौरुष का प्रयोग।

राग-द्वेष के निमित्त से की गई उत्थान आदि प्रवृत्तियाँ 'पुरुषार्थ' तो कही जाती हैं, किन्तु

वे सम्यक् पुरुषार्थ अथवा धर्म पुरुषार्थ में सम्मिलित नहीं की जाती। उनका समावेश काम और अर्थ पुरुषार्थ में होता है। यद्यपि अर्थ और काम भी जैनदर्शन के अनुसार उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम स्वरूप पुरुषार्थ की अपेक्षा रखते हैं, तथापि उनमें किया गया उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पराक्रम भगवान् महावीर का उपदेष्टव्य नहीं है। इसलिए प्रसंगतः कहीं अर्थ और काम पुरुषार्थ के रूप में पुरुषकार की यत् किंचित चर्चा भले ही आ जाए, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति में उनके सहयोगी न होने के कारण जैनदर्शन में धर्म पुरुषार्थ का ही विशेष महत्त्व है।

जैनदर्शन के गहन अध्येता पं. चैनसुखदास ने अनेक ग्रन्थों के आलोडन के पश्चात् अपने ग्रन्थ 'जैनदर्शनसार' में स्पष्ट कहा है- ''आत्मनः परमहितप्रतिपादनं जैनदर्शनस्य प्रयोजनं, तस्य परमहितं तु मोक्षः''[७] अर्थात् आत्मा के परमहित का प्रतिपादन जैनदर्शन का प्रयोजन है, आत्मा का परमहित मोक्ष प्राप्ति में है। इस पर 'अवन्तिका' टीका करते हुए डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा लिखते हैं- ''पुरुष जिसे चाहता है उसे पुरुषार्थ कहते हैं। समस्त प्राणी उत्कृष्ट सुख की चाहना करते हैं। धर्म, अर्थ तथा काम साक्षात् सुख न होकर सुख के साधन हैं और मोक्ष साक्षात् सुखस्वरूप है, अतः वही परम पुरुषार्थ है।[८]

मोक्ष में आत्मा के परमहित को अनुभूत कर ही भगवान् महावीर ने संयम में पराक्रम करने पर बल दिया। आज इस अनुभूति के अभाव के कारण ही मानव मोक्षोन्मुखी नहीं हो पा रहा है। यह प्रथम शताब्दी में रचित समयसार की निम्नांकित गाथा से पुष्ट होता है-

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि काम भोगबन्धकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।[९]

काम, भोग और बंध की कथा तो संपूर्ण लोक ने बहुत बार सुनी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है और उनका अनुभव भी किया है, क्योंकि वह सर्वसुलभ है। परन्तु पर से भिन्न और स्व से अभिन्न आत्मा की कथा न कभी सुनी है, न उसका कभी परिचय प्राप्त किया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है, क्योंकि वह सुलभ नहीं है।

काम शब्द से तात्पर्य स्पर्शन और रसनेन्द्रिय का विषय तथा 'भोग' से घ्राण चक्षु एवं श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है। इस प्रकार काम-भोग कथा का अर्थ पंचेन्द्रिय विषयों की कथा से लिया जाता है।[१०] बंध का अभिप्राय प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाग-बंध तथा उसके फल में प्राप्त होने वाली नरकादि रूप चतुर्गति भ्रमण है।[११]

इस लोक में समस्त जीव विषयों की तृष्णा रूपी दाह से पीड़ित हैं और उस दाह का शमन इन्द्रियों के रूपादि को परस्पर विषयों का ही उपदेश करते हैं। वे विषय- कषाय की चतुराई एक-दूसरे को बताते हैं, सिखाते हैं। पिता पुत्र को समझाता है कि पैसे कैसे कमाना, कैसे भोगना और पुत्र पिता को कहता है कि अब जमाना बदल गया है, पुरानी ईमान-धर्म की बातें अब नहीं चल सकतीं। अब तो खाओ- पीओ और मौज-उड़ाओ- इसी में सार है।

इस प्रकार सभी अज्ञानी एक-दूसरे को भोग भोगने की प्रेरणा देते हैं। अतः काम, भोग और बंध की कथा जगत् में सर्वत्र सुलभ है, किन्तु आत्मा की कथा अत्यन्त दुर्लभ है,

क्योंकि उसको अनुभूत करने वाले इस जगत् में अत्यन्त अल्प जन हैं। संयोगवश आत्मा के स्वरूप को भलीभांति जानने वाले ज्ञानीजन मिल भी जाएं तो जीव उनका समागम नहीं करता, उनसे कुछ सीखने-समझने की कोशिश नहीं करता, यदि आगे होकर भी वे कुछ सुनायें-समझायें तो उनकी बात पर ध्यान ही नहीं देता, इसलिए अनन्तकाल से संसार में भटक रहा है।[१२]

अनन्त काल से जीव, संसार में संसरण मिथ्यात्व के कारण करता है। मिथ्यात्व अर्थात् अज्ञानता। प्रश्न उठता है अज्ञानता क्या है ? अज्ञानता पर-पदार्थो को इष्ट या अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना है। जीव स्व को विस्मृत कर पर में ही लगा रहता है। पर-पदार्थो में जो अनुकूल लगता है उसमें इष्ट की कल्पना कर राग कर लेता है और जो प्रतिकूल लगता है उसमें अनिष्ट की कल्पना कर द्वेष कर लेता है। इष्ट- अनिष्टत्व पदार्थ का कोई गुण-धर्म नहीं है, मात्र जीव की कल्पना है, उसके पूर्व अनुभूत संस्कार हैं। यदि इष्ट-अनिष्टत्व वस्तु का गुण धर्म होता तो कोई एक वस्तु सबको इष्ट ही लगनी चाहिये और एक सबको अनिष्ट ही लगनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता, यहां तक कि एक ही वस्तु एक व्यक्ति को कभी इष्ट और कभी अनिष्ट मालूम हो सकती है। जैसे भूख लगने पर प्रिय लगने वाला सुस्वादु भोजन भूख-शमन होने पर अनिष्ट लगता है। अतः इष्ट अनिष्टत्व जीव की झूठी कल्पनाएँ हैं। सर्वत्र सुख-दुःख का अथवा कषाय का कारण, वस्तु या स्थिति नहीं वरन् जीव कृत संकल्प-विकल्प हैं। यदि जीव चाहे तो इष्ट विकल्प को चुनकर स्वयं को सुखी बना ले और अनिष्ट का चयनकर दुःखी हो जाए। सुख-दुःख से परे वास्तविक आनन्द तो निर्विकल्प होने में है, जहाँ न किसी स्थित विशेष के प्रति राग है और न द्वेष। यह स्थिति अभ्यास के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।[१३]

हम पल-पल उलझे हैं या तो भूतकाल में घटी घटनाओं की स्मृति में या भविष्य की योजनाओं, इच्छाओं व चिंताओं में या फिर अन्य अनेक ऊल-जलूल विचारों में। ये विचार या विकल्प किसी भी रूप में सार्थक नहीं, वर्तमान में ये अशान्ति देकर जाते हैं और भविष्य के लिए कर्म-बन्धन। मोक्ष-प्राप्ति के लक्ष्य में सर्वप्रथम हमें इन विकल्पों की निरर्थकता को समझकर निर्विकल्प बनने का प्रयत्न करना होगा। इस निर्विकल्पता को लक्ष्य में रखकर ही पुरुषार्थ के लिए आगम वचन कहे गए हैं। यथा-

''अणुसासाणमेव परक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेदियं'' - सूत्रकृतांग, १.२.१.९९

जिनेश्वर के द्वारा निरूपित अनुशासन में पराक्रम करो।

''बुजिझज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया''- सूत्रकृतांग, १.१.१.१.

बन्धन को जानकर, बंधन को तोड़ो।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य- उत्तराध्ययन, २०.३७

आत्मा ही सुख और दुःख का कर्त्ता है तथा यही विकर्त्ता अर्थात् नाश करने वाला है।

पासिय आतुरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए- आचारांग १.३.१ सूत्र ०८१

पीड़ित प्राणियों को देखकर तू अप्रमादी होकर गमन कर।

समयं गोयम! मा पमायए- उत्तराध्ययन, अध्याय १०

है गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

उपर्युक्त सभी आगम-वाक्य निर्विकल्प बनने का संदेश दे रहे हैं। जब तक संकल्प-विकल्प रहेंगे तब तक अप्रमत्त अवस्था संभव नहीं है। अप्रमत्त हुए बिना कर्म-विनाश और संयम में पराक्रम नहीं हो सकता। निर्विकल्प होकर ही कर्मबन्धन को समझा जा सकता है और तोड़ा जा सकता है। अतः मोक्ष की सीढ़ी का यह महत्त्वपूर्ण सोपान है।

मोक्षमार्ग के रूप में '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' सूत्र प्रतिपादित है। अतः सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र हेतु कृतपुरुषार्थ का ही जीवन में महत्त्व है। पंच महाव्रतों का पालन पांच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप अष्ट प्रवचन माता का आराधन तथा जीवन पर्यन्त तीन करण-तीन योग से सामायिक की साधना धर्म-पुरुषार्थ का उत्कृष्ट रूप है। साधुओं के आचार पक्ष को लें तो वह पूर्ण रूप से धर्म-पुरूषार्थ को प्रतिबिम्बित करता है। जैन साधु-साध्वी वाहनों का उपयोग नहीं करते, पदयात्रा करते हैं। स्वाध्याय और ध्यान ही उनकी दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं। आहार आदि की गवेषणा वे शरीर-यात्रा के लिए एवं संयम पालन में सुकरता के लिए करते हैं। प्रत्येक क्रिया में उनका विवेक जागृत रहना आवश्यक माना जाता है। किस प्रकार बोलना, जिस प्रकार वस्तुओं को उठाना और रखना तथा शौचादि के लिए किस प्रकार नियमों का पालन करना, सबका साध्वाचार में प्रतिपादन हुआ है।

जीवों में भव्यत्व रूपी योग्यता भी बिना साधना के फलित नहीं होती। यही कारण है कि भव्यत्व स्वभाव वाले जीवों को भी पुरुषार्थ के बिना, न सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और न ही केवलज्ञान आदि की। जीवों के पुरुषार्थ के विभिन्न रूप जैन साहित्य में प्रतिपादित हैं। यथा-

संयम में पराक्रम :

उत्तराध्ययन सूत्र में चार दुर्लभ अंग चतुष्टय का वर्णन प्राप्त होता है- चत्तारि- परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो। माणुसत्तं सुई सद्धा संजममि य वीरियं।।[१४]

१. मनुष्यत्व २. धर्म-श्रवण ३. धर्म-श्रद्धान ४. संयम में पराक्रम- ये चारों जीव को दुर्लभता से प्राप्त हाकेते हैं। इसी अध्ययन में दुर्लभ चतुष्टय में भी संयम में पराक्रम को सबसे दुष्कर प्रतिपादित किया गया है।[१५] जिससे संयम में पराक्रम का महत्व जैन दृष्टि से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। संयम में पराक्रम का फल अनास्रव के रूप में जीव को प्राप्त होता है।[१५]

संयम के स्थानांग सूत्र में चार प्रकार हैं- मन-संयम, वचन-संयम, काय-संयम और उपकरण-संयम।[१६] संयम के ये प्रकार पुरुषार्थ की व्यापकता को निरूपित कर रहे हैं। संयम में पराक्रम के लिए भगवान् ने अनेक स्थान पर पराक्रम का उपदेश देते हुए कहा है-

पुरिसा। परमचक्खू! विपरिक्कम।[१८]

परिग्रह- त्याग के परिप्रेक्ष्य में कहा है- हे परमचक्षुषमान् पुरुष! तू पराक्रम कर।

तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिते सदा जते।[१९]

मुनि सदा अविमना, प्रसन्नमना, स्वारत, समित, सहित, वीर होकर संयमन करे।

जाणित्तु दुक्खं पत्तेय सातं....... आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।[२०]

प्रत्येक प्राणी का सुख और दुःख अपना-अपना है, इसलिए जब श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय की प्रज्ञान शक्ति हीन नहीं हुई है तब तक आत्महित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्न करना चाहिये।

चारित्र धर्म : पुरुषार्थ का द्योतक -

स्थानांग सूत्र में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के रूप में दो प्रकार के धर्म प्रतिपादित हुए हैं- ''दुविहे धम्मे पण्णत्ते तंजहा-सुयधम्मे चेव, चरित्त धम्मे चेय''[२१] श्रुतधर्म ज्ञान का तथा चारित्र धर्म आचरण का द्योतक है। यह चारित्र धर्म पुरुषार्थ या पुरुषकार को ख्यापित करता है। चारित्र धर्म की सत्प्रेरणा देते हुए उत्तराध्ययन में कहा है-

किरियं च रोयए धीरे, अकीरियं परिवज्जए।

दिट्ठीए दिट्ठी- सम्पन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं।।[२२]

क्रिया अर्थात् सदाचरण में रुचि रखो और अक्रिया का त्याग करो। सम्यक् दृष्टि पूर्वक दुश्चर धर्म का आचरण करो।

परीषह- जय में पुरुषार्थ -

जैनधर्म में परीषहों को सहने का जो उपदेश दिया गया है, उसमें भी साधक के पुरुषार्थ का ही पक्ष प्रकट होता है। साधु के लिए २२ परीषह बताए गये हैं। जिनमें कुछ अनुकूल परीषह हैं और कुछ प्रतिकूल। दोनों ही प्रकार के परीषह साधक को साधना से डिगा सकते हैं। किन्तु जो इन परीषहों के उपस्थित होने पर समभाव पूर्वक आत्म-पौरूष (पुरुषार्थ) का प्रयोग करता है।[२३] वह पूर्वबद्ध कर्मों की तीव्रता से निर्जरा करता है। देव, मनुष्य और तिर्यंच के द्वारा उपसर्ग दिए जाने पर भी साधु समत्व भावों का त्याग नहीं करता है तो वह निरन्तर मोक्ष-मार्ग में पराक्रम करता है।[२४]

वीर्य के रूप में पुरुषार्थ -

प्रत्येक जीव में पुरूषार्थ पराक्रम का वाचक वीर्य होता है। सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें 'वीर्य' अध्ययन में बाल-वीर्य और पण्डित वीर्य का विवेचन है। प्रमाद युक्त कर्म को बाल वीर्य तथा अप्रमादयुक्त अकर्म अथवा संयम-स्वरूप पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है।[२५] प्राणघातक, कषाय और राग-द्वेष को बढ़ाने वाले, पापजन्य जितने भी पराक्रम हैं, वे सभी सकर्मवीर्य या बालवीर्य हैं। अकर्म वीर्य में अध्यात्म बल (धर्मध्यानादि) से समस्त पाप प्रवृत्तियों, मन और इन्द्रियों को, दुष्ट अध्यवसायों तथा भाषा के दोषों को रोकने की प्रवृत्तियाँ समाहित हैं।

सम्यक्त्व पराक्रम : उत्तराध्ययन का एक अध्ययन –

उत्तराध्ययन सूत्र का 'सम्यक्त्व पराक्रम'[२६]धर्मश्रद्धा, संवेग-निर्वेद, गुरु-शुश्रूषा, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, प्रतिलेखना, प्रायश्चित, क्षमापना, स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा, श्रुताराधना मन की एकाग्रता, संयम, तप, प्रत्याख्यान, वैयावृत्य, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, इन्द्रियनिग्रह, क्रोध-विजय, मान-विजय, माया-विजय, लोभ-विजय आदि साधनाओं के रूप में करणीय है। इस अध्ययन में साधना के इन विविध पहलुओं का लाभ भी बताया गया है, जिससे कोई भी साधना में प्रवृत्त हो सकता है।

तप के रूप में पुरुषार्थ –

जैनदर्शन में आत्म-पुरुषार्थ का सबसे सुन्दर निदर्शन तप साधना है। पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने का यह अमोघ उपाय है। प्रायः भारतीय संस्कृति में यह माना जाता है कि कर्मों का फल भोग किये बिना उनसे मुक्ति नहीं मिलती। किन्तु, जैनदर्शन में पूर्वबद्ध कर्मों के यथाकाल उदय से पूर्व भी उदीरणा करके क्षय किया जा सकता है। कुछ कर्मों की स्थिति को कम किया जा सकता है उनकी फलदान शक्ति को अल्प किया जा सकता है। तपः साधना का इस सम्बन्ध में जैनदर्शन में अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है– ''भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई''[२७] अर्थात् करोड़ों भवों में संचित कर्मों को तप के द्वारा निर्जरित किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ जीव की अनन्त शक्ति को जागृत करने में समर्थ है। पुरुषार्थ से ही कोई केवलज्ञानी बन सकता है और अष्ट कर्मों से रहित होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन सकता है।

पराक्रम का एक रूप : अप्रमत्तता –

आगमों में पदे-पदे जीव को प्रमाद रहित होने का ही उपदेश दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में भगवान् ने अपने प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को बार-बार कहा– 'समयं गोयम ! मा पमायए' अर्थात् हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत करो। यह संदेश इस बात का सूचक है कि जीव को सदैव सजग रहकर कर्म-क्षय के लिए उद्यत रहना चाहिये। जीवन क्षणभंगुर है, अतः उसका उपयोग पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय में करना ही मेधावी पुरुष का लक्षण है।

आचारांग सूत्र में अप्रमत्त होकर आत्मसाधना में संलग्न रहने का उपदेश दिया गया है– ''पमत्तस्स अत्थि भयं, अपमत्तस्सनत्थि भयं'' अर्थात् जो प्रमाद युक्त है उसको भय है एवं जो अप्रमत्त है उसको किसी प्रकार का भय नहीं है।

संवर एवं निर्जरा में पुरुषार्थ की उपयोगिता –

नवीन कर्म का बन्ध न करने में मानव का वर्तमान पुरुषार्थ अत्यन्त उपयोगी है। वह चाहे तो संयम की साधना के साथ आस्रव के निरोध रूप संवर का आराधन कर सकता है। पूर्वबद्ध कर्म यथाकाल उदय में आते हैं। किन्तु जो उनके उदयकाल में राग-द्वेष से रहित होकर समभाव का अभ्यास करता है वह नवीन कर्मों के बंध को न्यून कर सकता है। यही

नहीं पूर्वबद्ध कर्मों को संयम और तप की साधना के द्वारा निर्जरित भी कर सकता है। संवर और निर्जरा की साधना मोक्ष की प्राप्ति में प्रमुख कारण है। इस साधना में अन्य कारणों के साथ जीव का पुरुषार्थ प्रधान कारण है। यही भगवान् महावीर के उपदेशों का सार भी है। अपने अशुभ भावों को शुभ में परिणत करने का कार्य आत्म-पुरुषार्थ के बिना संभव नहीं है।

कर्मसिद्धान्त में पुरुषार्थ का स्थान -

पुरुषार्थ से बद्ध कर्मों में भी परिवर्तन संभव है। यह परिवर्तन कर्म की निम्न अवस्थाओं में माना जाता है- उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और संक्रमण। उद्वर्तना का अर्थ है- कर्मों की स्थिति में वृद्धि और अनुभाग में तीव्रता लाना। अपवर्तना में कर्मो की स्थिति कम हो जाती है और विपाक मन्द पड़ जाते हैं। उदीरणा के द्वारा व्यक्ति बाद में उदय में आने वाले कर्मों को खींचकर समय से पहले ही उदय में लाकर खपा देता है। ये तीनों अवस्थाएँ जैन दर्शन में पुरुषार्थ को प्रतिपादित करती है। पुरुषार्थ द्वारा कर्मपरिवर्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है- संक्रमण। संक्रमण से अभिप्राय है कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर परिवर्तन। ये चारों अवस्थाएं जीव के पुरुषार्थ की द्योतक हैं।[२८]

उपर्युक्त विवेचित पुरुषार्थ के विभिन्न रूपों से यह सुस्पस्ट है कि जैनदर्शन में धर्म-पुरुषार्थ की प्रमुखता है और वही मोक्ष का साधन है।

जैनदर्शन में कारण-कार्य सिद्धान्त में भी पुरुषार्थ की महत्त्व दिया गया है। सिद्धसेनसूरि ने काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (कर्म) एवं पुरुष के समुदाय को कार्य की उत्पत्ति में कारण स्वीकार किया है। जैनदर्शन में ये पांचों कारण उत्तरकाल में पंचकारणसमवाय अथवा पंचसमवाय के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पंचकारण समवाय में हरिभद्र ने 'पुरिसे' शब्द के स्थान पर 'परिस किरियाओ' पद का प्रयोग किया है, जो पुरुषार्थ या पराक्रम का द्योतक है। इसका तात्पर्य है कि पुरुष अर्थात् आत्मा या जीव की क्रियाएं या कार्य ही जैनदर्शन के कारणवाद के संदर्भ में अभीष्ट हैं। उपासकदशांग में नियतिवाद का खण्डन करते हुए भगवान् महावीर ने कुम्भकार शकडाल के समक्ष स्पष्ट रूप से उत्थान, कर्म, बल, वीर्य स्वरूप पुरुषार्थ का महत्व स्पष्ट किया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में भी इनका उल्लेख हुआ है। अतः जैनदार्शनिकों ने पुरुषवाद का निरसन करके पुरुषकार या पुरुषार्थ को महत्त्व दिया है।[२९]

जैन साधना पद्धति में पुरूष-क्रिया या पराक्रम का विशेष स्थान है। चारित्र धर्म हो या तप का आचरण सर्वत्र आत्म-पुरूषार्थ अपेक्षित है। संवर एवं निर्जरा की समस्त साधना में आत्म-उद्यम रूप पुरुषार्थ अपेक्षित है। पुरुषकार तो जीव का लक्षण भी है जो मोक्ष का भी साधन है। वीर्य का प्रतिपादन हो या संयम में पराक्रम का, साधना में अप्रमत्तता का विवेचन हो या परीषह-जय का, अपवर्तन करण का प्रसंग हो या संक्रमण करण का, सर्वत्र जैनदर्शन में आत्मपौरुष रूप पुरुषार्थ का महत्त्व स्थापित है।

संदर्भ सूची :

१. ज्ञानार्णव ३.४ उद्धृत जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग तृतीय, पृष्ठ ७०
२. णाणं च दंसणं चेव चरितं च तवो तहा।

वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं।। - उत्तराध्ययन २८.११

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २०.३.१ ४. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २.१०.९

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, १४.५ सूत्र १० से २० ६. व्याख्याप्रज्ञप्ति १२.५.११

७. जैनदर्शनसार, प्रथम अध्याय

८. जैनदर्शनसार (अवन्तिका टीका समन्वित), डॉ. नरेन्द्र कुमार शर्मा, हंसा प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ ५

९. समयसार १.४

१०. कामशब्देन संपशनरसनेन्द्रियद्वयं भोग शब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बन्धः सम्बन्धस्तस्य कथा (-समयसार १.४, जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्त्रि टीका)

११. बन्धशब्देन प्रकृति स्थित्यनु भागप्रदेशबन्धास्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भव्यते। समयसार १.४ जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका।

१२. द्रष्टव्य समयसार अनुशीलन, भाग-१, डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत १.४ की व्याख्या।

१३. द्रष्टव्य समयसार कलश, वीर सेवा मंदिर, २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२ के बाबू लाल जैन की प्रस्तावना

१४. उत्तराध्ययन ३.१

१५. सुइं चं लद्धं सुद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं- उत्तराध्ययन ३.१०

१६. से णं भंते। संजमे किं फले? - अणण्हयफले- स्थानांग सूत्र ३.३.४१८

१७. स्थानांग सूत्र ४.२.३५१ १८. आचारांग, १५.२.१५५ १९. आचारांग, १.४.४.१४३

२०. आचारांग, १.२.१.६८ २१. आचारांग, २.१.१०७ २२. उत्तराध्ययन, १८.३३

२३. सूत्रकृतांग १.२.१.१३ २४. सूत्रकृतांग १.२.२.१५

२५. पमायं कम्माहंसु, अप्पमायं तहावरं। तब्भावादेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा।। सूत्रकृतांग १.८.३

२६. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २९ २७. उत्तराध्ययन सूत्र? ३०.६

२८. अधिक विस्तार के लिए द्रष्टव्य- ''जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण' - डॉ. श्वेता जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, पृ.५११

२९. अधिक विस्तार के लिए द्रष्टव्य- ''जैनदर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण' पुस्तक का षष्ठम अध्याय।

- अतिथि अध्यापक,
संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

जैन चर्या में अहिंसकाहार

- सतेन्द्रकुमार जैन

प्राचीन काल से ऋषि मुनियों के आहार के विषय में जहाँ स्वयं को संयमित रखकर आहार ग्रहण करने को बल दिया है, वहीं समूचे प्राणियों को आहार के विषय में ज्ञान करा कर जीव जाति पर उपकार किया है। जैन मुनियों की आहार चर्या तो विश्व के समूचे संतों की आहार में श्रेष्ठ आहार चर्या कही जाती है। जैन संतों ने भोजन की शुद्धता के लिए श्रावकों को यथोचित निर्देश दिये हैं। श्रावक इस प्रकार के आहार का उपयोग करें जिससे स्वास्थ्य व धर्म दोनों सुरक्षित रहें। वैसे तो जैन आहार संहिता में भक्ष्याभक्ष्य का विवेक तो रखा गया है परन्तु आहार शुद्धि में वस्तु भक्ष्य होने के बाद भी किस प्रकार के उपयोग में लेना चाहिए, इसका भी विचार किया गया है। आचार्य उमास्वामी जी ने अहिंसा व्रत की भावनाओं का वर्णन करते हुए कहा है कि ऐसा भोजन शुद्ध है जो भक्ष्य सूर्यप्रकाश में बनाया गया हो तथा सूर्य प्रकाश में यही ग्रहण किया गया हो। इसे आलोकित पान भोजन के नाम से ग्रहण किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त ऐसे आहार को ग्रहण करने के लिए भी मना किया है जो अधिक हिंसा करके अथवा चोरी करके लाया गया हो क्योंकि ऐसा आहार मन को विकृत करता है तथा मन में चोरी आदि पाप करने के भाव उत्पन्न करता है इसलिए कहा गया है कि **जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी।**

आहार का स्वरूप :

प्रत्येक प्राणी के जीवन में चार संज्ञाएँ पाई जाती हैं। जिसमें से आहार संज्ञा जीवन जीने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। बिना आहार के जीवन की सभी क्रियाएं निरर्थक हो जाती हैं। आहार प्राणी के शरीर में स्फूर्ति, बलिष्ठा तथा शारीरिक क्षमता को बनाये रखता है। आहार शब्द की निष्पत्ति आङ् उपसर्ग हृ धातु से घञ् प्रत्यय लगने से हुई है, जिसका अर्थ लाना या भोजन करना है। आहार से विचारों में परिपक्वता आती है। श्रेष्ठ आहार श्रेष्ठ विचारों को जन्म देता है। **आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धौ** यह सूत्र इस बात को उद्घोषित करता है कि भोजन की शुद्धि से जीव की शुद्धि होती है। गाली और गीत का सम्बन्ध भोजन से ही है। भोजन से ही भजन और भंजन की भूमिका तैयार होती है। इसलिए हमें अपने भोजन के लिए सिर्फ पेट भरने वाला भोजन नहीं मानना चाहिए। खानपान का सीधा सम्बन्ध शरीर से होता है, शरीर का संबन्ध मन और स्वास्थ्य से होता है। मन का संबन्ध विचारों और भावों से होता है और भावों का संबन्ध पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, न्याय-अन्याय, सुख-दुःख, शांति-अशांति और संसार-मोक्ष से होता है। इसलिए प्राणियों को ऐसा आहार ग्रहण करना चाहिए जो मन को आनन्दित करें,

शरीर की पाचन शक्ति को बढ़ाऐं, सातों धातुओं में शीघ्रता से परिवर्तित हो जाए तथा रोग निरोधक क्षमता में वृद्धि कराये।

आहार के प्रकार –

प्रत्येक प्राणी अपने शरीर के योग्य आहार ग्रहण करता है। इस कारण आहार को दो भागों में विभाजित किया गया है। **शाकाहार, माँसाहार।**

(१) शाकाहार – जैन आचार संहिता में दो प्रकार के संसारी जीवों का वर्णन प्राप्त होता है। जिनमें स्थावर जीव और त्रस जीव। एकेन्द्रिय आदि पंच प्रकार के स्थावर जीव परिगणित किये जाते हैं जिनमें वनस्पतिकायिक जीवों को शाकाहारी आहार की श्रेणी में रखा गया है। इस शाकाहारी आहार को भी खाद्य, लेय, पेय, स्वाद्य इन चार भागों में बांटा जा सकता है। तथा भोजन की दृष्टि से देखा जाए तो वनस्पति को हम निम्न प्रकार से भी उपयोग में लेते हैं।

पत्तियाँ– शाकाहारी खाद्य पदार्थों में व्यक्ति वृक्ष की पत्तियों का प्रयोग भी करता है। जिसमें पालक, मैथी इत्यादि पत्तियां प्रमुख हैं। वृक्ष की पत्तियों का प्रयोग जहां सामान्य जीवन में उपयोगी है वहीं आयुर्वेद में भी इनकी उतनी है महत्ता है।

फल– फल मानव जीवन में मानव के शरीर में अधिक पौष्टिकता तथा गुणकारी प्रोट्रीनों की पूर्ति करते हैं।

सब्जी– सब्जी मानव के आहार का प्रमुख खाद्य पदार्थ है इसके बिना भोजन नीरस तथा स्वाद रहित महसूस होता है इसके खाने से मानव के शरीर में प्रोट्रीनों की पूर्ति होती है।

दलहन– सब्जी के साथ स्वाद बढ़ाने के लिए दलहन का बहुतायत से प्रयोग होता है।

जमीकंद– कुछ परिवारों में जमीकंद भी प्रयोग में लिये जाते हैं जिनमें आलू, गाजर, मूली, शकरकंद इत्यादि प्रमुख हैं।

जीवोत्पादक पदार्थ– शाकाहारी प्राणियों के लिए जीवोत्पादक शाकाहारी दूध, दही, मिष्ठान्न आदि भी ग्राह्य है।

रस– मानव शरीर के अवशिष्ट पदार्थों की पूर्ति के लिए रस अत्यावश्यक पदार्थ माना गया है।

(२) माँसाहार –

जैनधर्म में स्थावर जीवों के अतिरिक्त जीव त्रस, जीव कहलाते हैं। जिसमें दो इन्द्रिय लट आदि, त्रीन्द्रिय चींटी आदि, चतुंन्द्रिय भौंरा, मक्खी, मच्छर आदि, पंचेन्द्रिय जीव मानव तिर्यञ्च आदि जीवों के शरीर का भक्षण करना मांसाहार की कोटि में आता है। दूसरे प्राणियों के शरीर से उत्पन्न होने वाला जो पदार्थ मांस की कोटि में आता है वह मांसाहार कहलाता है।

मांसाहार एवं शाकाहार में अन्तर–

१. जो ऊर्जा एक किलों मांस में मिलती है वही ऊर्जा १०० ग्राम मैथी के पत्तों में मिलती है।

२. शाकाहारी दलहनों में मांस या अण्डों की अपेक्षा प्रोट्रीन का प्रतिशत अधिक है।

३. शाकाहारी भोजन में मांसाहारी भोजन से अधिक चर्बी बनाने की क्षमता है।

४. शाकाहारी भोजन मांसाहारी भोजन की अपेक्षा अधिक सुपाच्य है।

५. शरीर के लिए अधिक धातुओं की पूर्ति मांसाहार भोजन की अपेक्षा शाकाहारी भोजन करता है।

६. मानव मांसाहारी भोजन की अपेक्षा शाकाहारी भोजन में अधिक स्वस्थ रहता है।

७. शाकाहार मंदकषाय है तो मांसाहार तीव्र कषाय है।

८. शाकाहारी में संघर्ष करने की क्षमता मांसाहारी प्राणी से अधिक होती है।

इन कारणों के अतिरिक्त और भी कारण है, शरीर संरचनानुसार प्रत्येक प्राणी के भोजन का समय और प्रकार निर्धारित किया गया है।

शाकाहारी प्राणियों की शरीर संरचनानुसार मानव शरीर की रचना होती है। अतः जैसे शाकाहारी पशुपक्षी शाम को ही अपने गंतव्य स्थान पर जाकर समस्त क्रिया कलाप बन्द करके विश्राम करते हैं वैसे ही मनुष्यों को अपने भोजनादि क्रिया कलापों को बंद रखना चाहिए।

अहिंसकाहार- आहार की प्रकारों से यह तो स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि मांसाहार अहिंसकाहार की श्रेणी में नहीं आता परन्तु शाकाहारी वस्तुओं को भी जैन चर्या में पूर्ण रूप से अहिंसकाहार का अंग स्वीकार नहीं करती है। जिनमें जमीकंद, चलितरस, अभक्ष्य पदार्थ, त्रसहिंसाकारक फल एवं वनस्पतियां, बहु स्थावर हिंसाकारक वस्तुओं को अहिंसकाहार में परिगणित नहीं किया गया है। जिनका वर्णन आगे किया गया है।

इन भेदों के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने आहार के अन्य भेद भी गिनाये हैं जो शाकाहार तथा मांसाहार दोनों की श्रेणी में आते हैं, ये तीन प्रकार के होते हैं **सात्विक, तामसिक, राजसिक आहार।**[२] इन तीन प्रकार के आहार में सात्विक, राजसिक आहार तो पूर्ण रूप से शाकाहारी है परन्तु तामसिक आहार में शाकाहारी तथा मांसाहारी दोनों आहारों को सम्मिलित किया गया है।

१. सात्विक आहार -

सात्विक आहार शाकाहारी प्राणियों का मूल आहार है। इसके बिना वह जीवित नहीं रह सकता। सात्विक आहार जहाँ प्राणियों की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है, वही उसके मस्तिष्क में सद्विचारों का संचार करता है तथा मानसिक व्यग्रता को दूर करता है। जैन आहार विशेषतया सात्विक भोजन के लिए प्रेरित करता है। जैन ऋषियों का कथन है कि जैसा अन्न वैसा मन अर्थात् मनुष्य जैसा भोजन करता है उसके अनुकूल ही मन पर प्रभाव पड़ता है। सात्विक भोजन अन्न पर आधारित है जैसे गेहूँ, जौ, चना, मक्का, बाजरा, चावल, मूँग, मोठ सब तरह की दालें, ताजा फल, हरी सब्जियाँ, घी, तेल का सेवन भी सात्विक आहार का हिस्सा है।

सात्विक आहार दीर्घ आयु देने वाला और विवेक, शारीरिक बल, आरोग्य, मन की शांति, परस्पर सामंजस्य, प्रेम-प्रीति बढ़ाने वाला होता है। इस आहार में एन्टी ऑक्सीजन का गुण होता है, जो शरीर में कैंसर की रोकथाम करता है। वृद्धावस्था में दिमागी निर्बलता से होने

वाली एलजीमरस बीमारी से बचने में यह सहयोगी होता है।

२. राजसिक आहार -

राजसी आहार शरीर में पेप्टिक अल्सर, आंतों का कैंसर, अपचन आदि बीमारियाँ पैदा करता है। अतः जैन मुनि इस आहार को लेने से मना करते हैं। इस आहार में कड़वे, खट्टे, लवण युक्त, गरिष्ठ भोजन, तले, भुने व्यंजन, ये सब राजसिक भोजन में आते हैं, जो खाने में अच्छे लगते हैं परन्तु इसमें पौष्टिक तत्त्वों का अभाव रहता है।

३. तामसिक आहार -

तामसिक आहार के लिए जैन ग्रंथों ने निषेध किया गया है। तामसिक आहार में चटपटा भोजन, बासी, जूठा, मांस, मच्छी, अण्डा, मदिरा आदि पदार्थ आते हैं। इन पदार्थों के उपयोग से मानव हिंसक, झगड़ालू, क्रोधित, परस्पर जलन की भावनाओं से पीड़ित रहता है। वैज्ञानिक खोजों से पता चलता है कि जानवर को जब काटा जाता है तो उसके मन के भाव जैसे डर, लालच, हिंसक प्रवृत्ति कटे हुए मांस में केमिकल्स के द्वारा चले जाते हैं और खाने वाले व्यक्ति पर यह केमिकल्स इसी तरह का प्रभाव छोड़ते हैं। तामसिक भोजन से गैस के रोग, अपन्डीसाइटिस, गस्ट्रोएन्ट्राइटिस आदि रोग पैदा होने का डर लहता है। रेड मांस आहार से १०० से अधिक रोग शरीर को ग्रसित कर सकते हैं। सात्विक, राजसिक और तामसिक आहार में भी चार भेद पाये जाते हैं। ये चार प्रकार खाद्य, लेय, पेय, स्वाद्य हैं। खाने योग्य पदार्थों को खाद्य, चाटने योग्य पदार्थों को लेय, पीने योग्य पदार्थों को पेय तथा चखने योग्य पदार्थों को स्वाद्य कहते हैं।

रात्रि भोजन अहिंसकाहार नहीं -

जैनधर्म में रात्रिभोजन के विषय में कहा है कि सूर्यकिरणों में भोजन करने के साथ-साथ रोशनी में बना भोजन ग्रहण करना चाहिए अन्यथा सूर्य किरणों के अभाव में बनाया गया भोजन, प्रोटीन आदि अवयव प्रदान नहीं कर पाते और वह भोजन भी रात्रि में भोजन करने के समान माना गया है। आचार्यों ने सूर्योदय के ४८ मिनिट बाद और सूर्यास्त के ४८ मिनट पहले के काल को छोड़कर शेष काल को रात्रि की संज्ञा दी है तथा इसमें भोजन करना रात्रिभोजन करना कहलाता है। रात्रिभोजन त्याग करके ही मानव प्रत्येक नई बीमारियों से बच सकता है, क्योंकि वह दिवा भोजन में बाहर से आ रहे जीव जन्तुओं से तो अपना भोजन का बचाव कर सकता है परन्तु रात को सूक्ष्म जीव नहीं दिखते जिनकी उत्पत्ति मात्र अंधकार में होती है और वे हमारे भोजन में आकर हमारे स्वास्थ्य को खराब कर जाते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जैनधर्म में रात्रिभोजन त्याग सिद्धांत के विषय में जो मन्तव्य प्राप्त होते हैं वहीं आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी रात्रिभोजन त्याग को स्वास्थ्य के लिए लाभदायक सिद्ध किया है। जैनधर्म में जहाँ अन्य जीवों की हिंसा के कारण रात्रिभोजन का निषेध किया है वही स्वास्थ्य ध्यान रखते हुए पं. आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में रात्रिभोजन से होने वाले दोषों के विषय में कहते हैं कि यदि रात्रिभोजी के शरीर के अन्दर भोजन के साथ जू का प्रवेश हो जाए तो जलोदर रोग, मकड़ी और छिपकली से कुष्ठरोग, मक्खी से वमन उल्टी, बिच्छू से

तालुगत रोग, कुण्टक नामक कीड़े से गले का रोग, बाल से स्वरभंग तथा जहरीले सर्प इत्यादि रात्रिभोजन के साथ शरीर में प्रवेश जो जाए मृत्यु तक हो जाती है।[३] प्राचीन समय में धार्मिक वातावरण के कारण आचार्यों ने धार्मिक कारणों को उपस्थित करके रात्रिभोजन का निषेध किया। परन्तु इन धार्मिक कारणों की पृष्ठभूमि में शारीरिक स्वास्थ्य और धार्मिक क्रियाएं दोनों का समावेश था क्योंकि व्यक्ति रात्रिभोजन के कारणों से अस्वस्थ हो जाता है तो वह जब तक स्वस्थ नहीं होगा तब तक उसका धार्मिक आचरण और क्रियाएं दोनों में अवरोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार रात्रिभोजन त्याग के विषय में आचार्य अमितगति जी ने अमितगति श्रावकाचार में कहा है कि जो पुरुष मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का परित्याग करके सदा ही दिन में भोजन करता है पाप से रहित उस पुरुष का रात्रि में भोजन के परित्याग से आधा जन्म उपवास के साथ व्यतीत होता है।[४]

इस प्रकार रात्रि में किये जाने वाले भोजन में अनेक प्रकार के जीव जन्तुओं की हिंसा होती है। जो धर्म, मानवता और स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुचित है, ऐसे भोजन की प्रक्रिया को अहिंसकाहार में परिगणित नहीं किया जा सकता।

योगों में अहिंसकाहार -

भारतीय दर्शनों विशेषतः जैनदर्शन में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को योग कहा है। योग की जितनी सूक्ष्मता से जैनदर्शन व्याख्या तथा पालन करने को कहता है उतना अन्य दर्शनों में अनुपलब्ध है। जैनदर्शन, योगों से अहिंसकाहार करने का उपदेश देता है।

मन से अहिंसकाहार-

जैनदर्शन कहता है कि किसी प्राणी को मन में हिंसकाहार के प्रति विचार नहीं करना चाहिए और यदि वह हिंसकाहार के प्रति अपने मन को लगाता है तो वह हिंसकाहार करने का भागीदार है। वह पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं कहला सकता। जैसे- जैनशास्त्रों में स्वयम्भूमरण द्वीप में रहने वाला महामत्स्य के कान में रहने वाला तण्डुल मत्स्य महामत्स्य के सोते रहने पर विचार करता है कि इस मूर्ख के सोते रहने पर सारी मछलियाँ मुख से बाहर जा रही हैं मैं होता तो एक भी मछली को नहीं जाने देता। इस प्रकार के मन में विचार करने से वह तण्डुल मत्स्य भी महामत्स्य के समान सातवें नरक में जाता है।

वचन से अहिंसकाहार -

वचन संबन्धी आहार में दोष के लिए उदाहरण आता है कि कोई व्यक्ति मांसाहार या तामसिक आहार कर रहा है और अहिंसकाहार का पालन करने वाला व्यक्ति उस हिंसकाहार की वचनों से प्रशंसा करता है तो वह भी हिंसकाहार में पाप का सहभागी होता है। इस कारण वचनों से भी हिंसकाहार की प्रशंसा नहीं करना चाहिए।

काय से अहिंसकाहार -

काय से अहिंसकाहार सर्वविदित है कि कोई भी व्यक्ति अपने शरीर के माध्यम से हिंसक वस्तुओं का सेवन करता है तो वह पाप का भागीदार तो है ही, परन्तु हिंसक वस्तुओं का सेवन अपने शरीर के माध्यम से किसीदूसरे व्यक्ति को कराता है तो भी वह अहिंसक

नहीं है। इसलिए अहिंसकाहार का पालन करने वाले को कृत, कारित, अनुमोदना तथा मन, वचन, काय इन नौ कोटियों से अहिंसकाहार को अपनाना चाहिए।

आहार की आवश्यकता –

प्रत्येक प्राणी को जीवन प्रिय तथा मरण अप्रिय लगता है। जीवन के लिए आवश्यक सामग्री में आहार प्रमुख है, क्योंकि आहार ही जीवों के विचार को परिवर्तित तथा परिवर्धित करता है, तथा आहार से जहां शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है वहीं मानसिक स्वास्थ्यता में भी लाभ होता है। हमारे शरीर के स्वस्थ निर्माण व विकास के लिए ८० प्रतिशत क्षारीय एवं २० प्रतिशत अम्लीय आहार की आवश्यकता होती है। इन तत्त्वों के समानुपात से जैन विद्युत चुम्बकीय जीवन शक्ति का निर्माण व संवर्धन होता है।[५] जो कि शुद्ध अहिंसक आहार से प्राप्त हो सकता है। शरीर के लिए प्राचीन काल से ही बलवर्धक आहार ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है। जहाँ मुनियों को आहार दान देने का निर्देश है वहीं आहार देते समय दाता को निर्देश दिया गया है कि वह साधुओं को गुणकारी, बलवर्धक तथा आरोग्यवर्धक आहार दान दे। अतः बलवर्धक आहार के लिए शास्त्र हिंसा रहित भोजन करने को कहते हैं।

आहार में आयुर्वेदाचार्यों ने किस महिने किस वस्तु का सेवन नहीं करना चाहिए इसके लिए निर्देश दिया है कि–

चैते गुड़, वैशाखे तेल, जेठे राई, आषाढ़े बेल,
सावन निब्बू, भादो मही, क्वार करेला, कार्तिक दही।
अगहन जीरा, पूसे धना, माघ मसूर, फागुन चना,
जो नर इन बारह को खाय, बिना निमंत्रण स्वर्गे जाय।[६]

जो व्यक्ति इस भक्ष्य पदार्थों को इन महिनों में सेवन करता है तो वह अस्वस्थ्य हो जाता है तथा इनका उक्त महिनों में सेवन नहीं करने वाले के घर वैद्य कभी नहीं आता।

आचार्यों ने जीवों को भक्ष्य पदार्थों में भी काल मर्यादा करने के बाद हमारे घरों में शाकाहारी अभक्ष्य वस्तुओं का आना प्रारंभ हो गया है। जिसे हम शाकाहारी वस्तुओं में गिन कर सेवन कर लेते हैं परन्तु वह वस्तु वस्तुतः नहीं खाने योग्य है।

आचार्य उमास्वामी जी ने पके हुए आहार में सावधानी बरतने का निर्देश देते हुए कहा है कि– ''**सचित्तसंबंध संमिश्राभिषव दुःपक्वाहार**''[७] अर्थात् जीवों से युक्त शाकाहारी पदार्थ, सचित्त संबन्धित भोजन, सचित्त जीवों से मिश्रित भोजन, प्रमादवर्धक भोजन तथा ठीक रीति से नहीं पके हुए अथवा दुबारा पकाये गये भोजन को व्रतियों को ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा सचित्त कमल आदि के पत्ते ढके गये भोजन, सचित्त पत्ते ढका गये भोजन को ग्रहण करना निषिद्ध माना है।

भक्ष्याभक्ष्य –

प्रकृति के पास देने के लिए सब कुछ है। खाने-पीने की सामग्री से लेकर रोजमर्रा की सभी आवश्यकताएं प्रकृति हमें देती है। हम प्रकृति के एक महत्त्वपूर्ण घटक हैं। इसलिए

प्रकृति का उतना ही भाग हमारे लिए है जितने से हम अपने जीवन यापन के लिए अनिवार्य सामाग्री की पूर्ति कर सकें। यदि हम अपनी आवश्यकताएं बढ़ाते हैं या चीजों को अनावश्यक संग्रह करके प्रकृति का अतिरिक्त दोहन करते हैं तो अंततः हम स्वयं को ही संकट में डालते हैं।

मोक्षमार्ग में यद्यपि अंतरंग परिणाम प्रधान है परन्तु उनका निमित्त होने के कारण भोजन में भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक है। मद्य, मांस, मधु व नवनीत तो हिंसा, मद व प्रमाद उत्पादक होने के कारण विकारी हैं ही, परन्तु पंच उदुम्बर फल कंदमूल, पत्र व पुष्प जाति की वनस्पतियाँ भी क्षुद्र त्रस जीवों की हिंसा के स्थान अथवा अनंतकायिक होने के कारण अभक्ष्य हैं। इनके अतिरिक्त बासी, रस चलित, स्वास्थ्य बाधक, अमर्यादित, संदिग्ध व अशोधित सभी प्रकार की खाद्य वस्तुएं अभक्ष्य हैं। दालों के साथ दूध व दही का संयोग होने पर विदल संज्ञानता अभक्ष्य हो जाता है। विवेकी जनों को इन सबका त्याग करके शुद्ध अन्न जल आदि का ही ग्रहण करना योग्य है।

अभक्ष्य का स्वरूप -

जो पदार्थ खाने योग्य नहीं होते उन्हें अखाद्य कहा जाता है।[8] हिंसाजन्य और दोषयुक्त पदार्थ भी अभक्ष्य कहलाते हैं। अभक्ष्य पांच प्रकार के हैं।[9]

१. त्रसघात कारक- जिन पदार्थों के सेवन में बहुत त्रस जीवों की हिंसा होती है ऐसे मांस, मदिरा, शहद, बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर, कमल की डंडी के समान पाले पदार्थ, घुना अन्न, अमर्यादित वस्तु, मुरब्बा, पुराना अचार, और द्विदल आदि के खाने से त्रसजीवों का घात होता है। अतः इन्हें त्रसकारक अभक्ष्य कहते हैं।

२. प्रमाद कारक- जिन पदार्थों के सेवन से नशा या मादकता उत्पन्न होती है जैसे शराब, गांजा, भांग, अफीम, चरस, कोकीन, बीड़ी, सिगरेट, गुटका, तम्बाकू, आदि पदार्थ प्रमादवर्धक कहलाते हैं।

३. बहु स्थावर हिंसाकारक- जिन पदार्थों के सेवन से फल थोड़ा मिलता है पर जीव हिंसा बहुत होती है ऐसे मूली, गाजर, आलू, मक्खन, फूलगोभी, उदम्बर फल आदि पदार्थ बहुघात नामक अभक्ष्य कहलाते हैं।

४. अनिष्टकारक- जिन पदार्थों के सेवन से शरीर में वात, पित्त, कफ आदि प्रकुपित हो एवं जिससे रक्त विकार आदि दोष उत्पन्न हों उन्हें अनिष्टकारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे- दमा के रोगी को दही, जुकाम के रोगी को शीतल पेय आदि पदार्थ या विष मिट्टी आदि पदार्थ।

५. अनुसेव्य- जो पदार्थ सज्जन, सात्विक पुरुषों के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं माने गये, ऐसे लार, कफ, जूठन, गोमूत्र, स्वमूत्र, शंखसीप आदि पदार्थ अनुसेव्य नामक अभक्ष्य कहलाते हैं।

इसके अलावा जैनधर्म में खाद्य पदार्थों की भी एक निश्चित काल मर्यादा बतायी गई है। उस मर्यादा या समय सीमा के बाद पदार्थ अखाद्य हो जाता है। विज्ञान के अनुसार खाद्य पदार्थ एक निश्चित अवधि के बाद सूक्ष्म जीवो के आक्रमण से दूषित होने लगता है।

जैन शास्त्र के अनुसार दवाओं की तरह खाद्य पदार्थ एक अवधि के पश्चात् खराब हो

जाते हैं और इन पदार्थों में शक्तिवर्धक गुण नष्ट हो जाते हैं और इनके प्रयोग से अनेक बीमारियों के उत्पन्न होने की संभावना बढ़ जाती है।

ऐसा माना गया है कि अष्टमी और चतुर्दशी को हरी सब्जियों का उपयोग नहीं करना चाहिये। मान्यता है कि चन्द्रमा की गति के फलस्वरूप अष्टमी और चतुर्दशी के दिन शरीर में पानी की मात्रा अधिक हो जाती है। हरी सब्जी में भी पानी भरपूर मात्रा में रहता है। अतः हरी सब्जियाँ खाने से शरीर में पानी की मात्रा अधिक हो जाती है जो दिल और गुर्दों पर हानिकारक प्रभाव डालती है। इसी दृष्टि से जैन वैज्ञानिकों ने कम से कम सप्ताह में एक दिन हरी सब्जी खाने के लिए निषेध किया है।

आहार बनाने योग्य स्थान -

प्राचीन काल से ही भगवत् भक्ति के पश्चात् भोजन बनाने के स्थान को पवित्रता का स्थान दिया गया है। मुनियों के साथ-साथ श्रावकों को भी शुद्ध स्थान पर आहार लेने का निर्देश दिया गया है, इसी कारण श्रावक अशुद्ध स्थान पर भोजनशाला का निर्माण नहीं कराता। जिस भूमि के नीचे हड्डियों, मांस, मदिरा का स्थान हो वहां निवास स्थान बनाने का निषेध किया है।[१०] भोजनशाला अलग से बनाना है तो वहां भी इस प्रकार की अशुद्धि नहीं होनी चाहिए। भूमि शोधन के बाद भूमि का वह हिस्सा जहां अग्नि का वास हो उस हिस्से में भोजनशाला का निर्माण करना चाहिए। उस हिस्से को जैनाचार्यों ने आग्नेय कोण कहा है। भोजनशाला के पास में शौचालय एवं लघुशंका का स्थान नहीं होना चाहिए। भोजनशाला उस शुद्ध स्थान में बनाना चाहिए जिसमें मांस, मद्य, मधु आदि का सेवन पूर्वकाल में भी न हुआ हो, कसाईखाना न हो अथवा पूर्व का बंदीगृह आदि न हो। यदि इन दोषों से युक्त भोजनशाला होती है, तो उस भोजनशाला में बना भोजन विषकारी, रोगवर्धक, शोकवर्धक तथा कलहकारी होता है। जिन व्यक्तियों के घरों में भोजनशाला का स्थान पवित्र होता है उनके घर में शान्ति होती है, मन स्थिर रहता है, पूज्यपुरुषों की मर्यादा पूर्ववत् सम्माननीय होती है तथा पूज्यपुरुषों का आधिपत्य उस घर पर सदा बना रहता है। परन्तु वर्तमान में भोजनशाला का स्थान होटलों एवं ढावों ने लिया है जिनके स्थान का कोई निर्धारण नहीं है यहाँ तक कि जिस शमशान भूमि में व्यक्ति को पानी पीने का निषेध किया गया है वहां आज व्यक्ति नाश्ता आदि करके भी अपने आप को धन्य मान रहा है इसे कलिकाल की बलिहारी ही कहेंगे। घर में भोजनशाला अथवा चौके की शुद्धि के लिए परिवार के पुरुषों से अधिक शुद्धता महिलाओं की होती है। महिलाएँ सर्वप्रथम शुद्ध विचार युक्त तथा आनन्दयुक्त हो जिससे भोजन आनन्ददायक और बल वर्धक हो।

१. महिलाओं को शिल्क की साड़ी, रेशम की साड़ी, लाख की चूड़िया, चमड़े का पर्स आदि पहनकर प्रवेश नहीं करना चाहिए।

२. महिलाएं शौचादि के वस्त्रों से भोजन न पकावें।

३. भोजनशाला में कंदमूल आदि अशुद्ध और हिंसाजनक वस्तुओं के बनाने का निषेध करें।

४. भोजन में छने या गर्म पानी का ही प्रयोग करें।

५. महिलाएँ भोजन से लिप्त हाथ को यहाँ-वहाँ न धोएँ। इसलिए व्रतोद्योतन श्रावकाचार में कहा है कि जो स्त्रियाँ पकवान बनाने के लिए मिश्री पाक को, या शर्करा पाक को या घी, गुड़ से लिप्त हाथ को घर के भीतर जहाँ कहीं भी धोती हैं जहां पर कि घ्राणेन्द्रिय से आकृष्ट होकर मक्षिका आदि जीव उसे स्पर्श करते हैं और उनका मरण हो जाता है। उस पाप के लिए उस स्त्री को नरक के दुःख सहन करने पड़ते हैं।[११]

६. जो महिलाएं मक्खन को बिना गरम किये कच्चा खा लेती हैं। उनको बंधन, तारण, मारण, छेदन, भेदन सहन करना पड़ता है। उन्हें कोल्हू आदि यंत्रों में पेला जाता है।[१२]

जैन ग्रंथों में रजस्वला युक्त महिलाओं के संयोग से बना भोजन अशुद्ध की कोटि में आता है। महिलाओं में प्रतिमाह ३ से ५ दिन तक उनके योनी स्थान से अशुद्ध रक्त का प्रवाह प्रतिक्षण होता रहता है जिस कारण वे तत्क्षण रक्त रंचित कहलाती हैं। इसी कारण आचार्यों ने उन महिलाओं को उस समय शुभ क्रिया करने का निषेध किया है। वह उस समय मंदिर नहीं जाती, शास्त्रों का स्पर्श नहीं करती, विवाह इत्यादि कार्यों में सहभागी नहीं होती, भोजन सम्बन्धी कार्यों को नहीं करती तथा कामसेवन आदि क्रियाएं भी नहीं करती, उस समय उनको एकांत में रहकर धर्माराधन करना चाहिए। प्राचीन काल से ही ये उक्तियाँ चरितार्थ हो रही है कि- अशुद्ध महिलाओं की छाया यदि सूखते हुए पापड़ों पर पड़ती है तो वे पापड़ लाल हो जाते हैं तथा उनकी आवाज से पापड़ों का स्वाद बिगड़ जाता है। पकवान आदि भोज्य वस्तुओं का स्वाद बिगड़ जाता है। यदि अशुद्ध अवस्था में देवपूजादि शुभकार्य करती हैं तो मंदिर का चमत्कार समाप्त हो जाता है, तथा उस स्त्री को गर्भपात का दोष लगता है। रजस्वला स्त्री के स्पर्श से नेत्ररोगी अंधा हो जाता है, गर्भवती पक्षी यदि रजस्वला महिला के ऊपर से निकल जाये तो उसका गर्भपात हो जाता है। अशुद्ध अवस्था में कामसेवन करने वाली महिला की संतान नहीं होती वह बांझ हो जाती है।[१३] इसलिए आचार्यों ने इस समय ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने का निर्देश दिया है।

जैनाचार्यों एवं वैज्ञानिकों के अनुसार प्रत्येक प्राणी का आभामण्डल उत्सर्जित होता है, जो एक-दूसरे को प्रभावित करता है। अशुद्ध अवस्था में महिलाओं का आभामण्डल रोग उत्पन्न करने वाला तथा अमांगलिक होता है। यदि वे इस समय भोजनशाला में प्रवेश कर आहार सामग्री को तैयार करती हैं तो वह भोजन भी रोगोत्पादक, शक्तिहीन, विचारों में विकृति, कामातुरता आदि दोष उत्पन्न करेगा जो सद्गृहस्थ के लिए हानिकारक है।

निष्कर्ष -

जीवन को सुखी बनाने के लिए जीवन में आहार और शयन को व्यवस्थित करने की आवश्यकता है। जिसका भोजन का समय और सोने का समय नियत है वह अपने सभी कार्यों को व्यवस्थित रूप से संचालित करता है। इसके लिए आहार की शुद्धि की आवश्यकता अधिक है।

संदर्भ-

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-७, सूत्र-४
२. अहिंसकाहार, डॉ. पी. सी. जैन, पृष्ठ-१३२
३. श्रावकाचार संग्रह भाग-२, सागारधर्मामृत, पृष्ठ-३३, श्लोक-२५
४. श्रावकाचार संग्रह भाग-१, अमितगति श्रावकाचार, पृ.३०८, श्लोक-४९
५. प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग, पृष्ठ-१०
६. अहिंसकाहार, पृष्ठ-४८
७. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-७, सूत्र-३५
८. श्रावकाचार संग्रह, भाग-४, प्रस्तावना, पृष्ठ-१६३
९. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, श्लोक-८४-८६
१०. वत्थुविद्या, पृष्ठ-२०
११. श्रावकाचार संग्रह, भाग-३, पृष्ठ-२०७
१२. श्रावकाचार संग्रह, भाग-३, पृष्ठ-२०७
१३. श्रावकाचार संग्रह, भाग-३, पृष्ठ-२०७

- लक्ष्मीनाथ मंदिर की गली, केकड़ी,
जिला-अजमेर (राजस्थान)-३०५४०४

कधं चरे कधं चिट्ठे, कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज, कधं पावं ण वज्झदि ।।१०१४।।
(मूलाचार)

हे भगवन्! कैसा आचरण करें, कैसे ठहरें, कैसे बैठें, कैसे सोवें, कैसे भोजन करें और किस प्रकार बोलें कि जिससे पाप-बंध न हो।

जदं चरे जदं चिट्ठे, जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज, एवं पावं ण वज्झदि ।।१०१५।।

उत्तर - यत्नाचार पूर्वक गमन करें, खड़े हों, बैठें, सोवें, आहार करें तथा यत्नाचार पूर्वक बोलें। इस प्रकार पाप का बंध नहीं होगा।

वीर सेवा मन्दिर
जैनदर्शन शोध संस्थान

श्रुत पंचमी महोत्सव २०१२

श्रुत पंचमी के पावन प्रसंग पर विषय
'जैनदर्शन का विभिन्न दर्शनों से तुलनात्मक विवेचन'
पर आयोजित राष्ट्रीय व्याख्यानमाला में कार्यक्रमानुसार
आपकी गौरवमय उपस्थिति प्रार्थनीय है।

अध्यक्ष : प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन, वरिष्ठ विद्वान, नोएडा (उ.प्र.)
मुख्य अतिथि : डॉ. सी. देवकुमार एफ.एन.ए.ए.एस.,
सहायक महानिदेशक (शिक्षा योजना एवं विकाश) नई दिल्ली - 12
वक्तागण : प्रो. धर्मचन्द जैन, जोधपुर (राजस्थान)
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
डॉ. वीरसागर जैन, नई दिल्ली
श्री सिद्धार्थ जैन, संगीतकार (बीना) म.प्र.
स्थान : वीर सेवा मन्दिर सभागार
समय : रविवार, दिनाँक 27 मई 2012, प्रातः 10 बजे से 1 बजे तक

संयोजक कार्यक्रम
पं0 निहालचंद जैन (निदेशक) 9311250522
आलोक जैन (उपनिदेशक) 9311050522

निवेदक :
वीर सेवा मन्दिर
4674/21 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष: 91+11-23250522, 30120522, 9311 050522
email: *virsewa@gmail.com*

राष्ट्र और समाज के हित में
परिग्रह परिमाण व्रत की उपयोगिता

- सुरेश जैन, आई.ए.एस. (से.नि)

प्रत्येक मानव हमारे राष्ट्र और समाज की आधारभूत इकाई है। अतः प्रत्येक मानव के विकास पर ही उसके राष्ट्र और समाज का विकास आधारित है। प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है कि वह अपने जीवन में अपनी संस्कृति द्वारा सुस्थापित शाश्वत जीवन मूल्यों का सतत रूप से पालन करे। जैन संस्कृति सुविकसित संस्कृति है। जैन संस्कृति के महर्षियों ने सुविचार पूर्वक प्रत्येक मानव के कुछ कर्तव्य निर्धारित किए हैं जिससे कि वह अपना चतुर्मुखी विकास कर सके और सामाजिक व्यवस्था को समुचित ढंग से संचालित कर सकें एवं अपने राष्ट्र के सभी व्यक्तियों के कल्याण में सहभागी हो सकें।

२. जैन संस्कृति ने इन व्यावहारिक कर्तव्यों की संहिता को शास्त्रीय दृष्टि से अणुव्रत या श्रावकाचार की संज्ञा प्रदान की है। इस संहिता के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण ये पाँच आधारभूत एवं प्रमुख नियम है। इन प्रमुख नियमों का सम्यक् और संपूर्ण रूप से पालन करने के लिए इनके उपनियम भी बनाए हैं जिन्हें शास्त्रीय भाषा में व्रत की भावनाएँ कहीं है। इन प्रमुख नियमों में से पंचम एवं अंतिम नियम परिग्रह परिमाण हमारी चल एवं अचल और चेतन एवं अचेतन संपत्ति की सीमाओं को निर्धारित करने का निर्देश देता है। इस नियम का दूसरा नाम इच्छा परिमाण है। इच्छा परिमाण हमारी आंतरिक इच्छाओं को नियंत्रित एवं नियमित करने का निर्देश देता है। इस नियम का प्रमुख उद्देश्य यह है कि हम बाह्यरूप से अपनी चल एवं अचल संपत्ति विवेकपूर्वक निर्धारित सीमाओं में रखें और आंतरिक रूप से अपनी इच्छाओं को नियंत्रित करें जिससे कि बाह्य सीमाओं का पालन स्वयमेव होता रहे।

३. प्रथम शताब्दि के विश्वविश्रुत आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के सप्तम अध्याय के निम्नांकित सत्रहवें सूत्र में परिग्रह की व्याख्या की हैः-

३.१ **मूर्च्छा परिग्रहः**। मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। चल-अचल संपत्ति के आधिपत्य, स्वामित्व एवं ममत्व की भावना परिग्रह है। अपनी आवश्यकताओं की सीमा तक चल-अचल संपत्ति रखना एवं सीमा से अधिक संपत्ति का परित्याग करना ही परिग्रह परिमाण व्रत है।

३.२ इस अध्याय के निम्नांकित उन्तीसवें सूत्र में परिग्रह परिमाण के अतिचारों का निषेधात्मक रूप से उल्लेख किया गया है :-

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णथनधान्यदासीदास कुप्यप्रमाणातिक्रमाः।। ७-२९।।

इस सूत्र में परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों का उल्लेख किया गया है। इस सूत्र का

तात्पर्य है कि निम्नांकित पाँच प्रकार की चेतन एवं अचेतन संपत्तियों की निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए।

३.२.१ क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमाः अर्थात् खेत और मकान के प्रमाण का उल्लंघन करना।

३.२.२ हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रमाः अर्थात् चांदी, सोना आदि के प्रमाण का उल्लंघन करना।

३.२.३ धनधान्यप्रमाणातिक्रमाः अर्थात् पशुधन तथा अनाज के प्रमाण का उल्लंघन करना।

३.२.४ दासीदासप्रमाणातिक्रमाः अर्थात् दास-दासियों के प्रमाण का उल्लंघन करना और

३.२.५ कुप्यप्रमाणातिक्रमाः अर्थात् वस्त्र तथा वर्तनों के प्रमाण का उल्लंघन करना।

३.३ परिग्रह परिमाण व्रत के इन पांच अतिचारों का प्रमुख उद्देश्य यह है कि सद्गृहस्थ निर्धारित सीमाओं से अधिक संपत्ति एकत्रित न करें और अधिक संपत्ति एकत्रित होने पर उसका तुरन्त दान कर दें।

४. जैन संस्कृति ने भावना को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। कर्म से भावना को अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक नियम और उसके उपनियमों के पालन करने के लिए विशेष भावनाओं की पहचान कर उनकी वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है। शारीरिक शुद्धि और वचन शुद्धि के पूर्व मानसिक या भावनात्मक शुद्धि का उल्लेख करते हुए भावना को प्राथमिकता प्रदान की गई है। अतः परिग्रह परिमाण के नियम/ उपनियम का प्रभावी ढंग से संरक्षण एवं पालन सुनिश्चित करने के लिए मोक्षशास्त्र में आचार्य उमास्वामी देव ने निम्नांकित सूत्र में पांच भावनाएं उपदिष्ट की गई है :-

"मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।" ।।७-८।।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांच इन्द्रियों के माध्यम से मनोज्ञ, प्रिय या इष्ट विषयों में राग और अमनोज्ञ, अप्रिय या अनिष्ट विषयों में द्वेष नहीं रखने का प्रावधान किया है।

५.२ हजार वर्ष पूर्व आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार के तृतीय अधिकार में परिग्रह परिमाण अणुव्रत की निम्नांकित शब्दों में व्याख्या की है :-

धन-धान्यादि-ग्रन्थं, परिमाय ततोऽधि-केषु निःस्पृहता।
परि-मित-परिग्रहःस्या,-दिच्छा-परिमाण-ना-मापि।। १५।।

अर्थात् (धन-धन्यादि-ग्रन्थ) क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य और भाण्ड इन दस बाह्य परिग्रहों को (परिमाय) परिमित रखकर (ततः) उनसे (अधिकेषु) अधिक में (निःस्पृहता) इच्छा नहीं रखना (परिमित परिग्रह) परिग्रह परिमाणव्रत (अपि) अथवा (इच्छापरिमाणनामा) इच्छापरिमाणनामक अणुव्रत (उच्यते) कहा जाता है।

५.१ आचार्य समन्तभद्र स्वामी जी ने परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पांच अतिचारों का उल्लेख करते हुए लिखा कि :-

अतिवाहनतिसंग्रह, विस्मयलोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपाः पन्च लक्ष्यन्ते।।

अर्थात् (अतिवाहन) अधिक सवारी रखना (अतिसंग्रह) अनावश्यक वस्तुएं इकट्ठी करना (विस्मय) दूसरे का वैभव देखकर आश्चर्य करना (लोभ) लोभ करना और (अति भार वहनानि) बहुत भार लादना ये (पन्च) पाँच (परिमितपरिग्रहस्य) परिग्रह परिमाणाणुव्रत के (विक्षेपाः) अतिचार (लक्ष्यन्ते) कहे गये हैं। अन्य शब्दों में अधिक लाभ उठाने की दृष्टि से वाहनों का और उनमें जोते जाने वाले पशुओं का क्षमता से अधिक उपयोग करना, अधिक लाभ की अभिलाषा से धनधान्यादि को अधिक समय तक रोके रखना, विशिष्ट लाभ के होते हुए भी अधिक लाभ की लालसा करना, लोभवश वाहनों पर क्षमता से अधिक भार लादना ये परिग्रह- परिमाण अणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

६. प्रत्येक मनुष्य बढ़ती हुई इच्छाओं के कारण परिग्रह का संचय करता है। वह परिग्रह का पूर्ण त्याग नहीं कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। अतः परिग्रह परिमाण व्रत का पालन करने वाले प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति द्वारा अपने विवेक एवं अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अपनी इच्छाओं को परिमित या सीमित किया गया जाता है। प्रत्येक गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना व्यवसाय इतना अधिक न फैलाऐं, जिसकी वह स्वयं साज संभाल नहीं कर सकें और सदैव उसकी व्यग्रता बढ़ती रहे।

७. परिग्रह परिमाण का यह नियम हमें अपनी इच्छाओं को सीमित और नियमित करने का संदेश देकर अन्य प्रमुख नियमों- अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य- का पालन करने में सहयोग प्रदान करता है। यदि हम परिग्रह परिमाण के प्रमुख एवं आधारभूत नियम का पालन करने में सफल हो जाते हैं तो अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य संबंधी नियमों और प्रत्येक नियम के उपनियमों का पालन स्वयमेव ही सुनिश्चित हो जाता है। समंतभद्र स्वामी ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि इन नियमों का पालन करने से हमें सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त हो सकती है एवं हमारे चारों पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हमें सरलता से प्राप्त हो सकते हैं।

८. चल-अचल संपत्ति के नियमन, सीमाकरण एवं न्यूनीकरण को बहिरंग परिग्रह कहा जाता है। बहिरंग परिग्रह के साथ-साथ अंतरंग परिग्रह का न्यूनीकरण अत्यावश्यक है। श्रमण संस्कृति में अंतरंग परिग्रह न्यूनीकरण का अत्यधिक महत्व है। चार कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ- अंतरंग परिग्रह की श्रेणी में आते हैं।

९. आंतरिक परिग्रह के कारागार का भवन क्रोध, मान, माया और लोभ के चार स्तंभों पर खड़ा रहता है। ये चारों कषाएं सद्गृहस्थ को अनेकानेक कष्ट पहुंचाती हैं। इन कषायों का त्याग या न्यूनीकरण किया जाना आवश्यक है। अतः हम क्षमा से क्रोध पर विजय प्राप्त करें। मृदुता और विनय के सद्गुणों से मान कषाय को नियंत्रित करें। सरलता से माया और संतोष से लोभ को विनियमित करें।

१०. हमारे महर्षियों द्वारा सुस्थापित अहिंसादिक पांचों अणुव्रतों का हमारे व्यक्तित्व के चतुर्मुखी विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अणुव्रतों के नियमों, उपनियमों और भावनाओं के माध्यम से हमारे चिंतन एवं व्यक्तित्व को परिष्कृत किया है। प्रत्येक व्यक्ति को सदाचार के पथ पर चलने की अनुपम ढंग से सीख दी है। अतः राष्ट्र और समाज के हित में परिग्रह परिमाण व्रत की अत्यधिक उपयोगिता एवं सराहनीय भूमिका है।

११. आज के वैश्वीकरण, तकनीकी तथा वैज्ञानिक प्रगति के इस भौतिकतावादी, उपभोक्तावादी और आर्थिक महत्ता की सोच वाले युग में जैन संस्कृति द्वारा घोषित परिग्रह परिमाण के सिद्धान्त का व्यावहारिक दृष्टि से बहुमूल्य अवदान सिद्ध हो चुका है। इस स्वर्णिम सिद्धान्त का पालन करते हुए संपूर्ण विश्व विकास एवं शांति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। संपूर्ण विश्व को यह स्वीकार करना होगा कि अपरिग्रह के जीवन दर्शन पर आधारित अर्थ नीति ही संपूर्ण विश्व को विकसित कर सकेगी। अतः हम अपरिग्रह की संजीवनी बूटी को स्वीकार करें। परिग्रह को विचारपूर्वक घटाते जाऐं। संतोष पूर्वक सादगी का जीवन सहजता से अपनाते जाऐं। वस्तुओं के वैभव को छोड़ते चलें। आध्यात्मिक वैभव की ओर मुड़ते चलें। हम अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करें। असीमित आकांक्षाओं का नियमन करें। अपनी इच्छाओं को सीमित करते हुए अपरिग्रह के सिद्धान्त के माध्यम से पूरे विश्व में सौहार्द, सद्भाव, मैत्री और शांति की स्थापना करें।

- ३० निशांत कालोनी,
भोपाल - ४६२००३

बोधकथा

संत विनोबा जी की माँ, जामण डालकर दही जमाती थी और साथ में राम का नाम लेती थी। विनोबा जब बड़े हो गये, उन्होंने मां से कहा- कि हमें सब बातें समझ में आती हैं, लेकिन आपकी एक बात मेरी समझ में नहीं आ रही। ये बताओ- दही जामण से जमता है या ईश्वर का नाम लेने से ? या फिर दोनों से ? यदि केवल जामण से जमता है, तो ईश्वर की क्या आवश्यकता है, उसका नाम लेना बंद करो। और यदि ईश्वर के नाम से जमता है, तो जामण डालना बंद करो।

माँ हँसकर बोली- बेटे ! जामण देने से ही दूध का दही बनता है। परन्तु ईश्वर का नाम इसलिए लेती हूँ कि जब सुबह अच्छा दही जम जाएगा तो मुझे अंहकार न आ जाये कि मैंने जमाया है, इसलिए राम का नाम लिया करती हूँ। मेरी श्रृद्धा- मेरे इस कर्तापने और अहंकार को, कि मैं करता हूँ, इसको नष्ट करती है। अतः ईश्वर के प्रति श्रद्धा आवश्यक है। जीवन में ईश्वर का यह रोल, यह सहयोग बहुत जरूरी है। यदि मैं ज्ञानवान हूँ तो मुझे अहंकारी बनने से वह रोकता है।

(मुनि क्षमासागर जी : कर्म कैसे करें ? प्रवचन से)

जैन संस्कृत आध्यात्मिक टीकाकार : एक सर्वेक्षण

- डॉ. रमेशचन्द जैन

जैनधर्म में आगम और अध्यात्म दो कथन शैलियाँ हैं जो समस्त दोषों से रहित तथा केवलज्ञान आदि परम वैभव सहित हैं, वे परमात्मा हैं। इनसे विपरीत परमात्मा नहीं हैं।[१] उस परमात्मा के मुख से निकले हुए वचन जो पूर्वापर दोष रहित और शुद्ध हैं, वही आगम है। उस आगम में कहे गए ही तत्त्वार्थ हैं[२]। आगम का क्षेत्र जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म, काल और आकाश है। इन्हीं का नाम तत्त्वार्थ है। ये गुण और पर्यायों से संयुक्त हैं।[३] आगम में समस्त द्रव्यों के निरूपण के साथ आत्मा का भी निरूपण है और आत्मा की स्वाभाविक अवस्था, सिद्ध अवस्था का भी इसमें निरूपण है। इस प्रकार आत्मा की समस्त संयोगी पर्यायों का निरूपण कर अन्त में उसकी सिद्ध पर्याय का निरूपण होने के कारण ही आगम को सिद्धांत शब्द से भी कहते हैं।

अध्यात्म शब्द की परिभाषा देते हुए द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव ने कहा है-

मिथ्यात्वरागादिरूप समस्त विकल्पजाल रूप परिहारेण,

स्वशुद्ध आत्माने आद्ये यदनुष्ठानं तदध्यात्ममिति।

अर्थात् मिथ्यात्व रागादि रूप समस्त विकल्प समूह के त्याग द्वारा निज शुद्ध आत्मा में जो अनुष्ठान (प्रवृत्ति का करना) उसको अध्यात्म कहते हैं।[४]

सोना खान में मिट्टी के साथ पड़ा है, प्रयास यही होता है कि सोना निकल जाय। अध्यात्म कहता है कि कर्म है ही नहीं। आगम आत्मा और कर्मों को मिलाकर वर्णन करता है। अध्यात्म कहता है कि आत्मा अपने में है, इसके साथ अन्य द्रव्य कीआवश्यकता नहीं। आगम में छः द्रव्यों की चर्चा होती है। अध्यात्म में स्वद्रव्य की चर्चा होती है।

जैन अध्यात्म का वर्णन करने वाले आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। परवर्ती आचार्यो के निरूपण के लिए आचार्य कुन्दकुन्द की रचनायें दीपतुल्य हैं। इन रचनाओं में समयसार प्रमुख रूप से अध्यात्म को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। यही कारण है कि उस पर संस्कृत, हिन्दी और कन्नड़ में अनेक टीकायें प्राप्त हैं। इन टीकाओं में आचार्य अमृतचन्द्र नाम सर्वोपरि है।

आचार्य अमृतचन्द्र -

ये आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम संवत् ४९) के प्रमुख ग्रंथों समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय के आद्य टीकाकार माने जाते हैं। इनका समय विक्रम की दसवीं सदी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। ये जाति के ठाकुर थे; क्योंकि पं. आशाधर जी (तेरहवीं विक्रम सदी) ने ''ठक्कुरामृत'चन्द्रसूरि''[५] नामक उल्लेख किया है। इन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थ

समयपाहुड अथवा समयसार पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका लिखी, जिसमें बीच बीच में पद्यों का भी प्रयोग किया गया है। इस टीका को नाटकीय शैली में प्रस्तुत कर उसे नाटक का रूप दे दिया है। उन्होंने गद्य की सरल और कठिन दोनों शैलियों का प्रयोग किया है। बीच बीच में उदाहरणों का प्रयोग भी किया है। उनके पद्य, कलश संज्ञा से विभूषित किए जाते हैं। इन कलशों में अध्यात्म रस से सराबोर करने की शक्ति है। इन्हीं के आधार पर पं. बनारसीदास जी ने हिन्दी भाषा में समयसार कलश की रचना की। इन कलशों में स्वानुभूति भरी हुई है। उनके कलशों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है-

उभयनयविरोधध्वंसिनी स्यात्पदांके जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनय पक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव[६]।।
य एव मुक्त्वा नय पक्षपातं स्वरूगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युत शान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति।।
मज्जन्तुनिर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोध[८]सिन्धुः।।

प्रमेयों को समझाने के लिए उन्होंने नय और प्रश्नोत्तर शैली का भी अवलम्बन लिया है। शब्दों की बीच बीच में व्युत्पत्तियाँ भी करते जाते हैं। अपनी बात को समझाने के लिए उन्होंने न्यायशैली का भी प्रयोग किया है। उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक वस्तु को समझाने हेतु वे प्रवचनसार की गाथा १०० की टीका में कहते हैं-

न खलुसर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारो स्थितिमन्तरेणं, न स्थितिः संहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथाहि य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसिंहरौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकणामन्वयानतिक्रमणात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोन्यः संहारः अन्यास्थितिरायाति। तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभतिरेव भवेत् असदुत्पाद एववा। तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेवभावानामभवनिरेव भवेत्, असदुत्पोद वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्।

परवर्ती रचनाकारों को आचार्य अमृतचन्द्र ने विशेष रूप से प्रभावित किया है। इनमें आचार्य देवसेन, आ. अमितगति प्रथम आ. प्रभाचन्द्र, अमितगति द्वितीय, आचार्य जयसेन, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य वादीभसिंह पद्मप्रभमल धारीदेव, मुनि रामसेन, ब्रह्मदेव आदि प्रमुख है। परवर्ती हिन्दी रचनाओं की अध्यात्म शैली के तो वे प्रमुख प्रेरणास्रोत में से एक हैं।

जयसेनाचार्य -

जयसेनाचार्य का समय १३वीं शताब्दी है। उन्होंने समयसार पर तात्पर्यवृत्ति नामक टीका लिखी है। टीका में खण्डान्वय द्वारा शब्दशः गाथाओं का अर्थ स्पष्ट किया है। अर्थ स्पष्ट करने के बाद उन्होंने गाथार्थ पर विशेष प्रकाश भी डाला है। नए अधिकार के प्रारंभ में उस

अधिकार के प्रारंभ का कौन सा विषय कितनी कितनी गाथाओं में है, इसका सुन्दर विवरण दिया है। वृत्ति की भाषा सरल है। उन्होंने स्वयं कहा है- इस ग्रंथ में प्रायः पदों की संधि नहीं की है, वाक्य भी भिन्न भिन्न रखे गए हैं, जिससे सरलतापूर्वक पाठक ज्ञान कर सकें। इसीलिए विवेकी पुरुषों को लिंग, वचन, क्रिया, कारक, सन्धि, समास, विशेष्य, वाक्य समाप्ति आदि दूषण[९] नहीं करना चाहिए।

समयसार की टीका के अतिरिक्त जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति टीका तथा प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका भी लिखी है।

जससेनीय टीकायें नयोल्लेखपूर्वक गुणस्थान परिपाटी से की गई पदखण्डान्वयी टीकायें हैं। पदखण्डान्वय के साथ इन्होंने विषय को स्पष्ट भी किया है। शब्दार्थ और भावार्थ के साथ इन्होंने आवश्यकतानुसार नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ भी स्पष्ट किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए प्रश्नोत्तर भी दिए हैं। पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण भी अच्छी तरह किया गया है।[१०] जयसेन की टीकायें अमृतचन्द्रचार्य की पूरक हैं। नयों का उल्लेख अमृतचन्द्र बहुत कम करते हैं। यदि करते भी हैं तो निश्चय व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तक ही सीमित रहते हैं, पर जयसेन निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के भेद प्रभेदों के विस्तार में भी[११] जाते हैं।

पद्मप्रभमलधारिदेव -

इन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार पर संस्कृत टीका लिखी। ये मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय, पुस्तकगच्छ और देशीगण के आचार्य वीसन्दि के शिष्य थे। नियमसार पर लिखित संस्कृत टीका का नाम तात्पर्यवृत्ति है। इनकी यह तात्पर्यवृत्ति अमृतचन्द्र सूरि की टीका समयसार तात्पर्यवृत्ति की शैली में लिखी गई है, जिसमें गद्य, पद्य दोनों हैं। टीका में टीकाकार ने आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अमृतचन्द्र, सोमदेव, गुणभद्र, वादिराज, योगीन्द्रदेव, चन्द्रकीर्ति और महासेन के नाम उल्लेखनीय हैं। संवत् ११०७ का एक शिलालेख मद्रास प्रान्त के पाटशिवपुरम नामक ग्राम के दक्षिण द्वार पर मिला है, जिसमें पदमप्रभमलधारिदेव एंव उनके गुरु श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती का उल्लेख है। इससे इनका समय १२वीं शताब्दी निश्चित होता है। इसमें गद्य टीका के साथ ३११ पद्य हैं।

नियमसार के परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार की आरम्भिक ५ गाथाओं को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव पंचरत्न कहते हैं। इनमें नारकादि, गुणस्थानादि, बालकादि, रागादि एवं क्रोधादिभावों का निश्चय से आत्मकर्त्ता, कारयिता, अनुमंता व कारण नहीं है- यह बताया गया है। इसके बाद एक गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि उक्त भावना से जिस मध्यस्थ भाव की उत्पत्ति होती है, उसे निश्चयचारित्र कहते हैं। इस अधिकार के संपूर्ण प्रतिपादन का सार यह है कि आत्माराधना ही वस्तुतः परमार्थप्रतिक्रमण है।[१३] नियमसार भावना प्रधान ग्रन्थ है। इसका सार यह है कि जीवादि सात तत्त्वों का समूह पर द्रव्य होने के उपादेय नहीं है। आत्मा ही उपादेय है।

आर्यिका ज्ञानमती -

आर्यिका ज्ञानमती माताजी ने आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार पर संस्कृत में सरल भाषा में एक टीका लिखी। इस टीका नाम उन्होंने स्याद्वाद चन्द्रिका रखा। नियमसार ग्रन्थ में सर्वगाथायें १८७ हैं। इसमें उन्होंने तीन महाधिकार माने हैं, जिनके नाम हैं- व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग और मोक्ष। जीव, अजीव आदि से इसमें बारह अधिकार हैं। टीका में प्रत्येक अधिकार के अंतर्गत अधिकार करने से ३७ अन्तराधिकार किये हैं। टीका लिखते हुए श्लोकवार्तिक, तिलोयपण्णत्ति आदि ६२ ग्रंथों का आधार लेकर यथा स्थान उनके उद्धरण दिए हैं। टीका में गुणस्थान तथा नय व्यवस्था की शैली में सुन्दर वर्णन है। यहाँ तात्पर्यार्थ भी लिया है, उसमें आज हमें क्या करना चाहिए, यह ध्वनित किया है। उसका एक उदाहरण है-

अथवा प्रमत्ताप्रमत्तमुनीन्नमपि मोक्षमार्गो व्यवहारनयेनैव परम्परया कारणत्वात्। निश्चयनयेन तु अयोगिनां चरमसमयवर्तिरत्नत्रय परिणामो मोक्षमार्गः, साक्षात् मोक्षप्राप्तिहेतुत्वात्। भवमोक्षापेक्षया अध्यात्मभाषया वा क्षीणकषायान्त्य परिणामोऽपि चेति।

तात्पर्यमेतत्-चिच्चैतन्यचमत्कारस्वरूपनिजपरमात्म तत्त्वस्य रुचिस्तस्यैव ज्ञानं तत्रैवावस्थानां चैतदभेदरत्नत्रयस्वरूपनिश्चयमोक्षमार्गमुपादेयं कृत्वा भेदरत्नत्रयरूपव्यवहार मोक्षमार्ग आश्रयणीयः। तच्छक्त्यभावे देशचारित्रमवलम्बनीयं महाव्रतस्य च भावना कर्त्तव्या। स्तोकव्रतग्रहणाभावे सम्यक्त्वं दृढीकुर्वता सता विकलचारित्रस्य भावना विधातव्या। किं च क्रममन्नते क्रम्यैव भावना भवनाशिनी भवति।

अथवा छठे सातवें गुणस्थानवर्ती प्रमत्त अप्रमत्त मुनियों के भी मोक्षमार्ग व्यवहारनय से ही है क्योंकि वह परंपरा से कारण है। निश्चयनय से तो अयोग केवलियों का अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय परिणाम ही मोक्षमार्ग है। क्योंकि वह साक्षात् अनन्तर क्षण में मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है अथवा भावमोक्ष की अपेक्षा से अध्यात्म भाषा में क्षीण कषायवर्ती मुनि का अन्तिम समयवर्ती परिणाम भी मोक्षमार्ग है।

तात्पर्य यह निकला कि चित चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपनी आत्मा ही परमतत्त्व है, उसका श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में स्थिरतारूप चारित्र यह अभेदरत्नत्रय का स्वरूप है। यही निश्चय मोक्षमार्ग है। इसको उपादेय करके भेद रत्नत्रयस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए और महाव्रती की भावना करनी चाहिए।

यदि अणुव्रत भी नहीं ले सकते हैं तो सम्यक्त्व को दृढ़ करते हुए देशचारित्र की भावना करनी चाहिए। क्योंकि क्रम का उल्लघन न करते हुए ही की गई भावना भव की नाश करने वाली होती है।

ब्रह्मदेव -

ब्रह्मदेव ने परमात्म प्रकाश तथा द्रव्यसंग्रह पर टीका लिखी। परमात्मप्रकाश कवि जोइन्दु की अपभ्रंश भाषा में अध्यात्म प्रधान रचना है। पदच्छेद, उत्थानिका, प्रकरण संगत चर्चा तथा ब्रह्मदेव की टीका की अन्य बातें हमें जयसेनाचार्य की पञ्चास्तिकाय की टीका की याद दिलाती हैं। ब्रह्मदेव ने जयसेन का पूरा पूरा अनुकरण किया है। उदाहरण के लिए परमात्मप्रकाश

२-२१ और पञ्चास्तिकाय २३, परमात्मप्रकाश २-३३ और पंचास्तिकाय १५२ तथा परमात्मप्रकाश २-३६ और पञ्चास्तिकाय- १४६ की टीकाओं को परस्पर मिलाना चाहिए। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने ब्रह्मदेव का समय १३वीं शताब्दी ई. के लगभग रखा है। परमात्मप्रकाश टीका सरल और विशद है। ग्रंथकार के हार्द को अभिव्यक्त करने में यह पूरी तरह समर्थ है। यह टीका द्रव्यसंग्रह की टीका के समान जैनसिद्धान्त की पारिभाषिक व्याख्याओं से भरी नहीं है। उनका उद्देश्य विषय की व्याख्या करना है। विभिन्न प्रकार के नयों के प्रयोग से वे परिचित हैं। उनका उत्साह निश्चय या आत्मिक ज्ञान की ओर अधिक है। मलधारि बालचन्द्र की परमात्म प्रकाश की कन्नड टीका प्राप्त है। ब्रह्मदेव टीका का सहारा लेते हुए इसकी रचना की गई है। बालचन्द्र का काल १४वीं शताब्दी ई. का मध्य रखा जा सकता है।

प्रभाचन्द्र -

आचार्य पूज्यपाद कृत समाधितंत्र पर प्रभाचन्द्राचार्य रचित संस्कृत टीका प्राप्त होती है। यह टीका श्लोकों के शब्दार्थ को ही सरल रूप में समझाती है। इनकी सरल और सीधी सादी भाषा देखकर सहज ही यह ज्ञान होता है कि यह टीका प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के कर्त्ता सुप्रसिद्ध प्रभाचन्द्राचार्य से भिन्न किसी अन्य प्रभाचन्द्राचार्य की हैं, क्योंकि प्रभाचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्रभाचन्द्र की भाषा प्रौढ़ है। यह टीका उस कोटि की नहीं है। उपर्युक्त प्रभाचन्द्र की रत्नकरण्ड श्रावकाचार और आत्मानुशासन पर भी टीकायें उपलब्ध हैं।

पं. आशाधर जी -पण्डित प्रवर आशाधर जी ने आचार्य पूज्यपाद के इष्टोपदेश पर संक्षिप्त टीका लिखी है। यह संक्षिप्त होते हुए भी हार्द को स्पष्ट करती है। उदाहरणार्थ इष्टोपदेश में कहा है- **न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।**

नाहं बालो न वृद्धो%हं न युवैतानि पुद्गले।।२९

अर्थात् मेरी मौत नहीं है, इस कारण मुझे किससे भय है? मेरे कोई राग नहीं है इसलिए कहाँ से मुझे पीड़ा-दुःख है। मैं बालक नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं हूँ, मैं जवान नहीं हूँ। ये सब बातें पौद्गलिक शरीर में होती हैं।

इसकी टीका में आशाधर जी ने कहा है-

निश्चितात्मस्वरूप की मृत्यु- प्राणत्याग नहीं है। चित शक्ति लक्षण भावप्राणों का कभी भी त्याग नहीं होता, अतः मेरा मरण नहीं है। काले सर्प आदि मरण के कारणों से मैं क्यों डरूँ ? वातादि का सम्बन्ध मूर्त से है अतः वातादि व्याधि दोष भी मेरे नहीं है। ज्वरादि विकार भी मेरे कैसे हो सकते हैं? मेरी बालादि अवस्थाएं भी नहीं है अतः बालादि अवस्थाओं से उत्पन्न दुःखों से मैं कैसे अभिभूत हो सकता हूँ? ये मृत्यु, व्याधि, बालादि अवस्थायें मूर्त देहादि में ही संभव हैं। अमूर्त मुझमें ये असंभव है। चिरकाल के अभेद संस्कार वश ये पश्चातापकारी हैं। आत्मा में ये त्यक्त हैं तो मुझे ये दुःख देने वाली कैसे हो सकती हैं?

इसी प्रकार प्रत्येक श्लोक का तात्पर्यार्थ पण्डित प्रवर आशाधर जी ने अच्छी तरह अभिव्यञ्जित किया है।

कमलकीर्त्ति - भट्टारक कमलकीर्त्ति की आचार्य देवसेन के तत्त्वसार पर संस्कृत टीका उपलब्ध है। जिस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने पूर्वगत अनेक प्राभृतों का सार खींचकर समयप्राभृत या समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और अनेक प्रामृतों की रचना की है, उसी प्रकार आचार्य देवसेन ने अपने समय में उपलब्ध भगवती आराधना का सार खींचकर आराधनासार की तथा समयसार, परमात्मप्रकाश और योगविषयक समाधितंत्र, इष्टोपदेश आदि अनेक ग्रंथों का सार लेकर तत्त्वसार की रचना की। तत्त्वसार प्राकृत गाथामय है। देवसेन विक्रम संवत् की दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए। इसके टीकाकार ने अन्त में जो प्रशस्ति दी है, उससे सिद्ध है कि काष्ठासंघ, माथुर गच्छ और पुष्करगण के भट्टारक क्षेमकीर्ति के प्रशिष्य और हेमकीर्ति के शिष्य श्री कमलकीर्त्ति ने इस टीका को रचा है। कमलकीर्ति का समय विक्रम संवत् १४१० के आसपास माना जा सकता है। कमलकीर्ति की शिष्य परम्परा का उल्लेख विक्रम संवत् १५२५ में उत्कीर्ण ग्वालियर के मूर्तिलेख में पाया जाता है। उसके अनुसार कमलकीर्ति के पट्ट पर सोनागिर में भट्टारक शुभचन्द्र प्रतिष्ठित हुए। इसका उल्लेख रइधू कवि ने अपने हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में भी किया है।

टीकाकार कमलकीर्ति ने प्रत्येक भाषा की उत्थानिका में तत्त्वसार के रचयिता देवसेन को परमाराध्य, परमपूज्य भट्टारक विशेषण के साथ कहीं भगवान् पद के साथ कहीं देवसेनदेव कहकर और कहीं सूत्रकार कहकर अतिपरमपूज्य विशेषणों के द्वारा उनके नाम का उल्लेख किया है। प्रत्येक पर्व के प्रारंभ में टीकाकार कमलकीर्ति ने अमरसिंह को सम्बोधन करने वाला एक एक आशीर्वादात्मक पद्य दिया है तथा ग्रंथ के अंत में उन्हीं को संबोधित करके कहा है कि हे संसारभीरू अमरसिंह प्रसिद्ध अष्ट गुणों से युक्त सिद्ध भगवन्त तुझे सिद्धि प्रदाता हों।

प्रत्येक पर्व की अंतिम प्रशस्ति का निर्माण एक ही प्रकार की पदावली में करके अपनी टीका को अति निकट भव्यजनों को आनन्दकारक, कायस्थ माथुरान्वय शिरोमणिभूत भव्यवर पुण्डरीक अमरसिंह के मानस कमल को विकसित करने के लिए दिनकर के समान भट्टारक श्री कमलकीर्ति देव विरचित तत्त्वसार का विस्तारावतार कहा है। प्रत्येक गाथा की खण्डान्वयी टीका की है। कमलकीर्त्ति को गुरुपरंपरा से अध्यात्म शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। वे तत्त्वसार के रहस्य के पारंगत विद्वान्[१४] थे। तत्त्वसार में कहा है-

परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो।। तत्त्वसार-५३

जब तक योगी अपने मन में से परमाणुमात्र भी राग को नहीं छोड़ता, तब तक परमार्थ का ज्ञायक भी वह श्रमण कर्म से नहीं छूटता है।

इसकी टीका में कमलकीर्ति ने कहा है- परमार्थ यह शब्द परम और अर्थ इन दो शब्दों के योग से बना है। अर्थ शब्द से जीवादि पदार्थ कहे गए हैं। 'परा' शब्द उत्कृष्ट का वाचक है और 'मा' शब्द लक्ष्मी का वाचक है। ऐसी उत्कृष्ट लक्ष्मी जिसके पाई जावे, उसे परम कहते हैं। ऐसा परम जो अर्थ है, वह परमार्थ कहलाता है। अथवा परमार्थ नाम वस्तुस्वरूप का है।

उस परमार्थ को जो विशेष रूप से जानता है, उसे परमार्थ विज्ञायक कहते हैं। ऐसा परमार्थ विज्ञायक योगी यदि रागी हो तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि मोक्ष तो राग, द्वेष, मोह से रहित पुरुष का विषय है। ऐसा जानकर वीतराग आत्मतत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति के बल से वह राग निकट भव्य जीवों को हेय है, अभव्य जीवों के नहीं।

अन्य टीकाकार - समयसार की संस्कृत टीकाओं में भट्टारक शुभचन्द्र की अध्यात्म तरंगिणी, भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की समयसार टीका एवं नित्यविजय की कलश टीका का अभी प्रकाशन नहीं हुआ है। प्रवचनसार पर मल्लिषेण एवं प्रभाचन्द्र ने टीकायें लिखी हैं। मल्लिषेण की संस्कृत टीका का डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने उल्लेख किया है, लेकिन राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में अभी तक इस टीका की उपलब्धि नहीं हुई है। ब्रह्मदेव ने भी समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय इन तीनों पर अमृतचन्द्र एवं जयसेन के समान ही संस्कृत टीकायें लिखी थीं, ऐसा उल्लेख मिलता है, लेकिन इन टीकाओं की अभी तक कोई पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं हो सकी है और उनकी खोज की आवश्यकता[१५] है।

संदर्भ -

१. णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमभावजुदो।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।। नियमसार-७
२. तस्समुहुग्गदम्ट्ठं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदिपरिकहियं तेण दु कहिया हंवति तच्चत्था। आ. कुन्दकुन्द : नियमसार-८
३. जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदिभणिदा णाणगुणपज्जएहिं संजुत्ता।। नियमसार-९
४. द्रव्यसंग्रह (ब्रह्मदेववृत्ति) पृ. २३१
५. अनगार धर्मामृत : भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका पृ. १६० तथा ५८८
६. समयसार कलश पद्य क्रमांक-४
७. वही क्रमांक-६९
८. वही क्रमांक ३२
९. डॉ. लालबहादुर शास्त्री : आ. कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ. ३२७
१०. डॉ. शुद्धात्मप्रभा : आ. कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार, पृ. २०८-२१९
११. वही पृष्ठ-२२१
१२. डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल : आचार्य कुन्दकुन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. १२२-१२३
१३. नियमसार (डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल द्वारा लिखित प्रस्तावना) पृष्ठ-२७
१४. तत्त्वसार (पं. हीरालाल सिद्धान्तं शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना), पृष्ठ-२३-२६
१५. महावीर जयन्ती स्मारिका, १९८९ (जयपुर) डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल का लेख- आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों की अप्रकाशित टीकायें, पृष्ठ-२-४२-४३

-बी.जे.पी. कार्यालय के पास,
मोहल्ला- कुंवर बालगोविन्द
बिजनौर (उ.प्र.)

जैन-आगम के परिप्रेक्ष्य में : षट्खण्डागम का वैशिष्ट्य

- पंकज कुमार जैन

जैनदर्शन में पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित शुद्ध आप्त के वचन को आगम माना गया है।[१] साथ ही जैनदर्शन में आगम को प्रमाण की कोटि में भी रखा गया है। जैनदर्शन में ऐसे परमात्मा को आप्त कहा गया है जो क्षुधा, तृषा, जन्म और जरा आदि अट्ठारह दोषों से रहित होते हैं एवं राग-द्वेषादि से रहित होकर परम वीतराग-अवस्था को उपलब्ध होते हैं।[२] वे अपनी आत्मा पर आवृत ज्ञानावरण कर्म का पूर्णरूपेण क्षय करके केवलज्ञान या सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेते हैं। आप्त के केवलज्ञान की यह विशेषता रहती है कि वह जगत् के समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को युगपत् जानते हैं[३] एवं ऐसे आप्त को अरिहन्त, सर्वज्ञ या जिन भी कहते हैं।

सर्वज्ञता को प्राप्त आप्त के द्वारा जो उपदेश दिया जाता है, उसे आगम कहा जाता है। इस युग के जैन-तीर्थंकरों की परम्परा में अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी ने अपनी देशना में जो तत्त्वोपदेश प्रदान किया उसे उनके गणधर (प्रमुख शिष्य) गौतम स्वामी ने बारह अंगों के रूप में जनसमूह के मध्य उपदेशित किया और यह उपदेश ही जैन-परम्परा में द्वादशांग जिनवाणी के रूप में समादरित है।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद उनके द्वारा उपदेशित द्वादशांग आगम परम्परा से मौखिक रूप में लगभग ६८३ वर्षों तक प्रवाहित होता रहा। परन्तु इस दीर्घ कालान्तराल में जिनागम का अधिकांश भाग विस्मृति के गर्त में लुप्त हो गया। अंत में अवशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध में जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संप्रदायों में भिन्न-भिन्न मान्यता है। जहाँ श्वेताम्बर जैन परंपरा की मान्यता है कि द्वादशांग आगम में एकादश आगम सुरक्षित हैं और केवल बारहवें दृष्टिवाद अंग का ही विच्छेद हुआ है वहीं दूसरी ओर दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि द्वादशांग आगम में एकादशांग आगम पूर्णरूपेण लुप्त हो चुका है और केवल बारहवें दृष्टिवाद अंग का कुछ ही अंश अवशिष्ट है।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद जैनाचार्यों की परंपरा और उनके कालक्रम के निध ारिण में सहायक एक महत्त्वपूर्ण प्राकृत पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण संवत् ५६५ तक लोहाचार्य की परम्परा रही है। इसके बाद क्रमशः जैन-परंपरा के महान् आचार्यों के रूप में अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन पुष्पदंत एवं भूतबलि का नामोल्लेख है और इनका आचार्यकाल क्रमशः २८ वर्ष, २१ वर्ष, १९ वर्ष, ३० वर्ष और २० वर्ष दिया है। इन पाँच आचार्यों के पास द्वादशांग आगम में से केवल एकांग का ज्ञान ही अवशिष्ट था।[४]

उपर्युक्त प्राकृत पट्टावली के आधार पर आचार्य धरसेन का समय वीर निर्वाण संवत्

६१४ सिद्ध होता है और वे १९ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। इस प्रकार वे वीर नि.सं. ६१४ से ६३३ (ई. सन् ८७ से ई. सन् १०६) तक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। इस आधार पर अनेक विद्वानों ने आचार्य धरसेन का समय ई. सन् की प्रथम शती स्वीकार किया है।[५]

यद्यपि आचार्य धरसेन के काल-निर्धारण में सभी शास्त्रीय प्रमाणों में साम्य नहीं है क्योंकि यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ति, वीरसेनाचार्यकृत धवला और जिनसेन के हरिवंशपुराण में लोहाचार्य तक का काल ही वी.नि.सं. ६८३ माना गया है। इस आधार पर धरसेनाचार्य का समय इसके बाद ही निर्धारित हो पायेगा।

आचार्य धरसेन गिरिनगर नामक नगर की चन्द्रगुफा में रहते थे और जैन सिद्धान्त के महान् ज्ञाता थे। उन्होंने द्वादशांग आगम में अवशिष्ट ज्ञान के संरक्षणार्थ योग शिष्यों की आवश्यकता अनुभव की और इस हेतु उन्होंने महिमानगरी में सम्मिलित यति संघ को पत्र लिखा। पत्र प्राप्त करके उन श्रेष्ठ आचार्यों ने विलक्षण प्रज्ञा और उत्कृष्ट चारित्र के धनी पुष्पदंत और भूतबलि नामक दो श्रेष्ठ मुनिराजों को धरसेनाचार्य के पास भेजा।

आचार्य धरसेन ने आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि की परीक्षा करके उन्हें योग्य पाकर षट्खण्डागम का विधिवत् ज्ञान देना आरंभ किया। आचार्यद्वय पुष्पदंत और भूतबलि ने एकाग्रता और विनयपूर्वक आषाढ़ शुक्ला एकादशी को षट्खण्डागम का ज्ञान पूर्णरूपेण प्राप्त कर लिया।[६]

धरसेनाचार्य ने षट्खण्डागम का पूर्ण ज्ञान आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि को प्रदान करके उन्हें अपने पास से दूर भेज दिया। धरसेनाचार्य ने अपने शिष्यों को अपने पास से दूर भेज दिया? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में लिखा है कि- ''धरसेनाचार्य ने अपनी मृत्यु को निकट जानकर यह विचार किया होगा कि कहीं मेरे मरण से मेरे इन शिष्यों को क्लेश न हो।''[७]

यद्यपि उपलब्ध शास्त्रीय प्रमाणों से यह ज्ञात नहीं होता कि आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि के दीक्षागुरु कौन थे? परन्तु इस तथ्य में कोई संदेह नहीं कि धरसेनाचार्य के पास उपलब्ध आगम-ज्ञान के वे सच्चे उत्तराधिकारी थे और इस अर्थ में धरसेनाचार्य उनके शिक्षागुरु थे। आचार्य पुष्पदंत और भूतबलि दोनों ने ही धर्मसेनाचार्य के यहाँ से विहार करके अंकुलेश्वर में वर्षावास सम्पन्न करके दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। दोनों ही करहाटक पहुंचे। इसके उपरान्त पुष्पदंत मुनि ने अपने भांजे जिनपालित से भेंट कर उसे दीक्षित किया और उनके साथ वनवास देश को प्रस्ताव किया और भूतबलि के द्रविड़ देश की मधुरा नगरी में प्रवास किया।[८]

उपर्युक्त प्रसंग में आये स्थल करहाटक और वनवास देश की वर्तमान पहचान कते हुए डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने लिखा है कि- ''...सतारा जिले का करहाड ही करहाटक हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। वनवास देश उत्तर कर्णाटक का प्राचीन नाम है।''[९]

वनवास देश में आचार्य पुष्पदन्त ने सर्वप्रथम षट्खण्डागम के 'बीसदिसूत्रों' की रचना की और उन्हें भूतबलि के पास भेज दिया। आचार्य पुष्पदंत ने जिन 'बीसदिसूत्रों' की रचना की वे षट्खण्डागम के प्रारंभ के बीस मात्र नहीं है अपितु बीसदिसूत्रों से तात्पर्य सत्प्ररूपणा के बीस अधिकारों से है। इस प्रकार षट्खण्डागम की रचना का सूत्रपात हुआ।[१०]

आचार्य भूतबलि ने षट्खण्डागम के बीसदिसूत्रों को प्राप्त करके आगम के संरक्षण की इस पुनीत प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हुए संपूर्ण षट्खडागम को लिपिबद्ध करके उसका लेखनकार्य ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को पूर्ण किया। यह जैन वाङ्मय के इतिहास की एक अतिमहत्त्वपूर्ण घटना थी, जब परंपरा से चले आ रहे मौखिक आगम को लिपिबद्ध करके चिरस्थायी बना दिया गया था। इस लेख कार्य के उपरांत आचार्य भूतबलि ने लिखित ग्रंथों की द्रव्यश्रुत के रूप में पूजा की। तब से जैन-परंपरा में प्रतिवर्ष ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी तिथि को श्रुत-पंचमी पर्व के रूप में मनाया जाता है।[११] इसके बाद भूतबलि ने षट्खण्डागम की पुस्तकों को आचार्य पुष्पदंत के पास भेजा जिसे देखकर पुष्पदंत अत्यन्त आह्लादित हुए और उन्होंने भी उस श्रुति-निधि की आराधना की।

षट्खण्डागम के कर्ता :

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में स्पष्ट है कि षट्खण्डागम का तीर्थंकर महावीर स्वामी की देशना से साक्षात् सम्बन्ध है और वही उसके मूलकर्त्ता हैं। परन्तु द्रव्यश्रुत की रचना की अपेक्षा इसके उपदेशक आचार्य धरसेन और इसके रचनाकार आचार्यद्वय पुष्पदंत एवं भूतबलि सिद्ध होते हैं।

षट्खण्डागम का नामकरण और विषयवस्तु :

वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में इस ग्रन्थराज को 'खण्डसिद्धान्त' कहा है और खण्डों की संख्या छह निर्दिष्ट की है।[१२] धवला में ही वीरसेनाचार्य ने सिद्धान्त और आगम को एकार्थवाची कहा है।[१३] परन्तु इन्द्रनन्दि ने इसे श्रुतावतार में 'षट्खण्डागम' संज्ञा से अभिहित किया है।[१४]

इस षट्खण्डागम नामक ग्रन्थराज में जैन दर्शन के 'कर्म सिद्धान्त' से सम्बद्ध विषय का वर्णन करने वाले जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बंधसामित्तविचय, वेयणा, वग्गणा एवं महाबंध नामक छह खण्ड है। इसमें छह खण्ड होने के कारण ही इसका नाम षट्खण्डागम पड़ा। षट्खण्डागम का एक अन्य नाम 'सत्कर्मप्राभृत' भी प्राप्त होता है।[१५]

षट्खण्डागम की भाषा और परिमाण :

षट्खण्डागम की रचना प्राकृत भाषा में की गयी है और इसके परिमाण पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि- ''भूतबलि ने पाँच खण्डों के छह हजार सूत्रों को रचने के बाद महाबन्ध नामक छठवें खण्ड की तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की।''[१६] इस तथ्य से स्पष्ट है कि षट्खण्डागम अत्यन्त विशाल परिमाण वाला ग्रंथ है। अतः इसे ग्रन्थराज की संज्ञा देना उचित ही है।

षट्खण्डागम की विषयवस्तु का मूलस्रोत :

जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है कि इस ग्रंथ की विषयवस्तु का मूलस्रोत द्वादशांग आगम है और आगम की दीर्घकालीन मौखिक परम्परा में उसका बहुभाग नष्ट हो चुका था केवल बारहवें दृष्टिवाद अंग का कुछ अंश ही अवशिष्ट था।

दृष्टिवाद अंग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका नामक पांच भेद हैं।

इन पांच भेदों से पूर्व के चौदह प्रभेद हैं। पूर्व के चौदह प्रभेदों में से दूसरा प्रभेद अग्रायणी पूर्व ही षट्खण्डागम की विषय-सामग्री का मूलस्रोत है। षट्खण्डागम की विषय-सामग्री पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने लिखा है कि- ''अग्रायणी पूर्व के पूर्वान्त और अपरान्त आदि चौदह प्रकरण थे। इसमें पंचम प्रकरण का नाम चयन- लब्धि था, जिसमें बीस पाहुड विद्यमान थे। बीस पाहुडों में से चतुर्थ पाहुड का नाम कर्मप्रकृति था। इस कर्मप्रकृति पाहुड के कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों की विषयवस्तु को ग्रहण करके षट्खण्डागम के छह खण्डों की रचना हुई षट्खण्डागम का कुछ अंश दृष्टिवाद के दूसरे भेद सूत्र से एवं कुछ अंश पांचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्ति से उत्पन्न बताया है।[१७]

रचनाकाल :

डॉ. ज्योतिप्रसाद ने षट्खण्डागम का संकलन ई. सन् ७५ स्वीकार किया है।[१८] इस प्रकार अनेक विद्वानों की सम्मति है कि षट्खण्डागम का रचनाकाल ई. सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

षट्खण्डागम का मंगलाचरण :

इस ग्रन्थराज का एक वैशिष्टय यह भी है कि इस महान् ग्रन्थ का मंगलाचरण ''णमोकार मन्त्र'' सकल जैन समाज में सर्वश्रेष्ठ मन्त्र के रूप में समादरित है और इसे जैन धर्म का मूलमन्त्र एवं अनादिनिधन मन्त्र माना जाता है। इस महामंत्र का सर्वप्रथम लिखित उल्लेख इसी ग्रन्थराज के आदि में प्राप्त होता है। इस कारण षट्खण्डागम का अतिशय माहात्म्य है।

षट्खण्डागम के षट् खण्ड की विषयवस्तु :

षट्खण्डागम में जैन दर्शन के आधारभूत और मौलिक ''कर्मसिद्धान्त'' की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। जैनधर्म की मान्यता है कि सभी प्राणी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से आबद्ध हैं और इसी कर्म बंधन के कारण वे जन्म और मृत्यु के चक्र में पड़े हुए हैं। इन शुभ-अशुभ कर्मों का कर्ता और भोक्ता जीव ही है।

जीवात्मा अपने पुरुषार्थ, तप, ध्यान और संयम के द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त होकर परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। इसके उपरांत वह जन्म-मरण के चक्र से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है और पुनः संसार में उसका आगमन नहीं होता।

षट्खण्डागम में इन अष्टकर्मों और उनकी प्रकृतियों के बंध एवं उनके फल तथा उन्हें नष्ट करने की संपूर्ण प्रक्रिया निबद्ध है। षट्खण्डागम की संक्षिप्त विषयवस्तु निम्न प्रकार हैः-

१. जीवट्ठाण -

इस प्रथम खण्ड में जीव के गुण-धर्म और विभिन्नि अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व नामक आठ प्ररूपणायें तथा प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थान समुत्कीर्तन, प्रथम महादण्डक, द्वितीय महादण्डक, तृतीय महादण्डक, जघन्यस्थिति, उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति एवं गति-आगति नामक नौ चूलिकाएँ हैं।

२. खुद्दाबन्ध -

इस खण्ड में मार्गणाओं के आधार पर यह वर्णन किया गया है कि कौन सा जीव कर्मों का बन्धक है और कौन अबन्धक। इसमें स्वामित्व, काल, अन्तर, भंगविचय, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीव-काल, नाना जीव-अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम नामक ग्यारह अधिकार हैं।

३. बंधसामित्तविचय -

इसमें कर्मो की विभिन्न प्रकृतियों का बन्ध करने वाले स्वामियों का वर्णन है अर्थात् कितनी कर्म प्रकृतियाँ किस जीव के किस गुणस्थान तक बंधती हैं। साथ ही स्वोदय बंधरूप और परोदय बंधरूप प्रकृतियों की विवेचना भी की गयी है।

४. वेदना -

इस खंड में कर्मप्राभृत के चौबीस अधिकारों में से कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वारों का वर्णन है परन्तु वेदना अनुयोगद्वार की प्रधानता के कारण इसे वेदनाखण्ड कहा जाता है।

वेदनाखण्ड में वेदना की विवेचना निक्षेप, नय, नाम, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय, स्वामित्व, वेदना, गति, अनन्तर, सन्निकर्ष, परिमाण, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व नामक सोलह अधिकारों के माध्यम से की गयी है।

इस वेदनाखण्ड की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसके प्रारंभ में भी ग्रंथकार ने मंगलाचरण किया है जिससे ग्रंथ के आदि के साथ-साथ मध्य में मंगलाचरण करने की परंपरा भी ज्ञात होती है।

५. वग्गणा -

इस खण्ड में बन्धन के चार भेदों में से एक बंध पर प्रकाश डालते हुए दूसरे भेद बंधनीय को प्रधान अधिकार बनाया गया है। इसमें २३ प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन करते हुए कर्मबन्ध के योग्य वर्गणाओं पर विशेष प्रकाश डाला गया है। इस वर्गणा खंड में स्पर्श, कर्म और प्रकृति नामक तीन अनुयोगद्वारों का विशेष कथन है।

६. महाबंध -

यह खण्ड अत्यन्त विस्तृत है। इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में इस खण्ड का परिमाण तीस हजार श्लोक बतलाया है।[११] इसमें कर्मबंध के प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध नामक चारों भेदों का विशद विवेचन किया गया है।

षट्खण्डागम की टीकायें -

षट्खण्डागम का वैशिष्टय हम इस तथ्य से समझ सकते हैं कि इस ग्रंथराज पर जैन-परम्परा के लगभग सभी महान् आचार्यो ने टीकाओं की रचना की है। शास्त्रीय प्रमाणों में निम्न टीकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है-

१. परिकर्म टीका- इस टीका की रचना आचार्य कुन्दकुन्द (पद्मनन्दी) ने की थी। यह टीका षट्खण्डागम के तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण थी।

२. पद्धति टीका- इस टीका के रचनाकार शामकुंडाचार्य थे।

३. चूड़ामणि टीका- इसके रचनाकार तुम्बुलूराचार्य थे।

४. समन्तभद्राचार्यकृत टीका- समन्तभद्राचार्य ने षट्खण्डागम के पांचखण्डों पर अत्यन्त सुन्दर और मृदुल संस्कृत भाषा में ४८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची थी।

५. व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका- इसकी रचना आचार्य वप्पदेव ने की थी।

६.धवला टीका - आचार्य वीरसेन ने वाटग्राम में षट्खण्डागम की धवला नामक टीका की रचना की। धवला टीका प्राकृत और संस्कृत मिश्रित भाषा में ७२००० श्लोक प्रमाण है। डॉ. हीरालाल जैन ने इसके लेखन का समाप्तिकाल शक संवत् ७३९ (ई. सन् ८१६) निर्धारित किया है। धवला षट्खण्डागम के केवल पांच खण्डों पर ही लिखी गयी है, छठवें खण्ड महाबन्ध पर धवलाकार ने टीका नहीं लिखी। संभवतः छठे खण्ड पर टीका न लिखने का एक कारण इसका विशाल परिमाण रहा होगा।

ध्यातव्य है कि षट्खण्डागम की उपर्युक्त टीकाओं में से केवल धवला टीका ही उपलब्ध है और इसकी ताड़पत्रीय प्रतियाँ मूडबिद्री (कर्नाटक) के ''सिद्धान्तवसति'' जिनालय में संरक्षित हैं और इनको संपादित करके सोलह पुस्तकों में प्रकाशित किया जा चुका है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि प्राकृत और संस्कृत भाषायें भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली प्राचीनतम भाषायें हैं और इनमें उपलब्ध प्राचीनतम साहित्य में जहां एक ओर संस्कृत भाषा के साहित्य में वेद और महाभारत आदि की गणना की जाती है वहीं प्राकृत भाषा में उपलब्ध वाड्.मय में षट्खण्डागम का गौरवपूर्ण स्थान है।

जिस प्रकार महाभारत का परिमाण एक लक्ष श्लोक माना जाता है। उसी प्रकार षट्खण्डागम भी आज अपनी टीका सहित लगभग इतने ही विशाल परिमाण में उपलब्ध है परन्तु सांप्रदायिक वैमनस्यता के कारण कुछ विद्वान् भारतीय वाड्.मय में षट्खण्डागम के अपेक्षित स्थान को स्वीकारने में हिचकिचाते हैं, यह चिंतनीय है।

यद्यपि यह सत्य है कि षट्खण्डागम की विषयवस्तु जैनदर्शन के ''कर्मसिद्धान्त'' पर केन्द्रित है परन्तु इसके महत्व का अवमूल्यन नहीं होता क्योंकि इससे भारतीय दर्शन के एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त का संरक्षण तो हुआ ही है, वहीं दूसरी और भारतीय संस्कृति की प्राचीनतम भाषाओं प्राकृत और संस्कृत संरक्षण और संवर्द्धन में भी इस ग्रन्थराज और इसकी टीका धवला का अतुलनीय योगदान रहा है।

संदर्भ सूची -

१. तस्स मुहग्गदवयणं पुव्ववरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदिं परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।। नियमसार, ८, आ. कुन्दकुन्द।
२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ६,७ - आचार्य समन्तभद्र।
३. ...सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदिविहरदि त्ति। - षट्खण्डागम, १३/५५, सू. ८२
४. षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिका, डॉ. हीरालाल जैन, पृष्ठ ३९-४२
५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, भाग-२, पृ. ४७

६. धवला टीका - वीरसेनाचार्य।
७. श्रुतावतार - इन्द्रनन्दि।
८. श्रुतावतार, पद्य १३२-१३३, इन्द्रनन्दि।
९. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, भाग-२, पृ. ५२
१०. षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिका, डॉ. हीरालाल जैन, पृ. ३४
११. श्रुतावतार, पद्य १४३-१४४, इन्द्रनन्दि।
१२. धवला, वीरसेनाचार्य, पृ. ७१-७४
१३. धवला, वीरसेनाचार्य, पृ. २०
१४. श्रुतावतार, पद्य १३७, इन्द्रनन्दि।
१५. षट्खण्डागम की शास्त्रीय भूमिका, डॉ. हीरालाल जैन, पृ. ८८
१६. श्रुतावतार, पद्य १३७-१३९, इन्द्रनन्दि।
१७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, भाग-२, पृ. १३
१८. The Jaina Sources of the History of Ancient India, p.114
१९. श्रुतावतार, पृ १३९, इन्द्रनन्दि।

-शोध अध्येता, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृतविद्या धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

<u>बोधकथा</u>

भाग्य की देवी और दुर्भाग्य का देवता

भाग्य की देवी और दुर्भाग्य के देवता में बहस छिड़ी कि उनमें कौन ज्यादा खूबसूरत है ? फैसला के लिए एक स्त्री को चुना गया। वह भी पशोपेश में हो गयीं। यदि भाग्य की देवी को सुन्दर बताते हैं तो दुर्भाग्य का देवता उसके जीवन को तबाह कर देगा और यदि दुर्भाग्य के देवता को सुन्दर कहती हूँ तो भाग्य की देवी उसे छोड़कर चली जायेगी।

उसने एक उपाय सोचा कि फैसला लेने के पहले आप दोनों घर में एक बार प्रवेश करें और थोड़ी देर रहकर बाहर आयें। दोनों परेशान, यह कौन सा तरीका है बुलाने का ? आखिर में स्त्री ने अपना फैसला सुनाया-

"भाग्य की देवी तब ज्यादा सुन्दर लगती है, जब घर में प्रवेश करती हैं और दुर्भाग्य का देवता तब ज्यादा सुन्दर लगता है जब वह घर से जा रहा होता है। कथन सही और व्यावहारिक था। दोनों इस फैसले से संतुष्ट भी थे। क्योंकि सुन्दरता का विशेषण दोनों के साथ जोड़कर उन्हें देखा गया, अन्तर केवल सापेक्षता का था।

-संकलित

जैनधर्म में शिक्षा व्यवस्था

- डॉ. शिव कुमार शर्मा

वर्तमान की जड़ें अतीत में विद्यमान रहती हैं। भारत का अतीत गौरवमय रहा है, इससे वर्तमान आलोकित हुआ है और भविष्य के प्रति आस्था उपजी है। भारत का अतीत सामाजिक सांस्कृतिक तथा आर्थिक कारकों से उतना प्रभावित नहीं रहा है जितना कि यहां की संस्कृति ने उसे प्रभावित किया है। यहां पर मानव का जीवन-दर्शन ''सर्वभूत हिते रताः'' रहा है। यहां की संस्कृति ने विश्व बन्धुत्व तथा अतिमानवता का स्वप्न देखा है, स्वप्न को साकार किया है। अनादि काल से शिक्षा, भारत में स्वयं के लिये नहीं, अपितु धर्म के लिए प्राप्त की जाती थी। यह मुक्ति और आत्म-बोध का साधन थी और जीवन का महान् लक्ष्य मुक्ति था। डॉ. अल्तेकर के अनुसार - ''वैदिक युग से लेकर अब तक शिक्षा, प्रकाश के स्रोत के रूप में रहा है- और वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा मार्ग आलोकित करता रहा है। प्राचीनतम वैदिक काव्य के जन्म से ही हम भारतीय साहित्य को पूर्णरूपेण धर्म से प्रभावित देखते हैं। डॉ. एफ. डब्ल्यु. थामस ने लिखा है - ''भारत में शिक्षा कोई नई बात नहीं है। संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है, जहाँ पर ज्ञान के प्रेम की परंपरा, भारत से अधिक प्राचीन एवं शक्तिशाली हो। शिक्षा ज्ञान है और वह मनुष्य का तीसरा नेत्र है।'' ज्ञानम् तृतीयं मनुजस्य नेत्रम्''।[१] शिक्षा समुदाय या व्यक्तियों द्वारा परिचालित वह सामाजिक प्रक्रिया है, जो समाज को उसके द्वारा स्वीकृत मूल्यों एवं मान्यताओं की ओर अग्रसर करती है। सांस्कृतिक विरासत और जीवन के ज्ञान का अर्जन ही शिक्षा है।[२] जैन दर्शन में द्रव्य की विस्तृत व्याख्या की गयी है। द्रव्यों के प्रकार एवं गुणों का जितना विशद् वर्णन जैन दर्शन में मिलता है,उतना अन्यत्र नहीं। आत्मा और काल द्रव्य के जिस स्वरूप एवं गुणधर्म की चर्चा जैन दर्शन में की गयी है, उस पर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट हो चुका है। जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित मनुष्य जीवन के अन्तिम उद्देश्य के बारे में लोग एक मत हो या न हो परन्तु उसके द्वारा निश्चित आचार संहिता से आज सारा संसार सहमत है। इस आचरण की शिक्षा हेतु जैन दर्शन ने शिक्षा को आवश्यक माना है।[३]

शिक्षा संस्थान -''शिक्षा के केन्द्रों में आश्रम एवं विद्यालयों का वर्णन पार्श्वनाथ-चरित में हुआ है। आश्रम नगर से दूर वन के शान्त वातावरण में होते थे। कमठ नगर-निर्वासन के बाद जिस आश्रम में पहुंचा वह इसी तरह का शिक्षण संस्थान जान पड़ता है। यह आश्रम पोदनपुर नगर से दस योजन दूर भूताचल पर्वत पर स्थित था। इन आश्रमों में केवल तपस्वी लोग ही शिक्षित नहीं थे, वरन् वहाँ के पशुपक्षी भी शिक्षित थे।[४]

काव्यों में तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम वे जो तपस्वियों के आश्रम में गुरुकुल के रूप में प्रवर्तमान थी। इस प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में

प्रायः ऋषि कुमार ही अध्ययन करते थे।[५] दूसरे प्रकार की वे शिक्षा संस्थाएं थीं जो पाठशाला के रूप में चलती थी जिनमें एक से अधिक अध्यापक नहीं होते थे। प्रत्येक पाठशाला में एक ही अध्यापक रहता था। वह सामान्य रूप से लिपिज्ञान गणित एवं भाषा आदि का बोध कराता था।[६] तीसरे प्रकार की वे शिक्षा संस्थायें थीं जिनका स्वरूप आजकल के महाविद्यालयों के समान था। जिनमें प्रत्येक विषय के लिये पृथक्-पृथक् अध्यापक रहते थे। शान्तिनाथ चरित में वर्णित कपिल जिस सत्यकिके विद्यालय में पहुंचा था, उसमें कई अध्यापक थे और वहाँ अनेक विषयों का अध्यापन होता था।[७] पार्श्वनाथ चरित में राजकुमारों की शिक्षा के संबन्ध में कुछ भी निर्देश नहीं है कि उनकी शिक्षा कहां होती थी?[८] किन्तु क्षत्र चूडामणि के अध्ययन से पता चलता है कि राजा महाराजाओं के बालक अपने यहाँ ही गुणी शिक्षक को रखकर अध्ययन करते थे। हेमाभा नगरी के दृढमित्र राजा के पुत्र सुमित्र आदि ने जीवन्धर को धनुर्विद्या के लिये शिक्षक था। दृढमित्र राजा ने जीवन्धर कुमार से राजकुमारों को विद्या पढ़वाने के लिये विनयपूर्वक प्रार्थना की थी।[९] घर पर शिक्षक को रखकर शिक्षा दिलाना एक चतुर्थ शिक्षा संस्था के समान था। यह कुछ ही दिनों तक रहती थी।[१०] जैन धर्म में पुरुष शिक्षा के साथ-साथ नारी शिक्षा का भी उल्लेख मिलता है। क्षत्रचडामणि में आया है कि गुणमाला ने जीवन्धर के पास प्रेमपत्र भेजा था तथा प्रत्युत्तर में जीवन्धर ने भी प्रेमपत्र लिखा था जिसे पढ़कर वह बहुत प्रसन्न हुई थी।[११]

पाठ्यक्रम - जैनदर्शन में शिक्षा के जो उद्देश्य निश्चित किये गये हैं उन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है- व्यावहारिक और आत्मज्ञान सम्बन्धी उद्देश्य। व्यावहारिक जीवन के लिए पाठ्यचर्या निर्माण के पांच सिद्धान्तों का उल्लेख ''व्यवहार सूत्र'' में मिलता है- छात्र की परिपक्वता, छात्र की क्षमता, छात्र की आयु, क्रमागतता एवं उपयोगिता का सिद्धान्त और आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए जैन दर्शन, रत्नत्रय और सज्जीवन पर बल देता है। इस आधार पर जैन-दर्शन ने भौतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भाषा व्याकरण, गणित, भौतिक विज्ञान, स्थिति-विज्ञान, गति-विज्ञान, शून्य विज्ञान, यांत्रिकी और विभिन्न कलाओं का समावेश किया है। जैन आगमों में ७२ कलाओं का वर्णन है, इनमें से छात्र अपनी क्षमता के अनुसार दक्ष हो सकता है। आध्यात्मिक विकास के लिये तीर्थंकरों के उपदेश एवं जैन आगमों के अध्ययन एवं सज्जीवन पर बल दिया है। सज्जीवन तो सभी के लिए आवश्यक है। अतः आचरण की शिक्षा पाठ्यचर्या का अनिवार्य अंग रहा है। आचरण की शिक्षा में रत्नत्रय अर्थात्- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र और पांच महाव्रत अर्थात् सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का प्रशिक्षण अनिवार्य होना चाहिए।[१२] प्राप्त संकेतों के अनसुार शिक्षा दो भागों में विभक्त थी - शास्त्र शिक्षा और शस्त्र शिक्षा। राजकुमारों के लिये शस्त्र शिक्षा भी अनिवार्य थी। पाठ्य विषयों के अंतर्गत व्याकरण, वेद, राजनीति, जैनागम, ध ार्मशास्त्र आदि का वर्णन पार्श्वनाथ चरित्र में आया है। सभी शास्त्रों के अध्ययन में व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। अतएव छात्र को सर्वप्रथम व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी।[१३] क्षत्रचूड़ामणि में व्याकरण वेद, राजनीति, धनुर्विद्या, मन्त्रतन्त्र विद्या, जैनागम, गानविद्या, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि की शिक्षा का उल्लेख मिलता है।[१४] द्विज वेदाध्ययन करते थे। भूताचल पर

स्थित आश्रम में द्विजों को वेदाध्ययन में संलग्न वर्णित किया गया है। यहां तक कि वहां पर रहने वाले शुकशारिका भी वेदाध्ययन के पश्चात् उसका कर्ण रसायन अनुवाद करते थे।[१५] राजनीति में चार प्रकार की राज विद्याओं- साम, दाम, दण्ड और भेद का अध्ययन कराया जाता था। क्षत्र-चूड़ामणि में, हवन सामग्री को जूठा करने के कारण ब्राह्मणों द्वारा अधमरे किये कुत्ते का प्रसंग तथा पार्श्वनाथ चरित में आश्रम में होम आदि के होने के वर्णन से कहा जा सकता है कि कर्मकाण्ड की भी शिक्षा उस समय दी जाती थी। जैन शास्त्रों का अध्ययन भी छात्रों को कराया जाता था। जीवन्धर को उनके गुरु आर्यनन्दी ने इसी तरह की लोकपाल नामक राजा की कथा सुनाई थी।[१६] गृहस्थ-धर्म की शिक्षा का उल्लेख जैन साहित्य में आया है। गान विद्या का वर्णन भी आया है। शिक्षा में सभी प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन कराया जाता था।[१७]

शिष्य के गुण एवं विद्यारम्भ - प्राचीन काल से ही, शिक्षा किसे दी जाये? इसका वर्णन अनेक काव्यों एवं पुराणों में भी हुआ है। हनुमान जी ने भी उत्तम शिष्या घृता को नृत्य की शिक्षा, उसके अनेक गुणों को जाँच कर ही दी थी। वादीभसिंह सूरि ने आदर्श शिष्य में गुरुभक्ति, संसार से भय, विनय, धर्म, कुशाग्रबुद्धि, शान्त परिणामी, आलस्यहीन और शिष्टता को आवश्यक माना है।[१८] योग्य शिष्य को शिक्षा देना ही सफल माना गया है। अतः शिक्षा तत्त्वों में शिष्यों की योग्यताओं का विवेचन भी आवश्यक है। कुपात्र को शिक्षा देने का कितना ही प्रयास क्यों न किया जाये, वह सब निष्फल है। बुद्धि-पूर्वक अगणित प्रयत्न करने पर भी जिस प्रकार बालुका कणों से तेल निकलना कठिन है, उसी प्रकार अयोग्य शिष्य को शिक्षा देना व्यर्थ है। क्षयोपशमजन्य प्रतिभा के साथ अध्यवसाय भी आवश्यक है। प्रतिभा संपन्न छात्र भी आलस्य और विलासिता में छूबा रहेगा तो वह कदापि विद्वान् नहीं बन सकता।[१९] पार्श्वनाथ चरित्र में कुमार रश्मिवेग में विनय, नम्रता, गुरु से अनुराग, चंचलता का राहित्य आदि गुणों का चित्रण किया गया है।[२०]

विद्यारम्भ से तात्पर्य वर्णमाला के ज्ञान और विद्याध्ययन से तात्पर्य वर्णमाला के ज्ञान के बाद होने वाले अध्ययन से है। लिपि और वर्णमाला के ज्ञान के बाद ही विद्याध्ययन आरम्भ होता है। कुमार रश्मिवेग का वर्णन करते हुए पार्श्वनाथ चरित में कहा गया है कि उसके समान उम्र वाले बालकों के साथ विनयपूर्वक गुरु के द्वारा पढ़ाई विद्याओं को अलग-अलग शीघ्र ही सीख लिया था क्योंकि गुण भव्य-पुरुष के आगे-आगे स्वयं चलते हैं।[२१]

गुरु शिष्य सम्बन्ध - इतिहास इसका साक्षी है कि भारत में गुरुशिष्य- सम्बन्धों की लम्बी श्रंखला है। ऋषि विश्वामित्र के शिष्य राम, सन्दीपन गुरु के शिष्य कृष्ण-सुदामा, द्रोणाचार्य अर्जुन, वरतन्तु कोत्स आदि उत्तम संबन्धों के उदाहरण हैं। जैनदर्शन शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में सेवाभाव का पक्षधर है। उसकी दृष्टि से दानों को एक दूसरे के हितार्थ सदैव तत्पर रहना चाहिए। जैनाचार्य शिष्य से यह अपेक्षा करते हैं कि शिक्षक के क्रोधित होने पर वे सहन करें। उनकी सेवा करें, उनके आदर्शों का पालन करें। गुरुभक्ति को विद्यार्जन में आवश्यक कारण माना गया है।[२२] जो शिष्य अपने गुरु की सेवा शुश्रुषा, विनय, भक्ति और

आज्ञा का पालन करता है, वह सभी प्रकार की विद्याओं को प्राप्त कर लेता है। क्षत्रचूडामणि में आया है कि "जिस प्रकार बहुमूल्य रत्न से भूसे का ढेर खरीदना साधारण सी बात है, उसी प्रकार निष्कपट भाव से विहित गुरु भक्ति से भी जब परम्परया मुक्ति तक प्राप्त हो सकती है, तो अन्य लौकिक कार्यो की पूर्ति होना तो तुच्छ बात है।[२३] गुरु के साथ द्रोह करना शिष्य के लिए अनुचित है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शिष्य में गुरुसेवा, विनय, ब्रह्मचर्य,, एकाग्रता, निरलसता एवं परिश्रम इन गुणों का होना परमावश्यक है। जिस प्रकार शिष्य में गुणों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार गुरु में भी वैदुष्य, सहानुभूति आदि गुणों का होना आवश्यक है। क्षत्रचूडामणि में गुरु का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि - "जो रत्नत्रयधारक, श्रद्धावान, ज्ञानी, चरित्रवान, सज्जन, पात्रप्रेमी, परोपकारी, धर्मरक्षक और जगत्तारक होता है वही यथार्थ गुरु होता है। किन्तु जिसमें उक्त गुण नहीं होते वह यथार्थ गुरु कहलाने का अधिकारी नहीं होता।[२४] गुरु को विषय का पण्डित होने के साथ-साथ चरित्रगुण से विभूषित माना गया है। जिसका चरित्र स्वच्छ नहीं, वह शिक्षा क्या देगा? ज्ञानी होने के साथ चरित्रनिष्ठ होना भी गुरु के लिये अनिवार्य है। संस्कृत जैन काव्यों के गुरु निर्लोभी, निःस्वार्थी और कर्त्तव्यपरायण परिलक्षित होते हैं। शान्तिनाथ चरित में आया है कि समस्त शास्त्र आगम पुराण और इतिहास आदि की जानकारी गुरु के लिए जरूरी है।[२५] गुरु के विषय में कहा गया है -

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं।
तत्पदं दर्शित येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।।

प्राचीन परम्परा के अनुसार जब शिष्य की शिक्षा संपन्न हो जाती थी तो वह गुरु को गुरु दक्षिणा देता था। विद्वान् कोत्स ने भी शिक्षा संपन्न होने पर अपने गुरु वरतन्तु को गुरु दक्षिणा देने के लिये राजा रघु से १४ करोड़ स्वर्ण मुद्रायें माँगी थी।[२६] इसी प्रकार क्षत्रचूडामणि के नायक जीवन्धर से आर्यनन्दी गुरु ने - हे वत्स! एक वर्ष तक युद्ध नहीं करो,यही गुरु दक्षिणा है।[२७] जीवन्धर ने गुरु दक्षिणा की शर्त के अनुसार एक वर्ष तक काष्ठांगार से युद्ध नहीं किया।

जैनदर्शन और शिक्षण विधि - भौतिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन आगमों में इन्द्रियानुभव, प्रयोग, श्रुति और स्वाध्याय विधियों का उल्लेख मिलता है। इन्द्रियों द्वारा अनुभव करके, ज्ञान प्राप्त करना इन्द्रियानुभव कहलाता है। इसे आज की भाषा में प्रत्यक्ष विधि कहते हैं। प्रयोग विधि में स्वयं करके सीखा जाता है। यह विधि कला की शिक्षा के लिये उपयुक्त विधि होती है। श्रुति विधि में गुरु से सुनकर ज्ञान प्राप्त किया जाता है। आज की स्थिति में गुरु के साथ-साथ रेडियो व टेलीविजन द्वारा भी सुना और सीखा जाता है। स्वाध्याय विधि में पाठ्य-सामग्री से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन करके सीखा जाता है। स्वाध्याय जैन ग्रन्थों में पांच पद बताये गये हैं, वाचना (पाठ्य साहित्य का पठन पाठन), पृच्छना (जो कुछ पढ़ा है और समझा है उस पर गुरु से प्रश्न पूछकर शंकाओं का समाधान करना), परिग्रहण (पठित की आवृत्ति करना), अनुप्रेक्षा (पठित वस्तु पर पुनः चिन्तन और मनन करना) एवम् धर्मकथा (इस प्रकार प्राप्त ज्ञान की अन्यान्य अधिकारी व्यक्तियों से चर्चा करना)। आध्यात्मिक ज्ञान

प्राप्त करने के लिए श्रुति, स्वाध्याय और तपस्या विधियों का उल्लेख मिलता है। श्रुति और स्वाध्याय विधियों से द्रव्य (जीव, अजीव और काल) का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है परन्तु जीव को कर्मशून्यकर उसके वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए तपस्या की आवश्यकता होती है। तपस्या करने वाले को पांच महाव्रतों का कठोरता से पालन करना होता है और चार कषायों को पूर्ण रूप से त्यागना होता है।[२८]

जैनदर्शन और अनुशासन -जैन दर्शन में शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के लिए अत्यन्त कठोर अनुशासन का प्रावधान है। महावीर स्वामी ने अनुशासन में तप और संयम को बड़ा महत्त्व दिया है। उत्तराध्ययन-सूत्र में इसे एकरूपक द्वारा समझाया गया है, जो इस प्रकार है - ''तपस्या को अग्नि बनाओ, आत्मा को यज्ञस्थल, योग की कुलछी लो, कर्म को ईंधन बनाओ, संयम रूपी शान्ति का पाठ करो और इस प्रकार प्रशस्त होम करो।[२९] कैवल्यज्ञान के इच्छुक के लिए तो पांच महाव्रतों के पालन और चार कषायों के त्याग का कठोरता से पालन करना आवश्यक है। इसी को जैनधर्म में सच्चा अनुशासन कहा गया है। किन्तु इस अनुशासन को आत्मानुशासन कहा जाता है। जैन-धर्म आचार्य के पद पर उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त करने का आदेश देता है जो स्वेच्छा से महाव्रती हो। आचार्यों से प्रभावित होकर उपाध्याय वैसा आचरण करेंगे और इन दोनों महाव्रतियों से प्रभावित हो तो श्रावक और श्रमण भी वैसा ही आचरण करेंगे। जैन दर्शन यह व्यवस्था देता है कि किसी शिक्षार्थी से आचरण सम्बन्धी कोई भूल हो जाए तो वह उसे अपने आचार्य के सम्मुख स्वीकार करेगा और आचार्य उसे प्रायश्चित व्यवस्था देगा परन्तु यह प्रायश्चित (दण्ड) किसी भी स्थिति में अति कठोर नहीं होगा।

दीक्षा - व्रतों का धारण करना दीक्षा है। अर्थात् व्रत ग्रहण करने के लिए उन्मुख हुए पुरुष की प्रवृत्ति दीक्षा कही जाती है।[३०] क्षत्र-चूडामणि में दीक्षा लेने का वर्णन आया है। लोकपाल राजा ने मेघावलोकन से विरक्त होकर राज्य, पुत्र को सौंपकर दिगम्बर जैन-मुनि दीक्षा धारण की थी।[३१] क्षत्रचूडामणि के एकादश लम्ब के १७वें तथा १८वें श्लोक में भी दीक्षा का उल्लेख है। इससे यही प्रतीत होता है कि उस समय आज की ही तरह संसार से वैराग्य होने पर जैन धर्मावलम्बी दीक्षा ग्रहण करते थे।

विद्या की महिमा शास्त्रों में वर्णित है। जिसकी महत्ता कवि भर्तृहरि ने इस प्रकार बतायी है। ''विद्या मनुष्य का अधिक रूप है, ढका हुआ गुप्त धन है। विद्या भोगों को देने वाली और यश तथा सुख को उत्पन्न करने वाली है। विद्या गुरुओं की गुरु है। विदेश जाने में विद्या आत्मीय जन है। विद्या परम देवता है। विद्या राजाओं में पूजित है, न कि धन। विद्या से रहित मनुष्य पशु है।[३२] कवि वादीभसिंह ने भी गुरु आर्यनन्दी के द्वारा विद्या की महत्ता वर्णित की है। गुरु आर्यनन्दी जीवन्धर को विद्या का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि- ''विद्या- धन का प्रभाव अचिन्त्य है। व्यय करने पर इसकी वृद्धि होती है, चोर तथा बन्धु आदि द्वारा यह छीनी भी नहीं जा सकती है और इच्छापूर्ति में भी यह रामबाण के समान है। विद्वत्ता से मनुष्य को कुलीनता, धन-संपत्ति, मान्यता आदि ही नहीं प्राप्त होते अपितु जगह-जगह आदर भी प्राप्त होता है। विद्वत्ता प्राणियों के जीवन पर्यन्त प्रशंसनीय होती है। जिस प्रकार दूध पौष्टिक होने के साथ औषधि स्वरूप भी है, उसी प्रकार विद्वत्ता भी लौकिक प्रयोजन साधक होती हुई मोक्ष का

कारण भी होती है।[३३] अन्त में यही कहा जा सकता है कि विद्या पढ़ने का फल है हेयोपादेय (कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की जानकारी प्राप्त करना) का परिज्ञान होना। किन्तु पढ़-लिखकर भी यदि हेयोपादेय का ज्ञान नहीं हो तो विद्याभ्यास करना विफल ही समझना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि जैन धर्म में शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी का महत्त्व विस्तार से, अनेक ग्रन्थों में वर्णित है। लेखक का यह जैन धर्म में शिक्षा व्यवस्था जानने की जिज्ञासा को शान्त करने का एक विनम्र प्रयास है।

*****

संदर्भ :

१. आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें पृष्ठ-१ एवं ३
२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृष्ठ-५५५
३. शैक्षिक चिंतन एवं प्रयोग पृष्ठ-१६५
४. शाखा मृगा यत्र गृहीतशिक्षा नैसर्गिकं चापलमुत्सृजन्तः।
कृषन्ति मार्गाय नियोगदृष्ट्या तपोभृतामन्धकहस्तयष्टी।।
द्विजैरहयाध्ययनस्य पश्चादनन्तरं पंजर वासितानाम्।
यत्रानुवादः शुकशारिकाणामाकर्ण्यते कर्णरसायन श्रीः।। पार्श्वनाथचरित २/७६-७७
५. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान पृष्ठ-५५९
६. अथ विद्यागृहंकिञ्चदासाद्य सखिमण्डितः।
पण्डिताद्विश्वविद्यायामध्यगीष्टाति पण्डितः।। क्षत्रचूडामणि २/१
७. शान्तिनाथ चरित १/१११
८. पार्श्वनाथ चरित का समीक्षात्मक अध्ययन पृष्ठ-२६५
९. सुतविद्यार्थमत्यर्थ पार्थिवस्तमयाचत।
आराधनैक सम्पाद्या, विद्या न हयन्यसाधना।। क्षत्रचूडामणि- ७/७४
१०. क्षत्रचूडामणि : एक अध्ययन पृष्ठ-१५२
११. मुमुदे गुणमालापि, दृष्टवा पत्रेण पत्रिणाम्।
स्वस्यैव सफलो यत्नः, प्रीतये हि विशेषतः।। क्षत्रचूडामणि ४/४३
१२. शैक्षिक चिन्तन एवं प्रयोग पृष्ठ-१६६
१३. पार्श्वनाथ चरित - ५/४
१४. क्षत्रचूडामणि १/११२
१५. पार्श्वनाथ चरित २/७७
१६. क्षत्रचूडामणि २३/६-२८
१७. नेमि निर्वाण ६/१२
१८. गुरुभक्तो भवाद्भीतो, विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्त-स्वान्तो ह्यतन्द्रालुः, शिष्ट शिष्यो यमिष्यते।। क्षत्रचूडामणि २/३१
१९. आदि पुराण में प्रतिपादित भारत पृष्ठ-२६४
२०. पार्श्वनाथ चरित- ४/२७
२१. वही ४/२८
२२. शैक्षिक चिन्तन एवं प्रयोग पृष्ठ-१६८

२३. गुरुभक्ति : सती मुक्त्यै, क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकी मूल्यरत्नेन, दुर्लभः किं तुषोत्करः।। क्षत्रचूडामणि २/३२

२४. वही २/३०

२५. अशेष शास्वागमतत्त्वदर्शिनां- शान्तिनाथ चरित १/१२९

२६. निर्बन्धासंजातकषार्थ कार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहयुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटिश्चतसोदश चाहरेति।। रघुवंश-५/२१

२७. क्षत्रचूडामणि - २/३९

२८. शैक्षिक चिन्तन एवं प्रयोग पृष्ठ-१६६-१६७

२९. उत्तराध्ययन सूत्र

३०. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत- पृष्ठ-१६७

३१. क्षत्रचूडामणि- २/१०

३२. विद्या नाम नरस्य रुपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्याभोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरु।
विद्या बन्धुजनो विदेश-गमने विद्या परम देवता,
विद्या राजसु पुजिता नहि धनं विद्याविहीन पशुः।। नीतिशतक-२०

३३. क्षत्रचूडामणि- २/२५-२७

-प्रधानाचार्य
नेहरू स्मारक इण्टर कालेज, साकीपुर,
ग्रैटर नोयडा (उ. प्र.)

लेखकों के लिए सूचना

१. विद्वान लेखकों से निवेदन है कि वे अपने मौलिक एवं अप्रकाशित शोधालेख कम्प्यूटर टाइप में सी.डी के साथ प्रकाशनार्थ भेजें।

२. हस्तलिखित आलेख सुस्पष्ट एवं सुन्दर लिपि में होना चाहिए। फोटोकापी वाले आलेख स्वीकार नहीं किये जायेंगे।

३. आपके द्वारा भेजा गया शोधालेख यदि किसी अन्य पत्रिका में प्रकाशित हो जाये तो उसकी सूचना तत्काल 'अनेकान्त' वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज नई दिल्ली को देने की कृपा करें।

- संपादक

जैन आगमों में विभिन्न मतवाद एवं उनकी उत्पत्ति के कारण

- डॉ. वन्दना मेहता

वेद से लेकर उपनिषदों तक भारतीय चिंतनधारा अपने उन्मुक्त प्रवाह में बह रही थी। अनेक आश्रमों, उपवनों, जंगल अथवा विहार स्थलों में अनेक ऋषि-मुनि, परिव्राजक आदि अपने-अपने विचारों, मतों को शिष्यों और जिज्ञासु के समक्ष रख रहे थे। किन्तु उन विचारों की कोई सुनिश्चित व्यवस्था नहीं थी अर्थात् श्रुत परम्परा के रूप में ही ये विचार चल रहे थे।

उपनिषदों के काल से ही वैदिक धर्म विरोधी दार्शनिक मतों का अस्तित्व प्रमाणित होता है किन्तु इस काल के बाद जो समय आया, वह दार्शनिक मतवादों के प्रखर अभ्युदय का युग था। यह स्थिति न केवल भारतवर्ष में थी अपितु सम्पूर्ण विश्व में देखी जा सकती थी, जहां इन लोगों ने धार्मिक और दार्शनिक श्रद्धा का मूलोच्छेद कर डाला। इन विरोधी मतवादों की अधि ाक संख्या भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस युग के इतिहास के साधन नितान्त स्वल्प हैं, परन्तु जो कुछ आज उपलब्ध है, उसी से युग में सक्रिय विरोध की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है।

भारत की सभी दार्शनिक परंपराओं में भिन्न-भिन्न महत्त्वपूर्ण पहलुओं को लेते हुए अनेक वादों का प्रचलन हुआ, जिनका भारतीय चिन्तन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन चिन्तकों ने गहराई में जाकर जीवन और जगत् से संबन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने रखे।

यह मानवीय स्वभाव है कि वह जो कुछ समझता है, उसे व्यक्त करना चाहता है, उसे शब्दों के रूप में प्रकट करने में उत्सुक रहता है। ऐसे में किसी धार्मिक संघ के नेता या प्रमुख होते हैं, वे अपने द्वारा मान्य सिद्धान्त को दुनिया में फैलाना चाहते हैं। इसलिए वे अपने द्वारा मान्य मतों को दुनियाँ में प्रचारित करते और संघ/संगठन का निर्माण करते हैं। जैन आगमों में जैसे सूत्रकृतांग, भगवती, राजप्रश्नीय आदि ग्रन्थ, बौद्ध ग्रन्थों में दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, उदान आदि उपनिषदों में श्वेताश्वतर, मैत्रायणी, बृहदारण्यक आदि तथा वैदिक परंपरा के ही महाभारत आदि ग्रंथ भी एतद्विषयक प्रचुर सामग्री उपलब्ध कराते हैं। वहाँ पूरकता और प्रामाणिकता के लिए उपयोगी सामग्री प्राप्त होती है। जिससे जैन तथा बौद्ध धर्म के तत्कालीन स्वरूप का भी पता चलता है। इन्होंने विरोधी मतों में सामंजस्य स्थापित करने का पूरा प्रयत्न किया।

'वाद' शब्द के अन्तर्गत सैकड़ों प्रकार हैं। किसी भी शब्द के साथ 'वाद' शब्द लगा देने से एक प्रकार का 'वाद' एक विशेष मत, संकेतित हो जाता है। जैसे आजकल अंग्रेजी में 'इज्म'; शब्द जोड़ देने से एक-एक दर्शन में बहत-बहुत वादों के भेद अंतर्गत हो रहे हैं। वाद

शब्द संस्कृत में भ्वादिगण् के अंतर्गत निरूपित परस्मैपदी वद् धातु से घय् प्रत्यय लगकर बनता है। वद् धातु बोलने के अर्थ में प्रयुक्त है। भाषाशास्त्र के अनुसार वाद शब्द का सामान्य अर्थ किसी विषय पर आख्यान करना है। इसके लक्षणागम्य अर्थ के अनुसार किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित एक दार्शनिक या तात्विक परम्परा को वाद कहा जाता है।

जैन दर्शन और उसके तात्त्विक चिन्तन का मूल, आगम में निहित है। जैन आगमों में भारतीय परंपरा के विभिन्न मत-दर्शन के ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख है जिनका भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अपना वैशिष्ट्य है। यद्यपि जैन आगम श्रमण आचार का ही ज्यादा प्रतिपादन करते हैं तथापि आगमों में तत्कालीन समाज, राजनीति, अर्थनीति, सांस्कृतिक चिन्तन, तथा विभिन्न धर्मीय परम्पराओं अथवा अन्यतीर्थिक मतवादों से संबन्धित चिन्तन भी मुखर हुआ है।

महावीर युगीन भारतवर्ष विभिन्न मत, संप्रदाय, वादों एवं मान्यताओं से संकुल था। कहा जाता है कि उस समय ३६३ मतवाद अस्तित्व में थे। जो कि चार समवशरण-अक्रियावादी (१८०), क्रियावादी (८४), अज्ञानवादी (६७) और विनयवादी (३२) में बंटे हुए थे, ऐसा जैन आगम और उसके व्याख्या साहित्य से ज्ञात होता है।[१] उनमें से प्रमुख रूप से पंचभूतवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, एकात्मवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, क्षणिकवाद (पंचस्कन्थ तथा चतुर्धातुवाद के अंतर्गत) तथा नियतिवाद आदि प्रमुख मतवाद थे। इनको लेकर वे धर्मनायक जनसमूह में बोलते, उपदेश करते थे। इसीलिए ये विषय वाद का रूप ले चुके थे, ये वाद तब के है, जब तद्गत सिद्धान्त किसी परिपूर्ण दर्शन का रूप प्राप्त किये हुए नहीं थे। अतः व्याख्याकारों-भद्रबाहु द्वितीय, जिनदासगणी महत्तर, शीलांकसूरि, अभयदेवसूरि आदि ने विभिन्न वादों को चार्वाक, सांख्य, न्याय, बौद्धादि विभिन्न दर्शनों के साथ बड़ी ही कुशलता के साथ जोड़ा है।

सूत्रकृतांग में श्रमण ब्राह्मण मतों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे- १. वैदेही नमि, २. रामगुप्त, ३. बाहुक, ४. तारागण, ५. असित देवल, ६. द्वैपायन, ७. पाराशर[२], ऋषिभाषित (तीसरी शताब्दी) में पैंतालीस ऋषियों- १. देवनारद, २. वज्जीपुत्र (वात्सीपुत्र), ३. असित देवल, ४. अंगिरस, भारद्वाज, ५. पुष्पशालपुत्र, ६. वल्कलचीरी, ७. कुम्मापुत्त, ९. महाकाश्यप, १०. तेतलीपुत्र, ११. मंखलीपुत्र, १२. याज्ञवल्क्य (जण्णवक्क), १३. मेतेज्ज भयाली, १४. बाहुक, १५. मधुरायण, १६. शैर्यायण (सौरयायण), १७. विदुर, १८. वारिषेणकृष्ण, १९. आरियायण, २०. उत्कट (भौतिकवादी), २१. गाथापतिपुत्र तरुण, २२. गर्दभाल (दगभाल), २३. रामपुत्त, २४. हरिगिरि, २५. अम्बड परिव्राजक, २६. मातंग, २७. वारत्तक, २८. आर्द्रक, २९. वर्द्धमान, ३०. वायु, ३१. पार्श्व, ३२. पिंग, ३३. महाशालपुत्र अरूण, ३४. ऋषिगिरि, २५. उद्दालक, ३६. नारायण (तारायण), ३७. श्रीगिरि, ३८. सारिपुत्र (सातिपुत्र), ३९. संजय, ४०. द्वैपायन (दीवायण), ४१. इन्द्रनाग (इंदनाग), ४२. सोम, ४३. यम, ४४. वरुण एवं ४५. वैश्रमण के वचन संकलित हैं। इसमें सूत्रकृतांग के रामपुत्र का उल्लेख ऋषिभाषित के तेइसवें अध्ययन में, बाहुक का चौदहवें अध्ययन, तारागण का छत्तीसवें अध्ययन, आसित देवल का तीसरे अध्ययन तथा

द्वैपायन का चालीसवें अध्ययन में उल्लेख है तथा नमि और पाराशर का ऋषिभाषित में नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता। एवं उत्तराध्ययन में नमि वैदेहि का उल्लेख प्रत्येक बुद्ध के रूप में हुआ है, जिन्होंने अपने सभी संबन्धियों एवं मिथिला नगरी को छोड़कर अभिनिष्क्रमण किया।[३]

सूत्रकृतांग में उल्लेखित ऋषि मतों में कुछ उल्लेख महाभारत में भी है। असित देवल, द्वैपायन तथा पाराशर का पराशर्यश्च नाम से उल्लेख मिलता है।[४] वहां वे महाराज युधिष्ठिर की सभा में बैठते थे तथा महाभारत में ही अन्य प्रसंग में पाराशर व पराशर्य नाम से उल्लेख मिलता है।[५] जबकि निमि (नमि) का उल्लेख अतिबलशाली, महारथी, गुणशाली राजा के रूप में हुआ है।[६]

इसके अतिरिक्त भी आगमों में उत्पत्ति-निष्पत्तिवाद, त्र्यणुकवाद, स्फोटवाद, द्वैक्रियवाद, दयमान-अदत्तवाद, क्रियावाद (आचार), निर्वाणवाद, शून्यवाद, वायु जीववाद, एवंभूतवेदनावाद, सुखदुःखउपदर्शनवाद, स्वभाववाद, दुःखवाद, एकान्तबालवाद, जीव-जीवात्मन्यवाद, केवली-यक्षाविष्टवाद, पंचास्तिकायवादनिराकरणवाद, सन्ततिवाद, मनोजीववाद, जीव अस्तित्ववाद, कर्म अस्तित्त्ववाद, जीव पुनर्जन्मवाद, बंध-मोक्ष अस्तित्वाद, देव अस्तित्ववाद, नारक अस्तित्वाद, पुण्य-पाप अस्तित्ववाद, परलोक अस्तित्ववाद, निर्वाण अस्तित्ववाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, अफलवाद, ईश्वरकारणिक, आधाकर्मकृतवाद, कर्मोपचय सिद्धान्त, अवतारवाद, वेदवादी ब्राह्मण, हस्तितापस, सिद्धवाद, पार्श्वापत्यीय श्रमण आदि का उल्लेख मिलता है। इन सभी का क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद तथा विनयवाद में समावेश हो जाता है। सृष्टि उत्पत्ति संबन्धी विभिन्न मतों- अण्डकृत सृष्टि, देव एवं ब्रह्माकृत सृष्टि, ईश्वरकृत (ईश्वरकारणिक) सृष्टि, प्रधानकृत सृष्टि, प्रजापतिकृत सृष्टि का उल्लेख मिलता है।

इनके अतिरिक्त जैन आगम तथा उसके ग्रंथ में पांच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख करते हैं, जैसे- १. निर्ग्रन्थ, २. तापस, ३. शाक्य, ४. गेरुय (परिव्राजक), ५. आजीविक।[७] इनके प्रकारान्तर से अनेक भेद मिलते हैं और भी स्वतीर्थिक दर्शन भ्रष्ट सात निह्नवों- १. बहुतर, २. जीवप्रादेशिक, ३. अवर्तिक, ४. सामुच्छेदिक, ५. द्विक्रिया, ६. त्रैराशिक, ७. अबद्धिक का उल्लेख मिलता है।[८]

महावीर के समकालीन बौद्ध साहित्य में दीघनिकाय के अंतर्गत ६२ मतवादों का उल्लेख हुआ है, जैसे आदि संबन्धी १८ मत- १. शाश्वतवाद, २. नित्यता-अनित्यतावाद, ३. सान्त-अनन्ततावाद, ४. अमराविक्षेपवाद, ५. अकारकवाद। अन्त सम्बन्धी ४४ मत - १. मरणान्तर होश वाला आत्मा, २. मरणान्तर न होश वाला आत्मा, ३. मरणान्तर बेहोश आत्मा, ४. आत्मा का उच्छेद, ५. इसी जन्म में निर्वाण। वहां इन दस वादों के विभिन्न कारणों का उल्लेख कर ६२ भेद किये गए हैं।[९] इस प्रकार ६०० ई.पू. के वादों की एक लम्बी श्रृंखला प्राप्त होती है। जिनके अनेक भेद प्रभेद भी मिलते हैं, यहाँ उनका नामोल्लेख मात्र किया गया है।

छठी सदी ई.पू. का युग क्रांतिकारी रचनात्मक सुधारवादी प्रवृत्तियों के लिए न केवल भारतवर्ष में बल्कि संपूर्ण विश्व में महत्त्वपूर्ण काल माना गया है। यह जागरण एवं जिज्ञासा

का युग था। इस समय सहसा समकालीन और सुनिश्चित स्वतन्त्र सभ्यताओं के केन्द्रों पर धार्मिक आंदोलन शुरु हुए। जहां सब धर्मों के विचारों में पुनर्जागरण हो रहा था, इस युग में चीन में दार्शनिक, जैसे- फंग यू लॉन (Fung Yu Lan) कन्फ्यूशियस, लाओत्सो ने धार्मिक चेतना जागृत की। ग्रीस में सोफिस्ट तथा भारत में भी नए-नए बौद्धिक विचारों का उद्‍भव हो रहा था। मानव जाति के लिए वह समय नवज्योति का था। जब हम उस समय के इतिहास की भौतिक व्याख्या करते हैं तो वह समय सामाजिक प्राणी में परिवर्तन लाने का समय था। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि जहां पर बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास हो रहा था, वहीं पर महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्रीय एवं राजनीतिक बदलाव भी भारत, चीन तथा संपूर्ण विश्व में हो रहे थे। जिन्होंने ऐसी मानव-चेतना का जागरण कर दिया, जो सामाजिक बदलाव का अनुभव कर रहे थे।

भारतवर्ष में इस युग में नये धार्मिक आंदालनों के उत्थान और पुराने धर्मों में सुधारवादी परिवर्तन एवं स्वतंत्र विचारों का उद्‍भव हुआ। जैन ग्रंथों में अनेक नास्तिक दार्शनिक संप्रदायों का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थ तरेसठ श्रमण संप्रदाय का उल्लेख करते हैं। इसी तरह श्वेताम्बर उपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद आदि मतवादों का उल्लेख है। इन संप्रदायों की संख्या के बारे में जो विवरण मिलते हैं, वे अतिरंजित प्रतीत होते हैं, क्योंकि उस युग में ऐसी प्रवृत्ति प्रचलित थी और ऐसा भी नहीं मानना चाहिए कि वे स्वतंत्र धार्मिक पंथ और संप्रदाय थे। इन मतवादों के सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत साधारण अन्तर था। यह कहना तो गलत होगा कि इन सब मत-मतान्तरों की उत्पत्ति एक ही समय हुई। परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें से कुछ की उत्पत्ति भगवान् महावीर से पूर्व हो चुकी थी।

महावीर युगीन विभिन्न मतवादों को तपस्वियों के प्रबुद्ध आंदोलन की संज्ञा दी गई है। जो वस्तुतः सामान्य आन्दोलन नहीं थे, न ही इनकी उत्पत्ति ब्रह्ममणवादी सुधारों, न क्षत्रियों के विद्रोह से, न मध्यम वर्ग के प्रयत्नों का परिणाम थी, अपितु वह एक वर्गहीन, जातिहीन आंदोलन था। यद्यपि ये आंदोलन समाज के लोगों के बीच शुरू हुए तथापि इनका किसी वर्ग विशेष के हित दृष्टि से कोई संबन्ध नहीं था। हाँ यह अलग बात है कि इन मतवादों के प्रमुखों (प्रवर्तक) में कुछ के समाज सुधारवादी स्वर जरूर थे। इन बौद्धिक आन्दोलनों की उत्पत्ति के बारे में विभिन्न विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं -

मैक्समुलर, जी. ब्यूलर, एच. कर्न, हर्मन जैकोबी का कहना है कि इस युग के बौद्ध, जैन तथा अन्य नास्तिक पंथों का आदर्श ब्राह्मणवादी सन्यासी थे। उनका मानना है कि वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में ये शक्तिशाली हो रहे थे।[१०] रीज डेविड्स के मतानुसार इन धार्मिक परिव्राजक सन्यासियों का उत्थान बौद्धिक आन्दोलन के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के पूर्व हो चुका था। यह बहुत कुछ सामान्य (बौद्धिक) आन्दोलन था, किन्तु पुरोहित आन्दोलन नहीं था।[११]

इसमें कोई संशय नहीं है, जो ब्राह्मण धर्म के, जीवन के मूल गुण था, उसके ही नैतिक विचारों में विरोध होने लगा, जिसका परिणाम यह हुआ कि त्रिवर्ग के अतिरिक्त मोक्ष भी होता है, उसकी धारणा को लोग मानने लगे। चार आश्रम सिद्धान्त वह उसी का परिणाम है। प्रवृत्ति

की जगह निवृत्ति का समन्वय होने लगा, धर्मसूत्रों में जीवन की चार अवस्थाओं का सिद्धान्त आया है, वह उसी का फलस्वरूप है।

जी. सी. पाण्डे का मानना है कि स्वयं वेदों में कर्मकाण्ड विरोधी प्रवृत्ति दिखाई देती है। वह तपस्या के प्रभाव के कारण है, जो वेदों से पूर्व से चली आ रही थी। कुछ पंथ, जैसे जैनधर्म और बौद्ध धर्म, इस पूर्व वैदिक विचारधारा की निरन्तरता को प्रकट करते हैं।[१२]

जी. एस. घुर्ये तथा एन. दत्त के मत में बौद्ध धर्म तथा इसके सम-सामयिक मत ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों द्वारा सामाजिक वर्चस्व हेतु चलाए गए संघर्ष का परिणाम थे।[१३] ये मत प्रोटेस्टेंट धर्म के समान व्यापारियों तथा राजाओं की उभरती धनाढ्यता का तपोत्पादन था। इसी प्रकार बहुत से राजाओं का नशापन, क्रूरता, दुश्चरित्रता, विश्वासघात, अधार्मिकता आदि तथा पुरोहितों द्वारा राजाओं को अपनी मनमानी करने में सहयोग देने की तत्परता के कारण जन-साधारण की परिस्थितियाँ अत्यन्त विषम हो गईं। इन धार्मिक आन्दोलनों के एक नहीं, वरन् अनेक कारण रहे। जातिगत व्यवस्था के अत्यधिक जटिल होने के कारण सामाजिक असन्तोष था। परस्पर विरोधी मतों, संप्रदायों के झगड़ों के कारण व्यक्ति में आध्यात्मिक जीवन जीने की चाह पनपने लगी।

यह हम पूर्व में बता चुके हैं कि भगवान् महावीर का युग तर्क और जिज्ञासा का युग था। उस समय अनेक मतवाद अस्तित्त्व में थे। अनेक धर्माचार्य, धार्मिक और मतवादी अपने-अपने धर्मों का परिपोषण करते हुए विहरण कर रहे थे। अनेक लोग अपने आपको तत्त्व दृष्टा बताते और अपने सिद्धान्तों को लोगों में फैलाने के लिए विहार करते और उपदेश देते थे। उनका पारस्परिक मिलन और वार्तालाप मुक्त था। खुलकर धर्मसंघ के आचार्यों, प्रमुखों में चर्चाएँ होती थी। कभी-कभी जिज्ञासु स्वयं ऐसे लोगों का नाम सुनकर उनके पास जाता और अपनी शंकाएँ रखता, प्रश्नकर्त्ता के सामने अपने मत सिद्धान्तों और उसके समर्थन में युक्तियों की धारा बहती। इसमें स्वमत को श्रेष्ठ दिखाने का प्रयास चलता रहता था। इस प्रकार वाद-प्रतिवाद होने से कालान्तर में वाद के विभिन्न नियमों का विकास हो गया।

६०० ई.पू. के प्रमुख धर्मनायकों में भगवान् महावीर भी एक प्रमुख धर्मनायक थे। अतः इस स्थिति से उनको भी गुजरना पड़ा। यद्यपि जैनधर्म आचार प्रधान है तथापि देशकाल की परिस्थितियों के अनुरूप उन्होंने भी अपनी धर्मदृष्टि का प्रसार-प्रसार करने के लिए चारित्र बल के अलावा वाग्बल का भी सहारा लिया।

सम्पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) होने के पश्चात् उन्होंने देशना (उपदेश) देना शुरू किया। ऐसे में अनेक विचारक उनके पास आते और उनसे प्रश्न पूछते, जैनागमों और बौद्ध पिटकों में श्रमण और ब्राह्मण अपने-अपने मत की पुष्टि करने के लिए विरोधियों के साथ वाद करते हुए और युक्तियों के बल पर प्रतिवादियों को हराते हुए देखे जाते हैं। जैन आगमों में श्रमण, श्रावकों और स्वयं भगवान् महावीर के वादों का वर्णन अनेकों जगह आया है।

अस्तु प्रश्न यह है कि आगमों में विभिन्न मतवादों के उल्लेख होने के क्या कारण हैं? जहां तक मैं समझ पाई, उसका एक कारण तो यह हो सकता है कि वे अन्य-अन्य मतवाद,

जिनका उल्लेख आगमों में हुआ है, महावीर के समकालीन होने की वजह से स्थान पा सके और जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि ये अन्य मतवादी महावीर से चर्चा करने आते तो ऐसे में उन मतवादों का उल्लेख होना स्वाभाविक सा लगता है। जैसे गौतम बुद्ध महावीर से उम्र में कुछ वर्ष छोटे थे और उनके मतवाद क्षणिकवाद का उल्लेख सूत्रकृतांग में हुआ। इस प्रकार समकालीन होने के कारण कभी चर्चा-वार्तालाप या मिलने के दौरान उनके सिद्धान्तों को जाना गया होगा और अपने शिष्यों को बताया गया होगा, ऐसा संभव लगता है।

दूसरी बात यह थी कि बौद्धों के स्थान-स्थान पर विहार होते, जहाँ भिक्षु स्थायी रूप से रहते और अध्ययन-अध्यापन चलता था, ऐसा ही वैदिक संयासियों के साथ था जो मठों में रहते थे। किन्तु जैन साधु चातुर्मास के अलावा एक स्थान पर नहीं रहते थे। हमेशा विहार-विचरण होता रहता था, जैसा कि आज भी देखा जाता है। अतएव उनकी विद्या परंपरा स्थायी नहीं थी। ऐसी स्थिति में मार्ग में जो भी अन्य मतावलम्बी मिलता उनसे चर्चा-संवाद् चलता और जैनों की उदार दृष्टि अपने ग्रन्थों में उन्हें समादर देती किन्तु वहीं जैनेतर ग्रंथों में जैन मत की चर्चा कदाचित् ही हुई है।[१४]

तीसरा कारण यह हो सकता है कि वह खण्डन प्रधान युग था। सभी स्वमत की प्रतिष्ठा करना चाहते थे तो संभव है ऐसे में जैसे कि आगमों में अन्य मतों का खण्डन हुआ है, उस आधार पर अन्य मतों का खण्डन कर स्वमत की स्थापना हेतु भी अन्य-अन्य मतों का उल्लेख हुआ।

वस्तुतः धर्म प्रचार के लिए वाद एक सशक्त माध्यम था। यही कारण था कि भगवान् महावीर के ऋद्धिप्राप्त शिष्यों की गणना में वाद-प्रवीण शिष्यों की पृथक् गणना हुई है। स्थानांग में भगवान् महावीर के वादी शिष्यों की संख्या ऋद्धि सौ बताई गई है, जो देव परिषद्, मनुज परिषद् तथा असुर परिषद् से अपराजेय थे।[१५]

वाद कला में ऐसे कुशल साधुओं के लिए कठोर नियमों को भी मृदु बनाया जाता था। बृहत्कल्प भाष्य (६वीं ई.सदी) में तो यहां तक कहा गया है कि मलिन वस्त्रों का प्रभाव सभाजनों पर अच्छा नहीं पड़ता है। अतः वह साफ-सुथरे कपड़े पहनकर सभा में जाता है। रुक्षभोजन करने से बुद्धि की तीव्रता में कमी न हो इसलिए वाद करने के प्रसंग में प्रणीत अर्थात् स्निग्ध भोजन लेकर अपनी बुद्धि को सत्त्वशाली बनाने का यत्न करता है। ये सब सकारण आपवादिक प्रतिसेवना है।[१६]

इन ३६३ जैनेतर मतों का प्रचारित होना निःसंदेह संदिग्ध है, किन्तु कतिपय मतों का प्रचलित होना अवश्य निःसंदिग्ध है। स्थिति ऐसी बनी कि आगम की साक्षी से अपने सिद्धान्तों की सच्चाई बनाये रखना कठिन हो गया, क्योंकि अनेक मतवाद हैं, अनेक ऋषि हैं। किसको सही मानें, यह लोगों के सामने ज्वलंत प्रश्न बन गया। तब प्रायः सभी प्रमुख मतवादों ने अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए युक्ति (तर्क) का सहारा लिया। जो ब्राह्मण धर्म के मूल श्रुति और स्मृति का तर्कशास्त्र के सहारे अपमान करता है, वह नास्तिक है, ऐसे साधुजनों को समाज से निकाल देना चाहिए-

योऽवमन्येत मूले, हेतुशास्त्रश्रयाद् द्विजः।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। (मनुस्मृति, २.११)

ऐसे कथन की सार्थकता नहीं रही और जो तर्क से वेदार्थ का अनुसंधान करता है, वही धर्म को जानता है, अन्य नहीं, ऐसे मत प्रमुख बन गये। फलतः आगम प्रमाण (आगम की सत्यता) का भाग्य तर्क के हाथों आ गया और 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' यह उक्ति गूंजने लगी। यद्यपि गुरू-शिष्य के बीच होने वाला जिज्ञासा समाधान एवं तत्त्वचर्चा आदि में वाद की शुद्धता में कमी नहीं आई किन्तु जहाँ दो विरोधी मतानुयायियों में चर्चा होती, वहाँ अत्यन्त विकृत रूप धारण कर लेता था।

जितने विचार उद्भूत हुए, वे सभी सम्प्रदाय रूप में अस्तित्व में नही आये, क्योंकि उन्हें लोक समर्थन का आधार नहीं मिला। जो विचार तात्विक, धार्मिक या दार्शनिक वादों के रूप में अपना अस्तित्व बनाये हुए थे, उनके सांकेतिक रूप हमें प्राप्त होते हैं। कुछ विचार, सिद्धान्त नष्ट हो गए, क्योंकि लोगों की अनास्था उन्हें अक्षुण्ण नहीं बनाये रख सकी।

इस प्रकार ६०० ई.पू. में अनेक सम्प्रदाय थे, जो तत्त्वज्ञान के किसी एक पक्ष को उसका अनुसरण और प्रसरण करने में अपनी वाणी का सार्थक्य मानते थे।

संदर्भ -

१. (क) समवायांग, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ९०, नंदी, संस्करण-८२
   (ख) सूत्रतांगनिर्युक्ति, १२.४
   (ग) कषायपाहुड-जयधवला, गाथा- ६६
   (घ) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, ८७६
२. सूत्रकृतांग, १.३.४.६२-६४
३. उत्तराध्ययन, ९.४ मिहिलं सुपुरजणवयं, बलमोरोहं च परियणं सव्वं। चिच्चा अभिनिक्खंत्तो, एगन्तमहिट्ठिआ भवयं।
४. महाभारत, सभापर्व, ४.१०-१३, असितो देवलः ...... द्वेपायनः .... पराशर्यश्च.....।
५. महाभारत, सभापर्व, ७.१०. १३, पराशरः ......।।१०, पराशर्यः......।।१३
६. महाभारत, आदिपर्व, १.१.१७१.१७४
७. निशीथभाष्य, गाथा, ४४२०
   णिग्गंथ सक्क तावस, गेरूय आजीव पंचहा समणा।
८. स्थानांग, ७.१४०, ... महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवयणणिण्हगा पण्णत्ता तं जहा-बहुरता जीवपएसिया, अवत्तिया, सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया, अबद्धिया।।
९. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त, १.१., पृ. १४-३९ (बौद्ध भारती वाराणसी प्रकाशन)
   १. सस्सतवादा, २. एकच्च सस्सतवादा, ३. अनन्तानन्तवादा, ४. अमराविक्खेपवादा, ५. अधिच्चसमुप्पन्नवादा।
   १. उद्धमाघातनिका सञ्ञीवादा, २. उद्धमाघातनिका असञ्ञवादा,
   ३. उद्धमाघातनिका नेवसञ्ञीनासञ्जीवादा, ४. उच्छेदवादो, ५. दिट्ठधम्मनिब्बानवादो।
१०. K.C. Jain, Lord Mahavira And His Times, Motilal Banarasidass Publishers Pvt. Ltd. Delhi [1st Edition, 1974].

११. T.W. Rhys Davids, Buddhist India, [London, 1903], Delhi] 9th Edition,

१२. Studies in the Origines of Buddhism, Pg. 317.

१३. के. टी. एस. सराओ, प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म : उद्‌भव, स्वरूप एवं पतन, द कॉरपोरेट बॉडी आफ दि बुद्ध एज्युकेशनल फाउन्डेशन ताइपेइ, ताइवान, द्वितीय संस्करण, २००५, पृ.६१

१४. दलसुख मालवणिया, जैन अध्ययन की प्रगति, जैन संस्कृति संशोधन मंडल की लघु पुस्तिकाएं खण्ड-१, जैन संस्कृति संशोधन मंडल, वाराणसी, १९५८, पृ. ६ से आगे।

१५. स्थानांग, ४.६४८, समणस्स णं भगवओ महावीरस्स चत्तारि सया वादीणं सदेवमणुया सुराए परिसाए अपराजियाणं उक्कोसिता वादिसंपया हुत्था।

१६. बृहकल्पभाष्य, ६०३५, पाया वा दंतासिया उ धोया, वा बुद्धिहेतुं व पणीयभत्तं। तं वातिगं वा मइ सत्तेहउं सभाजयट्ठा सिचयं ब सुक्कं।

*****

-जैन विश्व भारती लाड़नूँ (राजस्थान)

आचार्य वादिराज देव

(ध्यान के द्वारा भ. जिनेन्द्रदेव को हृदय में विराजमान करना)

घटना वि.स. ११वीं शताब्दी की है। चौलुक्य नरेश जयसिंह (प्रथम) की सभा में आपका बड़ा सम्मान था। आप एक निस्पृही आचार्य और उद्‌भट विद्वान थे। असाता कर्म विपाक से आपको कुष्ट रोग हो गया था। द्वेषी जनों ने राजा के कान भरते हुए कहा - ''आप उस कोढ़ी मुनि की इतनी प्रशंसा क्यों करते हो ? उस समय एक श्रावक राजसभा में उपस्थित था, मुनि-निंदा सहन नहीं कर सका। वह आत्म-विश्वास के साथ कहने लगा - यह झूठ है। मेरे गुरु-मुनिराज को कोई कुष्ट रोग नहीं है। यह द्वेषी जनों का मात्र प्रलाप है।

राजा ने सत्यता जानने की इच्छा से कहा- ''मैं आचार्य श्री के दर्शन करने जाऊँगा। श्रावक- धर्म-संकट में पड़ गया। तत्काल आ. वादिराज के समीप आकर प्रार्थना करने लगा- भगवन्! मैं राजा से ऐसा बोलकर आया हूँ। जैनधर्म की प्रभावना के लिए कुछ करें ताकि मेरा कहा झूठ न हो।

धर्मरक्षा के निमित्त आ. वादिराज ने ध्यानस्थ होकर ''एकीभाव स्तोत्र'' की रचना करते हुए निम्नांकित पद की रचना करते समय 'कुष्ट' विलीन हो गया और सुवर्ण जैसी काया हो गयी -

प्रागेवेह त्रिदिव- भवना देष्यता भव्य-पुण्यात्।
पृथ्वी चक्रं कनकमयतां, देव निन्ये त्वयेद्म।
ध्यान द्वारं मम रुचिकरं, स्वान्तगेहं प्रविष्टः
तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं, यत्सुवर्णी करोषि।।

राजा ने उनकी आभामय देह को देखकर, चुगलखोरों को दण्डित करने की राजाज्ञा दी, लेकिन क्षमाधारी मुनिराज ने राजा का भ्रम दूर कर सबको क्षमा करा दिया।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता जैन साहित्य के संदर्भ में

- डॉ. सागरमल जैन

भारतीय इतिहास में अवन्तिकाधिपति विक्रमादित्य का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मात्र यही नहीं, उनके नाम पर प्रचलित विक्रम संवत् का प्रचलन भी लगभग संपूर्ण देश में है। लोकानुभूतियों में भी उनका इतिवृत बहु चर्चित है। परवर्ती काल के शताधिक ग्रन्थों में उनका इतिवृत्त उल्लेखित है। फिर भी उनकी ऐतिहासिकता को लेकर इतिहासज्ञ आज भी किसी निर्णयात्मक स्थिति में नहीं पहुँच पा रहे हैं। इसके कुछ कारण हैं- प्रथम तो यह कि विक्रमादित्य विरुद के धारक अनेक राजा हुए हैं अतः उनमें से कौन विक्रम संवत् का प्रवर्तक है, यह निर्णय करना कठिन है, क्योंकि वे सभी ईसा की चौथी शताब्दि के या उसके भी परवर्ती हैं। दूसरे विक्रमादित्य मात्र उनका एक विरुद है, वास्तविक नाम नहीं है। दूसरे विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का कोई भी अभिलेखीय साध्य ९वीं शती से पूर्व का नहीं है। विक्रम संवत् के स्पष्ट उल्लेख पूर्वक जो अभिलेखीय साध्य है वह ई. सन् ९४१ (विक्रम संवत् ८९८) का है। उसके पूर्व के अभिलेखों में यह कृत संवत् या मालव संवत् के नाम से ही उल्लेखित है। तीसरे विक्रमादित्य के जो नवरत्न माने जाते हैं, वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न कालों के व्यक्ति हैं।

विक्रमादित्य के नाम का उल्लेख करने वाली हाल की गाथा सप्तशती की एक गाथा को छोड़कर कोई भी साहित्यिक साक्ष्य नवीं-दशवीं शती के पूर्व का नहीं है। विक्रमादित्य के जीवनवृत्त का उल्लेख करने वाले शताधिक ग्रन्थ हैं, जिनमें पचास से अधिक कृतियों तो जैनाचार्यों द्वारा रचित हैं। उनमें कुछ ग्रंथों को छोड़कर लगभग सभी बारहवीं-तेरहवीं शती के या उससे भी परवर्ती काल के हैं। यही कारण है कि इतिहासज्ञ उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में संदिग्ध हैं। किन्तु जैन स्रोतों से इस सम्बन्ध में विक्रमादित्य की जो सूचनाएं उपलब्ध हैं, उनकी विश्वनीयता को पूरी तरह नकारा भी नहीं जा सकता है।

यह सत्य है कि जैनागमों में विक्रमादित्य सम्बन्धी कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। जैन साहित्य में विक्रम संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का सम्बन्ध दो कथानकों से जोड़ा जाता है। प्रथम तो कालकाचार्य की कथा से और दूसरा सिद्धसेन दिवाकर के कथानक से। इसके अतिरिक्त कुछ पट्टावलियों में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। उनमें यह बताया गया है कि महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ और यह मान्यता आज बहुजन सम्मत भी है। यद्यपि कहीं ४६६ वर्ष और ४५ दिन पश्चात् विक्रम संवत् का प्रवर्तन माना गया है। तिलोयपण्णत्ति को जो प्राचीनतम (लगभग- पांचवीं-छठी शती) उल्लेख है, उसमें वीर निर्वाण के ४६१ वर्ष पश्चात् शक राजा हुआ- ऐसा जो उल्लेख है उसके आधार

पर यह तिथि अधिक उचित लगती है- क्योंकि कालक कथा के अनुसार भी वीर निर्वाण के ४६१ वर्ष पश्चात् कालकसूरि ने गर्दभिल्ल को सत्ता से च्युतकर उज्जैनी में शक-शाही को गद्दी पर बिठाया और चार वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उन्हें पराजित कर पुनः उज्जैन पर अपना शासन स्थापित किया। दूसरी बार पुनः वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और पांच माह पश्चात् शकों ने मथुरा पर अपना अधिकार शक शासन की नीव डाली और शक संवत् का प्रवर्तन किया। इस बार शकों का शासन अधिक स्थायी रहा। इसका उन्मूलन चन्द्रगुप्त द्वितीय ने किया और विक्रमादित्य विरूद धारण किया। मेरी दृष्टि से उज्जैनी के शक-शाही को पराजित करने वाले का नाम विक्रमादित्य था, जबकि चन्द्रगुप्त द्वितीय की यह एक उपाधि थी। प्रथम ने शकों से शासन छीनकर अपने ओ 'शकारि' विरूद से मण्डित किया था क्योंकि शकों ने उसके पिता का राज्य छीना था। अतः उसके शक अरि या शत्रु थे, अतः उसका अपने को 'शकारि' कहना अधिक संगत था। दूसरे विक्रमादित्य ने अपने शौर्य से शकों को पराजित किया था अतः विक्रम-पौरूष का सूर्य था।

यद्यपि निशीथचूर्णि में कालकाचार्य की कथा विस्तार से उपलब्ध है किन्तु उसमें गर्दभिल्ल द्वारा कालक की बहिन साध्वी सरस्वती के अपहरण, कालकाचार्य द्वारा सिन्धु देश (परिसकूल) से शकों को लाने गर्दभिल्ल की गर्दभी विद्या के विफल कर गर्द भिल्ल को पराजित कर और सरस्वती को मुक्त कराकर पुनः दीक्षित करने आदि के ही उल्लेख है। उसमें विक्रमादित्य सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है- जैन साहित्य में विक्रमादित्य संबन्धी जो रचनाएं उपलब्ध हैं- उनमें बहत्त्कल्पचूर्णि (७वीं शती), प्रभावक चरित्र (१२७७ ई.), प्रबन्धकोश, प्रबन्ध चिंतामणि (१३०५ ई.), पुरातन प्रबन्ध संग्रह, कहावली (भद्रेश्वर), शत्रुञ्जय महात्म्य, लघु शत्रुञ्जयकल्प, विविधतीर्थकल्प (१३३२ ई.), विधि कौमुदी, अष्टान्हिका व्याख्यान, दुष्माकाल श्रमण, संघस्तुति, पट्टावली सारोद्धार, खतरगच्छसूरिपरम्परा प्रशस्ति, विषायहारस्तोत्रं भाष्य, कल्याणमंदिरस्तोत्र भाष्य, सप्ततिकावृत्ति, विचारसार प्रकरण" विक्रमचरित्र आदि अनेक ग्रंथ हैं, जिनमें विक्रमादित्य का इतिवृत्त किंञ्चित भिन्नताओं के साथ उपलब्ध है। खेद मात्र यही है ये सभी ग्रन्थ प्रायः सातवीं शती के पश्चात् के हैं। यही कारण है कि इतिहासज्ञ इनकी प्रामाणिकता पर संशय करते हैं। किन्तु आचार्य हस्तीमल जी ने दस ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं, जिससे इनकी प्रामाणिकता पर विश्वास किया जा सकता है। उनके कथन को मैंने अपनी शब्दावली में आगे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है (देखें- जैनधर्म का मौलिक इतिहास, खण्ड-२ पृष्ठ-५४५-५४८)।

(१) विक्रमसंवत् आज दो सहस्त्राब्दियों से कुछ अधिक काल से प्रवर्तित है। आखिर इसका प्रवर्तक कोई भी होगा- बिना प्रवर्तक के इसका प्रवर्तन तो संभव नहीं है और यदि अनुश्रुति उसे 'विक्रमादित्य' (प्रथम) से जोड़ती है तो उसे पूरी तरह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। मेरी दृष्टि में अनुश्रुतियां केवल काल्पनिक नहीं होती हैं।

(२) विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेक कथाएं आज भी जनसाधारण में प्रचलित हैं, उनका आधार कोई तो भी शायद रहा होगा। केवल उन आधारों को खोज न पाने की अपनी अक्षमता के आधार पर उन्हें मिथ्या तो नहीं कहा जा सकता है। जिस इतिहास का इतना बड़ा

जनाधार है उसे सर्वथा मिथ्या कहना भी एक दुस्साहस ही होगा।

(३) प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ गाथा सप्तशती, जिसे विक्रम की प्रथम-द्वितीय शती में सातवाहन वंशी राजा हाल ने संकलित किया था- उसमें विक्रमादित्य की दानशीलता का स्पष्ट उल्लेख है। यह उल्लेख चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के सम्बन्ध में या उससे परवर्ती अन्य विक्रमादित्य उपाधिधारी किसी राजा के सम्बन्ध में नहीं हो सकता है, क्योंकि वे इस संकलन से परवर्ती काल में हुए हैं। अतः विक्रम संवत् की प्रथम शती से पूर्व कोई अवन्ती का विक्रमादित्य नामक राजा हुआ है यह मानना होगा। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि विक्रमादित्य हाल के किसी पूर्वज सातवाहन वंशी राजा से युद्ध क्षेत्र में आहत होकर मृत्यु को प्राप्त हुए थे। वह गाथा निम्न है -

संवाहणसुहस्स तोसिएण, देन्तेण तुहकरे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।।

- गाथा सप्तशती-४६४

(४) सातवाहन वंशी राजा हाल के समकालीन गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में बृहत् कथा की रचना की थी। उसी आधार पर सोमदेव भट्ट ने संस्कृत में कथा सरित्सागर की रचना की- उसमें भी विक्रमादित्य के विशिष्ट गुणों का उल्लेख है (देखें- लम्ब्क ६ तरंग १ तथा लम्बक १८ तरंग १)।

(५) भविष्य पुराण और स्कन्दपुराण में भी विक्रम का जो उल्लेख है, वह नितांत काल्पनिक है- ऐसा नहीं कहा जा सकता है। भविष्यपुराण खण्ड २ अध्याय २३ में जो विक्रमादित्य का इतिवृत्त दिया गया है- वह लोकपरम्परा के अनुसार विक्रमादित्य को भतृहरि का भाई बताती है तथा उनका जन्म शकों के विनाशार्थ हुआ ऐसा उल्लेख करता है। अतः इस साक्ष्य को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता है।

(६) गुणाढ्य (ई. सन् ७८) द्वारा रचित बृहत्कथा के आधार पर क्षेमेन्द्र द्वारा रचित बृहत्कथा मंजरी में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। उसमें भी म्लेच्छ, यवन, शकादि को पराजित करने वाले एक शासक के रूप में विक्रमादित्य का निर्देश किया गया है।

(७) श्री मद्भागवत स्कन्ध १२ अध्याय १ में जो राजाओं की वंशावली दी गई है, उसमें दशगर्दभिनोः नृपाः के आधार पर गर्दभिल्ल वंश के दस राजाओं का उल्लेख है। जैन परंपरा में विक्रम गर्दभिल्ल के पुत्र के रूप में उल्लेखित किया गया है।

(८) विक्रम संवत् के प्रवर्तन के पूर्व जो राजा हुए उसमें किसी ने विक्रमादित्य ऐसी पदवी धारण नहीं की। जो भी राजा विक्रमादित्य के पश्चात् हुए हैं- उन्होंने ही विक्रमादित्य का विरूद धारण किया है- जैसे सातकर्णी गौतमी पुत्र (लगभग ई. सन् प्रथम- द्वितीय शती) चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य (ई. सन् चतुर्थ शती) आदि। इन्होंने विक्रमादित्य की यशोगाथा को सुनकर अपने को उसके समान बताने हेतु ही यह 'विरूद' धारण किया है। अतः गर्दभिल्ल पुत्र विक्रमादित्य इनसे पूर्ववर्ती हैं।

(९) बाणभट्ट के पूर्ववती कवि सुबन्धु ने वासवदत्ता के प्रस्ताविक श्लोक १० में

विक्रमादित्य की कीर्ति का उल्लेख किया है।

(१०) ई. पूर्व की मालवमुद्राओं में मालवगण का उल्लेख है, वस्तुतः विक्रमादित्य ने अपने पितृराज्य पर पुनः अधिकार मालवगण के सहयोग से ही प्राप्त किया था, अतः यह स्वाभाविक था कि उन्होंने मालव संवत् के नाम से ही अपने संवत् का प्रवर्तन किया। यही कारण है कि विक्रम संवत् के प्रारंभिक उल्लेख मालव संवत् या कृत संवत् के नाम से ही मिलते हैं।

(११) विक्रमादित्य की सभा के जो नवरत्न थे, उनमें 'क्षपणक' के रूप में जैनमुनि का भी उल्लेख है, कथानकों में इनका सम्बन्ध सिद्धसेन दिवाकर से जोड़ा गया है। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर के काल को लेकर स्वयं जैन विद्वानों में भी मतभेद है। अधिकांश जैन विद्वान भी उन्हें चौथी-पांचवीं शती का मानते हैं, किन्तु जहां तक जैन पट्टावलियों का सम्बन्ध है, उनमें सिद्धसेन का काल वीर निर्वाण संवत् ५०० बताया गया है, इस आधार पर विक्रमादित्य और सिद्धसेन की समकालिकता मानी जा सकती है।

(१२) मुनि हस्तिमल जी ने इनके अतिरिक्त एक प्रमाण प्राचीन अरबी ग्रन्थ सेअरूल ओकूल (पृ. ३१५) का दिया था जिसमें 'विकरमतुन' के उल्लेख पूर्वक विक्रम की यशोगाथा वर्णित है। इस ग्रन्थ का काल विक्रम संवत् की चौथी-पांचवी शती है। यह हिजरी सन् से १६५ वर्ष पूर्व की घटना है।

इस प्रकार विक्रमादित्य (प्रथम) को काल्पनिक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। मेरी दृष्टि में गर्दभिल्ल के पुत्र एवं शकशाही से उज्जैनी के शासन पर पुनः अधिकार करने वाले विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है, इसे नकारा नहीं जा सकता है। उन्होंने मालव गण के सहयोग से उज्जैनी पर अधिकार किया था, यही कारण है कि यह प्रान्त आज भी मालव देश कहा जाता है।

(१३) जैन परम्परा में विक्रमादित्य के चरित्र को लेकर जो विपुल साहित्य रचा गया है, वह भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि किसी न किसी रूप में विक्रमादित्य (प्रथम) का अस्तित्व अवश्य रहा है। विक्रमादित्य के कथानक को लेकर जैन परम्परा में निम्न ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं-

१. विक्रमचरित्र - यह ग्रन्थ काश हृदगच्छ के देवचन्द्र के शिष्य देवमूर्ति द्वारा लिखा गया है। इसकी एक प्रतिलिपि में प्रतिलिपि लेखक संवत् १४९२ उल्लेखित है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह रचना उसके पूर्व की है। इस ग्रंथ का एक अन्य नाम 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' भी है। इसका ग्रंथ परिमाण ५३०० है। कृति संस्कृत में है।

२. विक्रमचरित्र नामक एक अन्य कृति भी उपलब्ध है। इसके कर्ता पं.सोमदेव सूरि हैं। ग्रंथ परिमाण ६००० है।

३. विक्रमचरित्र नामक तीसरी कृति साधुरत्न के शिष्य राजमेरू द्वारा संस्कृत गद्य में लिखी गई है। इसका रचनाकाल वि.सं. १५७९ है।

४. विक्रमादित्य के चरित्र से सम्बन्धित चौथी कृति 'पञ्चदण्डातपत्रछत्र प्रबन्ध'

नामक है। यह कृति सार्ध पूर्णिमा गच्छ के अभयदेव के शिष्य रामचन्द्र द्वारा वि.सं. ४९० में लिखी गई थी। यह एकलधुकृति है। इसकी अनेक प्रतियां विभिन्न भण्डारों में उपलब्ध हैं। वेबर ने इसे १८७७ में वर्लिन से इसे प्रकाशित भी किया है।

५. पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र नामक अज्ञात लेखक की एक अन्य कृति भी मिलती है। इसका रचना काल १२९० या १२९४ है।

६. पञ्चदण्ड छत्र प्रबन्ध नामक ग्रंथ एक अन्य विक्रमचरित्र भी उपलब्ध होता है, जिसके कर्त्ता पूर्णचन्द्र बताये गये हैं।

७. श्री जिनरत्नकोश की सूचनानुसार - सिद्धसेन दिवाकर का एक विक्रमचरित्र भी मिलता है। यदि ऐसा है तो निश्चय ही विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली यह प्राचीनतम रचना होगी। केटलॉग केटा गोरम भाग प्रथम के पृष्ठ सं. ७१७ पर इसका निर्देश उपलब्ध है।

८. विक्रम नृपकथा, कृति के कान्तिविजय भण्डार बड़ौदा में एवं 'विक्रम प्रबन्ध' और विक्रम प्रबन्ध कथा नामक दो अन्य ग्रंथों की और सूचना प्राप्त होती है। इसमें विक्रम प्रबन्ध कथा के लेखक श्रुतसागर बताये गये हैं। यह ग्रंथ जयपुर के किसी जैन भण्डार में उपलब्ध है।

९. विक्रमसेनचरित नामक एक अन्य प्राकृत भाषा में निबद्ध ग्रंथ की भी सूचना उपलब्ध ा होती है। यह ग्रंथ पद्मचन्द्र किसी जैनमुनि के शिष्य द्वारा लिखित है। पाटन केटलाग भाग १ के पृष्ठ १७३ पर इसका उल्लेख है।

१०. पूर्णचन्द्रसूरि के द्वारा रचित विक्रमादित्य पञ्चदण्ड छत्र प्रबन्ध नामक एक अन्य कृति का उल्लेख भी 'जिन रत्न कोश' में हुआ है।

११. 'विक्रमादित्य धर्मलाभादि प्रबन्ध' के कर्ता मेगेरूतुंगसूरि बताये गये हैं। इसे भी कान्ति विजय भण्डार बडौदा में होने की सूचना प्राप्त होती है।

१२. जिनरत्नकोश में विद्यापति के 'विक्रमादित्य प्रबन्ध' की सूचना भी प्राप्त है।

१३. 'विक्रमार्कविजय' नामक एक कृति भी प्राप्त होती है। इसके लेखक के रूप में 'गुणार्णाव' का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार जैन भण्डारों से विक्रमादित्य से संबन्धित पन्द्रह से अधिक कृतियों के होने की सूचना प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त मरूगुर्जर और पुरानी हिन्दी में भी विक्रमादित्य पर कृतियों की रचना हुई है। इसमें तपागच्छ के हर्षविमल ने वि. सं. १६१० के आस-पास विक्रम रास की रचना की थी। इसी प्रकार उदय भानु में वि. सं. १५६५ में विक्रम सेन रास की रचना की। प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर में भी विक्रमादित्य की चौपाई की अपूर्ण प्रति उपलब्ध है। इस प्रकार जैनाचार्यो ने प्राकृत संस्कृत, मरूगुर्जर और पुरानी हिन्दी में विक्रमादित्य पर अनेक कृतियों की रचना की है।

- प्राच्य विद्यापीठ
शाजापुर (मध्यप्रदेश)

पुस्तक समीक्षा

*१. **महावीर कथा (कृति)** लेखक- आचार्य अशोक सहजानंद, प्रकाशक- अरिहंत इंटरनेशनल, २३९, दरीबाकंला, चांदनी चौक, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण-२०११, मूल्य २००/- पृष्ठ-१६०*

प्रस्तुत समीक्ष्य कृति में भगवान् महावीर के जीवन की एक प्रामाणिक प्रस्तुति है। लेखक ने महावीर कालीन सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि दशाओं का चित्रण के साथ भगवान् महावीर के पूर्वभवों का वर्णन किया। इसमें यथायोग्य श्वेताम्बर मान्यताओं का उल्लेख भी समाहित किया गया है। निर्वाण से पूर्व भगवान् द्वारा दिया गया अंतिम दिव्य उपदेश रोचक ढंग से प्रस्तुत है जो उत्तराध्ययन सूत्र (जैन आगम) से लिया गया है। ३६ अध्ययनों के माध्यम से अध्यात्मोन्मुखी, कर्म-फल कथा सूत्र आदि का वर्णन प्राकृत गाथाओं के आधार पर दिया जिनके संदर्भ भी लिखे जाना चाहिए था। मूल्य अपेक्षाकृत अधिक है।

२. सहज आनन्द (त्रैमासिकी शोध का ''प्रथम चक्रवर्ती भरत'' विशेषांक)

प्रधान संपादक- आचार्य अशोक सहजानंद, प्रकाशक-मेघ प्रकाशन, चांदनी चौक, दिल्ली-६, विशेषांक-संग्रहणीय है। जो सार्थक जीवन का सफल संवाद प्रस्तुत करता है। अंक-७४ सितम्बर २०१०, मूल्य ४०/-रु. पृष्ठ-१६२

प्रस्तुत अंक में सम्राट भरत विषयक विद्वान लेखकों के २७ शोधालेख संकलित हैं। विशेषांक में उपाध्याय अमरमुनि, विद्यावाचस्पति डॉ. रंजनसूरिदेव, डॉ. प्रचण्डिया आदि के आलेख पठनीय है।

३. जैन वाङ्.मय रत्नकोश - (प्रथम खण्ड)

प्रवक्ता- अध्यात्म योगी श्रीमद् सहजानंद वर्णी, संकलन/संपादन- आचार्य अशोक सहजानंद, प्रकाशक- जैन ग्रंथागार- दिल्ली-६, पृष्ठ-४८०, प्रथम संस्करण-२०११ एक खण्ड का मूल्य ७५०/-रु. संपूर्ण सेट-४ खण्ड का मूल्य रु. ३०००/-

भेद विज्ञानी अध्यात्म विद्याविशारद, मोक्षलक्ष्मी को जिन्होंने उपादेय निश्चित किया ऐसे सहजानंद जी वर्णी महाराज की पावन स्मृतियों में समीक्ष्य ग्रंथ प्रकाशित कर उन्हें सादर समर्पित है। श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, ग्रंथ पर उसमें वर्णित १० अधिकारों पर पूज्य वर्णी द्वारा दिये गये सारगर्भित प्रवचनों का संकलन समीक्ष्य कृति में है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने इस अध्यात्म के महाग्रंथ में शुद्ध आत्म स्वरूप का निश्चय नय की दृष्टि से प्रतिपादन किया है। प्रस्तुत खण्ड प्रथम में समयसार की प्रारंभ की ३८ गाथाओं की मार्मिक प्रवचन शैली में व्याख्या है।

पं. निहालचंद जैन

उज्जयिनी के मंदिरों में सजीले तोरण द्वारों का ऐतिहासिक परिचय

- श्रीमती अंजलि मुकेश विजयवर्गीय

महाकालेश्वर और जगत् ईश श्रीकृष्ण की अध्ययन स्थली उज्जयिनी अपने आप में गौरवमयी तथा प्राचीन नगरी है। इसे मध्यप्रदेश का ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत का हृदय कहा जाता है। मालवा के पठार पर स्थित यह नगर पुण्य सलिल क्षिप्रा नदी के तट पर बसा हुआ है। पुराणों के अनुसार इसे सप्तपुरि में से एक माना जाता है तथा कई प्राचीन नामों से पुकारा जाता था जिनमें उज्जयिनी, अवंतिका, प्रतिकल्पा, पद्मावती तथा विशाला प्रमुख है।

इस पवित्र तीर्थ में सभी धर्मों के अनुयायी तथा सभी धर्मों के धार्मिक स्थान है। इतिहास के अनुसार महात्मा बुद्ध के समय इस स्थान के प्रद्योत नामक राजा शासक थे। ईसा की चौथी शताब्दी के पूर्व इस नगर पर मौर्य सम्राटों का शासन था उसके बाद अशोक, शुंग वंश व शकों का शासन आया। उसके पश्चात् विक्रमादित्य ने इस नगरी को कई महान स्थापत्य कला के नमूने दिए जिसमें से कुछ आज भी इस शहर की शोभा बढ़ा रहे हैं। मुगलों के शासनकाल में इसे हानि भी हुई। जैन साहित्य का इतिहास भी उज्जैन से जुड़ा हुआहै। कई पुराने जैन साहित्यिक ग्रंथों जैसे चतुर्विंशतिप्रबंध, कथाकोष, चसहरचरित्र, करकरडू, आदि में जैनधर्म के उज्जयिनी में प्रचार-प्रसार के प्रमाण मिलते हैं। **जैनधर्म मतानुसार प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव ने इंद्र को आज्ञा देकर इस अवंति देश की रचना कराई थी।**

जैन धर्म का मूलाधार अहिंसा है। भगवान् महावीर की तपस्या के बाद जैन धर्म को और अधिक विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही धर्मावलंबियों के मंदिर प्रचुर मात्रा में उज्जैन में मिलते हैं।

मंदिर शब्द का अर्थ है वासस्थान। अंग्रेजी में इसे टेम्पल कहते हैं। जिसका मूल अर्थ आयताकार देवालय से है। भारतीय धारणा के अनुसार मंदिर वस्तुतः देवस्थान नहीं स्वयं देवता है। इसी धारणा के अनुसार इसे पाद, जंघा, कटि, उर्ध्व, स्कन्ध व शीर्ष आदि भागों में बांटा गया है तथा गुप्तकाल में इसी के आधार पर मंदिरों में अलंकरण हुआ था। प्रत्येक शैली की अलग छाप उस काल की वास्तुकला में हमें दिखायी देती है तथा कई जगहों पर दो शैलियों का संगम भी दिखाई देता है।

प्रसिद्ध ग्रंथ ''सगरांगण सूत्रधार'' के अनुसार जैन मंदिरों का निर्माण भी शैव व वैष्णव मंदिरों के समान ही हुआ है तथा उनमें कई समानताएँ पाई गई हैं। मंदिर को ३ भागों में बांटा गया है- १. पीठ या अधिष्ठान २. मंडोवर ३. शिखर।

अधिष्ठान के जाड्यकुम्भ, कर्णक, अंतर्प व ग्रासपट्टिका आदि कई भाग होते हैं जिनको अलंकरण के आधार पर पहचाना जा सकता है। मंडोवर के ३ प्रमुख भाग हैं- वेदीबन्ध, जड्घा, वरण्डिका। गर्भग्रह में प्रमुख मूर्ति का निवास होता है। शिखर भी अलंकरण

युक्त होता है। प्रमुख प्रवेश द्वार पर स्तंभों का अलंकरण कई प्रकार से होता है जिनमें पशु पत्तियों, वनस्पति, वल्लरियों, कमल व घंटिकओं द्वारा अलंकरण होता है और जिस पर तोरण का निर्माण होता है।

तोरण का अर्थ 'मेहराब' या परिकर से है। तोरण का अर्थ मुख्य प्रवेश द्वार के अलंकरण से माना जाता है। मंदिरों में इसका निर्माण दैवीय शक्ति को बल देने व आसुरी शक्तियों के प्रवेश निषेध के लिए किया जाता है। तोरण की उत्पत्ति मकर मुख मानी जाती है। अतः इसका निर्माण मकर मुख से निकलते हुए ही किया जाता है। अलंकरण मुख्यतः तीन प्रकार का होता है- १. रेखाकृति प्रधान २. पत्रवल्लरी प्रधान ३. कल्पना प्रसूल पशु पक्षियों की आकृति या ईहामृग। इसका निर्माण मुख्यतः दो कारणों से होता है- १. मंगल के लिए २. विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए (मांगलिक चिन्ह जैसे पूर्ण घट, कमल आदि) उस स्थान की आसुरी शक्तियों से रक्षा करते हैं ऐसा मानकर उनका निर्माण किया जाता है।

गुप्तकाल में पत्र लता व पत्र पुष्पों को अलंकरण हेतु मुख्यरूप से प्रयुक्त किया जाता था जबकि कुषाणकाल में ईहामृग का उत्कीर्णन अधिक हुआ है। अलंकरण के आधार पर तोरण को ४ प्रकारों में बांटा गया है।

१. पत्र तोरण - प्रमुख अलंकरण पत्तियों द्वारा।

२. पुष्प तोरण - प्रमुख अलंकरण पुष्पों द्वारा।

३. रत्न तोरण - प्रमुख अलंकरण रत्नों द्वारा।

४. चित्र तोरण- प्रमुख अलंकरण विभिन्न प्रकार के चित्रों द्वारा।

इन सभी के अलावा भी एक और मुख्य विभाजन माना जाता है जो निम्नानुसार है। मुख्यतः तीन प्रकार के तोरण हैं- १. इलिका (रेंगती हुई इमली के समान) तोरण- इसके भी कई प्रकार हैं। २. राथिका तोरण २. इलिकाकार तोरण ३. त्रिरथिका द्विरथिका तोरण या वलितोदरा तोरण।

त्रिरथिका तोरण से तात्पर्य है कि मंदिर का निर्माण त्रिरथ योजना के अनुसार हुआ है। जो निम्न भागों में बांटा गया है।

१. षीष्ठ/ नीचे का भाग २. ऊपर वाला ३. शिखर या गण्डी ४. आमलक (मस्तिष्क) पाभाग/पदभाग, इसके बाद जंघा, वरण्ड।

इसी प्रकार इन्हीं भागों को उपभागों में बांटकर पंचरथ व सप्तरथ योजनानुसार मंदिर निर्माण होता है। इसी के आधार पर तोरण के भी नाम रखे गए हैं। १. पंचराथिका - चतुइलिका तोरण/ श्री पुंज, २. सप्तराथिका- पट्दलिका तोरण/नंदीवर्धन, ३. गवाक्षयुक्त तोरण, ४. हिण्डोलक तोरण- अर्थात् हिण्डोले के समान तोरण का निर्माण किया जाता है।

वस्तुसारे प्रकरण के अनुसार -

चउ थंभ चउदुवारं, चउ तोरण चउ दिसेहिं छज्जउडं।

पंच कणवीर सिहरं दु ति बारेगासिंहरं वा।।६४।।

अर्थात् मंदिर के चारों कोनों पर चार स्तम्भ, चारों दिशाओं में चार द्वार और चार तोरण, चारों ओर छज्जा और कनेर के जैसा शिखर करना चाहिए। मंदिर द्वार या दो द्वार या तीन द्वार वाला और एक शिखर वाला बना सकते हैं।

तोरण में मकर मुख से निकलती हुई अनेक पत्र लताएँ कलात्मक रूप में अंकित की गई हैं। कई जगह इन मणियों व लताओं का अपहरण करने के लिए यक्ष व मकर का संघर्ष भी चित्रित किया गया है। मकर जो कि पूर्व समुद्र की संपत्ति के रतक थे बाद में देवनदी गंगा के वाहन बन गये थे। इन्हें पवित्रता के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है।

उज्जैन में जैन मन्दिर -

उज्जैन में बहुत अधिक संख्या में जैन मंदिर स्थित है, परन्तु ऐसे मंदिर जो कि वास्तुकला के आधार पर बनाये गये हैं उनकी संख्या निम्नानुसार है -

१. श्री शीतलनाथ जी श्वेताम्बर जैन मंदिर, फ्रीगंज, २. श्री अजितनाथ जी श्वेताम्बर जैन मंदिर, सराफा, ३. श्री चन्द्रप्रभु जैन मंदिर नमकमण्डी, ४. श्री आदीश्वर ज्ञान मंदिर, खाराकुआ, ५. श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन मंदिर, खाराकुआ, ६. श्री अवंतिपार्श्वनाथ जैन मंदिर, दानीगेट, ७. श्री महावीर जैन मंदिर, दानीगेट एवं ८. श्री आदिश्वर जैन श्वेताम्बर तीर्थ, नदीपार।

१. श्री शीतलनाथ जी श्वेताम्बर जैन मंदिर, फ्रीगंज -

इस मंदिर की स्थापना १०.२.१९८८ में हुई थी। इस मंदिर में सफेद संगमरमर का बना हुआ सजीला तोरण द्वार है। जिसमें मकरमुख से निकलते हुए तोरण को दिखाया गया है। इसके साथ ही अलंकृत खम्बे बनाये गये हैं जिसमें वाद्य बजाती हुई नारी आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं। वेशभूषा में ये आकृतियाँ यक्षों जैसी दिखाई देतीं हैं। एक नारी आकृति के हाथ में मृदंग व एक के हाथ में वेणु लिये हुए तथा उसे बजाते हुए बताया गया है। ये स्वर्ग की अप्सराएं या गंधर्व जान पड़तीं हैं। यह तोरण इलिकाकार तोरण है अर्थात् जिस प्रकार इल्ली रेंगती है उसी प्रकार यह तोरण लहराता हुआ बनाया गया है। तोरण में मध्य में अलंकरण करने के लिये कमल दल को चक्राकार रूप में व्यवस्थित करके छोटे-छोटे चक्रों को एक के बाद एक व्यवस्थित किया गया है। बड़े ही आकर्षक रूप में इस तोरण को बनाया गया है इस तोरण में वक्राकारों के मध्य छोटे छोटे चक्रों को व्यवस्थित किया गया है। दो वक्रों को जोड़ने वाले व स्थान पर घंटिका रूप से एक वक्र आकार अंकित है जो किसी लटकती हुई घंटिका का आभास देता है, जिसके ऊपरी भाग में अलग तरह की चार पत्तियों वाले पुष्पों को बनाया गया है जो कि दो वक्र इलिकाओं के मध्य के वक्र अलंकरण को जोड़ते हैं। तोरण के उद्‌गम स्थान मकरमुख को भी बहुत अलंकृत व आकर्षक बनाया गया है। मकर के तोरण के दोनों तरफ के स्तम्भों पर जो अलंकरण है उस पर गुप्त काल का प्रभाव साफ स्पष्ट दिखाई देता है। नीचे से मध्यभाग सपाट है जबकि तोरण के नीचे या ऊपरी भाग में अलंकरण है। तोरण के निचले भाग व मध्यभाग के ऊपर यह स्तम्भ गोल हो गया है, जिस पर नीचे के भाग में चतुष्कोणों को एक-एक खांचों में बनाकर अलंकरण दिया है, जबकि उसके ऊपर का

अलंकरण कम चौड़ा व चौकोर खांचों को बनाकर किया गया है। तोरण के निचले क्रम में अलंकरण ८ कोणों वाला है। २ कोणों के मध्य में ऊपर से नीचे की ओर अधखिला हुआ कमल का पुष्प बनाया गया है। उसके ऊपर या तोरण के उद्‌गम स्थान पर चारों तरफ घंटिकाओं की आकृतियाँ बनाई गई हैं। आगे की ओर इस घंटिका को आधार मानकर एक अलंकृत धरातल बनाकर एक एक नारी प्रतिमा बनाई गई है। दाहिनी ओर की नारी प्रतिमा हाथ में वेणु लिये हुए उसे बजाते हुए बनायी गई है, जबकि बाई ओर की नारी आकृति हाथ में मृदंग लिये हुए उसे बजाती हुई अंकित की गई है। तोरण ऊपरी भाग के स्तम्भ पर चौड़ाई बढ़ गई है तथा अधखिली कमल पत्तियों से एक वक्र का अलंकरण किया गया है।

२. श्री अजितनाथ जैन मंदिर, सराफा –

इस मंदिर का तोरण वर्ष २००३ में स्थापित हुआ है। दूर-दूर से आए कारीगरों ने इस प्राचीन मंदिर में सुन्दर व सजीला तोरण स्थापित किया है। यह मंदिर ८०-९० साल पुराना है। हाल ही में स्थापित इस तोरण के ऊपर दूसरी मंजिल पर कई हवादार झरोखे बनाये गये हैं जिनमें स्थित अलंकरण बड़ा ही लुभावना है। लाल पत्थर से बने इस तोरण द्वार पर बारीक अलंकरण हुआ है साथ ही छत पर भी सुन्दर कमल के फूलों की आकृतियाँ उकेरी गई हैं।

मंदिर के द्वार में अलंकृत तीन तोरण हैं जिनमें मध्य का तोरण द्वार बड़ा व मुख्य है जबकि दोनों आसपास के तोरण छोटे हैं। यह तोरण त्रिरथिका, द्विइलिकाकार है। इसे वलितोदरा तोरण भी कहते हैं। तोरण के दोनों स्तम्भ अलंकृत है। स्तम्भ अष्टकोणीय है। स्तम्भ का नीचे का भाग षट्कोणीय है, जिस पर थोड़ा-थोड़ा अलंकरण बना हुआ है। स्तम्भ के जंघ वाले भाग में ३ गोलाकार अलंकरण है। नीचे वाले वृत्त के अलंकरण में अष्टकोणीय भागों में प्रत्येक भाग में एक-एक फूल उत्कीर्ण किया गया है। ऊपर वाले अलंकरण में कमल को (अधखिले कमल) उत्कीर्ण किया गया है। तीसरे वाले वृत्त में नीचे की ओर झालर के रूप में अलंकरण किया गया है। प्रत्येक वृत्त के बीच में अधखिला हुआ कमल उत्कीर्ण किया गया है। जिसके बीच लटकी हुई घंटियां उत्कीर्ण की गई हैं। स्तम्भ के मध्य भाग में षट्कोणीय कमल बनाया गया है। जिसके ऊपरी भाग में छोटे-छोटे भाग में १-१ फूल अलंकृत किया गया है। इसके ऊपर चौकी का भाग साधारण है। जिसमें चारों दिशाओं में ४ घंटियां अलंकृत हैं जिसमें ये तोरण निकलता हुआ दर्शाया गया है। चौकी के उर्ध्वभाग में छोटे छोटे भागों में स्तम्भ को काटकर उसे कोणीय बनाया गया है।

तोरण –

इस तोरण में अलंकरण बहुत ही सुन्दर व बारीक है। अलंकरण ३ स्तर में है। निचले स्तर में एक-एक कमल की पत्ती को उकेरा गया है। मध्य भाग में छोटे चक्र बनाये गये हैं, जिनमें आधीखिली हुई कमल की कली को बनाया गया है। ऊपरी स्तर व निचला स्तर एक समान है। प्रथम वलय (घुमाव) में २-२ घंटिकाएं हैं जिनके बीच में १-१ वलय है घंटि के ऊपर भागों में चौकी चौकोर है चौकी के ऊपर अलंकरण स्तम्भ के अलंकरण जैसा ही है, जिनको छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके उसके अंदर १-१ फूल उत्कीर्ण किया गया है। जिसमें चार पत्तियों वाला फूल बनाया गया है।

इस तोरण का वह भाग जिस पर तोरण छत पर जुड़ता है वहां पर ३ वृत्तों में पद्म (कमल) उत्कीर्ण हैं, ऐसे ३ कमल छत पर उत्कीर्ण किये हैं। प्राचीन गुप्तकालीन मंदिरों में द्वारशाखा में तीन सादी शाखाएं होती थीं। ये तोरण द्वार भी ३ शाखाओं वाले हैं। इन मंदिरों के स्तम्भ कोणीय है अतः द्रविड़ शैली का प्रभाव दिखाई देता है। गुप्तकालीन अलंकृत तोरण इन तोरणों से समानता प्रदर्शित करते हैं। इसलिये इस तोरण पर गुप्तकालीन प्रभाव भी दिखाई देता है।

३. श्री चन्द्रप्रभु जैन मंदिर, नमकमण्डी -

यह मंदिर २०० वर्ष पुराना है। यह तोरण मुगलकाल के प्रभाव से प्रभावित है। मुगलकाल में बने हुए झरोखों के ऊपर जिस प्रकार के अलंकरण हुआ करते थे उसी प्रकार के अलंकरण हमें इस तोरण में दिखाई देते है। यह मुख्यतः तोरण नही है बल्कि केवल वृत्ताकार आकार में अलंकरण बना दिये गये हैं। साथ ही अलंकृत स्तम्भ बना दिये गये हैं। इस दीवार पर अलंकरण में फूल-पत्तियों व फूलों की बेल बनाकर अलंकरण किया गया है।

स्तम्भ पर अलंकरण भी मुगलकाल जैसा है। स्तम्भ के निचले भाग में फूलों का तथा पत्तियों के अलंकरण ३ वृत्तों में प्रदर्शित है जबकि मध्यभाग में स्तम्भ नीचे से ऊपर की ओर गोलाई में पतला होता गया है। इस मध्यभाग में कई पतली-पतली धारियाँ बनी हुई मंदिर की स्थापना १९८८ में हुई थी। इसमें संगमरमर का बना सजीला तोरणद्वार है जो कि मकरमुख से निकलता है तथा अलंकृत खम्भों पर बना हुआ है खम्भों पर अलंकरण हेतु नारी आकृतियों का अंकन किया गया है, वेशभूषा से ये यक्षों जैसी जान पड़ती है इनमें से १ के हाथ में मृदंग व दूसरी को वेणु बताते हुए बताया गया है। इलिकाकार तोरण में अलंकरण हेतु कमल दल घंटिकाओं व चक्रों से घिरा हुआ है। तोरण के मध्य में वक्र अलंकरण दोनों को जोड़ता है, तथा उसकी सुंदरता को बढ़ाता है तोरण के स्तम्भ गुप्तकाल के अनुसार निर्मित है तथा अलंकरण भी उसी प्रकार का है।

४. आदीश्वर ज्ञान जैन मंदिर खाराकुँआ -

इस मंदिर में सिद्धचक्र बना हुआ है तथा पार्श्वनाथजी का चित्र भी बना हुआ है। इस मंदिर में भी नवनिर्मित तोरण स्थित है। द्वार में ही ३ शाखाएँ व ३ तोरण बने हुए हैं। तोरण इलिकाकार तथा सफेद संगमरमर के पत्थर से बने हुए हैं स्तम्भ सादे हैं नीचे से चौकोर स्तम्भ है जिसमें कि थोड़ा सा अलंकरण है, जिसे चौकी के समान बनाया गया है। आगे की तरफ एक दिग्पाल (यक्ष) की मूर्ति उकेरी गई है। मूर्ति बहुत ही सुन्दर है, वस्त्राभूषण से सज्जित इस मूर्ति के हाथ में एक दण्ड समान अस्त्र दिया हुआ है। दोनों तरफ के स्तम्भों में १-१ मूर्ति निर्मित की गई है। मूर्ति के ऊपरी भाग अर्थात् स्तम्भ के मध्य भाग में साधारण तरीके से निर्मित किया गया है। चौकी के नीचे वाले भाग में स्तम्भ को अष्टकोणीय बनाया गया है तथा प्रत्येक २ कोणों के मध्य भाग ४ पंखुड़ियों वाला एक एक पुष्प उकेर कर बनाया गया है। पुष्प के नीचे झालर लटकती हुई दिखाई गई है। चौकी को अष्टकोणीय बनाया गया है जिसमें चारों दिशाओं में चार बंद कमल बनाये गये हैं जो कि घंटिकाओं का आभास देते हैं। चौकी के स्थान से अलंकृत मकर मुख बनाया गया है। मकर मुख के पीछे के भाग उठती हुई वेगवान जल धाराओं को वक्राकार आकृतियों में दर्शाया गया है।

तोरण –

तोरण का अलंकरण तीन स्तरों में किया गया है। नीचे के स्तर में कमल की कलियों को एक के ऊपर एक व्यवस्थित करके उन्हें लयात्मक ढंग से बनाया गया है। मध्यभाग में छोटे-छोटे चक्र बनाये गये हैं। जिनमें तीन पत्तियों वाली कली को दर्शाया गया है। ऊपरी स्तर में कलियों को एक के ऊपर एक व्यवस्थित किया गया है। तोरण के वक्रों के जुड़ने के स्थान पर घंटिकाएं बनाई गई हैं। घंटिकाओं के ऊपर का छोटा चौकोर स्थान भी फूलों की पंक्ति से अलंकृत किया गया है। तोरण का वह भाग जहां पर तोरण मंदिर की छत से जुड़ता है, वहां पर एक वृत्त वानला कमल का खिला हुआ पुष्प बनाया गया है। अलंकृत चौकी के ऊपरी भाग में स्तम्भ के पहले गोल फिर अलंकरण के आधार पर अष्टकोणीय हो जाता है जिसमें प्रत्येक कोणीय भाग के मध्य में चार पंखुड़ियों वाला पुष्प उकेर कर बनाया गया है तथा जिसमें से कि घंटिकाएँ लटक रही हैं।

इस तोरण के स्तम्भ हमें साधारण दिखते हैं तथा तोरण का अलंकरण गुप्तकाल की शैली से प्रभावित दिखता है।

५. श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जैन मंदिर, खाराकुँआ –

यह मंदिर २०० वर्ष पुराना है। जबकि इस मंदिर के पुजारी यहां के भगवान श्री पार्श्वनाथ जी की मूर्ति को २००० साल पुरानी बताते हैं। इस मंदिर के जीर्णोद्धार के तहत ४० वर्ष पूर्व ही यहां तोरण का निर्माण हुआ है।

प्रवेश द्वार का स्तम्भ दो भागों में बँटा हुआ है। ऊपरी भाग व निचला भाग। निचले भाग में चौकी बनाई गई है, जिस पर थोड़ा सा अलंकरण है। जिसमें पुष्प बना दिये गये हैं। उसके ऊपर एक बड़ा कमल बनाया गया है जिस पर कि एक द्वारपाल हाथ में दंड लिये हुए खड़ा है। यह मूर्ति अंग्रेजों के शासन काल से प्रभावित है तथा इसका अलंकरण राजा महाराजाओं के द्वारपाल समान किया गया है। अतः देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह यक्ष की मूर्ति न होकर द्वारपाल की मूर्ति है। ऊपरी भारग में भी चौकी के ऊपर १ बड़ा कमल निर्मित किया गया है जिस पर १-१ नारी आकृति बनाई गई है, जो दासियों (सेविकाएं) दिखाई देती हैं। इनके हाथ में १-१ अलंकृत थाल है जिसमें पुष्प भरे हुए हैं। इन आकृतियों पर रंगरोगन कर दिया गया है।

चौकी के एक तरफ से तोरण बनाया गया है जो कि मकर मुख से निकलता हुआ दिखाया गया है। मकर मुख के पीछे उत्प्लावित समुद्र तरंगे भी बनाई गई हैं। तोरण साधारण है, जिसमें मध्यभाग में १ स्तर पर ही अलंकरण किया गया है। जिसमूें पद्मदल को १ ऊपर व्यवस्थित कर उसमें लयात्मकता लाने का प्रयास किया गया है। इस तोरण में वक्रों के वलय स्थान पर १-१ छोटी सफेद मूर्ति प्रदर्शित की गई है, जो कि अपने एक-एक हाथ में पूर्ण घट लिये हुए है। इन मूर्तियों की चौकी के नीचे घंटिकाएं निर्मित की गई हैं। जबकि मध्य भाग में पद्मासन पर बैठी एक नारी आकृति उत्कीर्ण की गई है।

६. श्री अवंति पार्श्वनाथ जैन मंदिर, दानीगेट –

मंदिर में स्थित मूर्ति बहुत ही चमत्कारी मानी जाती है। यह तोरण भी नवनिर्मित तोरण द्वार ही है। यह तोरण दीवार में ही सफेद संगमरमर के पत्थर को दीवार में ही जोड़कर इस तारेण का निर्माण किया गया है। यह तोरण मुख्यतः अलंकरण के हेतु ही बनाया गया है तथा यह तोरण साधारण इलिकाकार तोरण है।

तोरण का स्तम्भ मुगलकाल प्रभावित जान पड़ता है। इस स्तम्भ के नीचे भाग में उल्टा पद्मदल उत्कीर्ण है, जिसके ऊपर चौड़ा पद्मदल उत्कीर्ण है। जिसके ऊपर मुगलकालीन समय जैसे फूल उत्कीर्ण किये गये हैं।

तोरण में अलंकरण के तीन स्तर हैं। निचले स्तर में पद्मदल को एक के बाद एक व्यवस्थित किया गया है। मध्यभाग में छोटे-छोटे चक्रों में तीन पत्तियों की पद्मकली को उत्कीर्ण किया गया है। ऊपरी भाग में पतली सी रेखा में दो कमल की पंखुड़ियां बनाई गई हैं जिस स्थान पर दो वलय मिलते हैं उस स्थान पर एक चौकोर चौकी है। जिसके नीचे घंटिका बनाई गई हैं।

तोरण द्वार आधे-आधे बनाये गये हैं जो कि द्वार चौखट से मिल जाते हैं तथा वहीं पर खत्म हो जाते हैं। द्वार चौखट के स्तम्भ बहुत ही अलंकृत हैं जिस पर मोर, पुष्प, पत्तियों से अलंकरण किया गया है तथा गुप्तकालीन यक्षों की मूर्तियां भी निर्मित की गई हैं। प्रवेश द्वार के ऊपर सफेद संगमरमर से पद्मासन पर विराजित एक गजलक्ष्मी की मूर्ति रखी गई है।

७. महावीर जैन मंदिर, दानीगेट -

इस मंदिर का तोरण भी नवनिर्मित है। प्रवेश द्वार की चौखट के ऊपर ही आठ प्रकार के प्रतीक चिन्ह आठ खांचों में बनाये गये हैं जो कि द्वार चौखट के ऊपर एक आड़ी पट्टी के रूप में दिखाई देते हैं। इन चिन्हों में क्रमशः स्वस्तिक, पूर्ण खिला कमल, पूर्णघट, जल मीन, सिंहासन व दर्पण हैं ये सभी जैन प्रतीक चिन्ह हैं।

इस पट्टी के ऊपर दोनों तरफ १-१ मकर मुख बनाया गया है जिसमें से साधारण तोरण को निकलते हुए बताया गया है। तोरण द्वार से अलंकरण ५ स्तरों पर हुआ है। निचले स्तर पर पद्मदल को नीचे की ओर लयात्मक ढंग से व्यवस्थित किया गया है जबकि दूसरे स्तर में पद्मदल को ऊपर की ओर व्यवस्थित किया है। मध्य स्तर में अलंकरण सामान्य है। एक चतुष्कोण तथा एक गोल वृत्त जिसका केन्द्रबिन्दु मध्य में हो एक के बाद एक व्यवस्थित किये गये हैं। चौथा व पांचवां स्तर प्रथम व द्वितीय स्तर के समान ही है। जहां दो वक्रों को मिलन स्थान है वहां पर एक चौकोर छोटी चौकी बनाई गई है, जिस पर तीन स्तरों में अलंकरण है।

प्रवेश द्वार के स्तम्भों का अलंकरण सात भागों में सप्तशाखाओं में किया गया है। नीचे के भाग में गुप्तशैली में एक यक्षिणी की मूर्ति निर्मित की गई है। मूर्ति का अलंकरण गुप्तकालीन मूर्तियों जैसा है।

८. आदीश्वर जैन श्वेताम्बर तीर्थ, नदी पार -

यह तोरण रथिका के आकार का है। इस तोरण का निर्माण संगमरमर से किया गया है। स्तम्भ नीचे से षट्कोणीय है तथा ऊपरी भाग में अष्टकोणीय है। चौकी को अष्टकोणीय बनाया गया है जिसमें कि चार पंखुड़ियों वाले फूलों से अलंकरण किया गया है। चार तरफ

चार घंटियां बनाई गई हैं। चौकी के ऊपर हल्का सा अलंकरण किया गया है। चौकी से लगा हुआ बंद कमल के आकार का मकरमुख बनाया गया है। जिसमें से गोल चक्र की आकृतियों में छोटा सा कमल का फूल बनाया है। गोले एक के बाद एक व्यवस्थित होकर तोरण का निर्माण करते हैं। जिस स्थान पर तोरण छत से मिलता है उस स्थान पर दो चक्रों में पद्मदल स्थित है, बनाया है। इस तरह के तीन कमल छत पर अंकित किये गये हैं। इस तोरण पर मुगलकालीन प्रभाव दिखाई देता है।

उपसंहार –

कला मानव संस्कृति की उपज है। कला का उद्‌गम सौंदर्य की मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। सौंदर्य की सर्वोपरि चेतना प्रकृति के अनुकरण में निहित है। प्रत्येक प्रकार की कलात्मक प्रक्रिया का ध्येय है- सौंदर्य तथा आनंद की अभिव्यक्ति। किसी भी कलाकार की कलाकृति में उसकी मनोरम कल्पना और आंतरिक भावों की परिणति हमें दिखाई देती है। चाहे वह कलाकृतिचित्रकला हो, मूर्तिकला, वास्तुकला या संगीत, नृत्यकला आदि। प्रत्येक कला मनुष्य की आत्मगत भावों को प्रकट करती है। यह कहा गया है कि-

"Art is th impression of imagination."

हमेशा से ही कला धर्म से जुड़ी रही है; चाहे वह किसी भी देश या समय की हो। ऐसे कई शास्त्र व पुराण हैं जिनमें उज्जैन से संबन्धित धार्मिक भावनाओं का प्राकट्य होता है तथा यह स्पष्ट होता है कि उज्जयिनी में केवल भगवान शिव ही नहीं बल्कि जैन, बौद्ध व वैष्णव मंदिर भी स्थित है। जो कि पूर्व काल से लेकर आज तक की धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करती है। उज्जैन शहर का नाम जैन धर्म श्रुतियों के अनुसार जैन मतावलम्बियों की अधिक संख्या होने के कारण ही रखा गया था।

जैन कला हमेशा से ही उज्जैनवासियों को प्रभावित करती रही है। जैन वास्तुकला के उत्कृष्ठ उदाहरण हमें उज्जैन के जैन मंदिरों में देखने को मिलते हैं। ये मंदिर न सिर्फ आस्था के केन्द्र बिन्दु है बल्कि कई तरह की कलाओं से भरे हुए हैं।

इन जैन मंदिरों में वास्तुकला के आकर्षक नमूने देखने को मिलते हैं जिन पर तत्कालीन जीवन का प्रभाव हमें देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मंदिर शैलियों का प्रभाव भी हमें देखने को मिलता है। जो आज भी हमारी वास्तुकला का मूल आधार बनकर जीवित है। इस प्रकार तोरण न सिर्फ मंगल द्वार की तरह बल्कि आसुरी शक्तियों से रक्षा के लिये भी बनाये जाते हैं। जिनका मूल उद्‌देश्य ईश्वर की प्राप्ति व मन की शांति प्राप्त करना ऐसे मंगल चिन्हों को निर्मित करना जोकि जीवन में ईश्वर के प्रति आस्था जगाते हों। जहाँ मंदिर में प्रवेश करते ही ईश्वर के मांगलिक चिह्नों के दर्शन हमारे भीतर की बुराईयों को मिटाकर ईश्वर के सान्निध्य की अनुभूति कराते हैं।

५४/१०३, मानसरोवर, जयपुर-३०२०२०
(राजस्थान)

समाधितन्त्र में प्रतिपादित अन्तरात्मा

-प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

ईसा की छठी शती के महान् जैनाचार्य देवनन्दि पूज्यपाद श्रमण संस्कृति के सुविख्यात आचार्य हैं। इन द्वारा रचित समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थवृत्ति), सिद्धिप्रियस्तोत्र, दशभक्ति तथा जैनेन्द्र व्याकरण जैसे महनीय ग्रन्थरत्नों के अध्ययन से स्पष्ट है कि आ. पूज्यपाद में महान् कवि, दार्शनिक एवं वैयाकरण - ये तीनों विशेष गुणों का रत्नत्रय की तरह एकत्र समवाय पाया जाता है। तभी तो ज्ञानार्णव ग्रन्थ के कर्ता आचार्य शुभचन्द्र ने आपकी वन्दना करते हुए कहा है -

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसम्भवम्।
कलंकमङ्गिनां सोऽयं देवनन्दि नमस्यते।। १/१५

अर्थात् जिनकी शास्त्रपद्धति प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त (मन) के सभी प्रकार के मल (बुराईयों) को दूर करने में समर्थ है, उन देवनन्दि आचार्य को नमन करता हूँ। इनके द्वारा सृजित कृतियों में समाधितन्त्र एवं इष्टोपदेश- ये दो आध्यात्म की प्रतिपादक महान् कृतियाँ हैं।

समाधितन्त्र जिसका दूसरा नाम 'समाधिशतक' भी है, में १०५ पद्य हैं। इसके कर्ता आचार्य पूज्यपाद व्याकरण और काव्य - इन दोनों विधाओं के अपने समय के देश के ख्याति प्राप्त विद्वान् आचार्य थे। समाधितन्त्र अध्यात्म विद्या का अनुपम ग्रन्थ है। इसमें आपने आत्मा के तीन भेद अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का बड़ी सूक्ष्मता से स्वरूप विवेचन किया है। अध्यात्म विषयक जैन साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आ. पूज्यपाद के इस समाधितंत्र पर आचार्य कुन्दकुंद की चिन्तनधारा, विशेषकर मोक्षपाहुड़, नियमसार, समयसार इन ग्रंथों का विशेष प्रभाव है। इसी प्रकार आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ये आ. पूज्यपाद के समाधितंत्र से काफी प्रभावित हैं। विशेषकर ज्ञानार्णव के २९वें "शुद्धोपयोगविचार" नामक प्रकरण के अध्ययन से तो ऐसा लगता है कि उन्होंने समाधितंत्र के अभिप्राय को यथावत् आत्मसात् कर लिया है।[१]

समाधितन्त्र-अनुशीलन

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद विरचित समाधितंत्र जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ पर "समाधितंत्र अनुशीलन" नामक विस्तृत विवेचनात्मक व्याख्या करने वाले सन्त आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज ने अपने आध्यात्मिक चिन्तन और चर्चा के माध्यम से अपना विशेष स्थान बना लिया है। इस तरह के आपके अनेक ग्रंथों पर विशेष प्रवचनों एवं लेखन के माध्यम से

तात्त्विक व्याख्या परक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत समाधितंत्र अनुशीलन की विवेचना में तत्विषयक अनेक प्राचीन आचार्य प्रणीत ग्रंथों के चिन्तन को भी उद्धृत किया गया है। इस ग्रंथ की यह भी एक विशेषता दृष्टिगत हुई कि जैन न्याय के प्रमुख सूत्रग्रंथ परीक्षामुखसूत्र के अनेक न्यायविषयक सूत्रों की आध्यात्मिक विवेचना पहली बार यहाँ देखने व पढ़ने को मिली है। जैनधर्मदर्शन में आत्मा के तीन भेद हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। यही बात समाधितन्त्र में प्रतिपादित है -

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायद् बहिस्त्यजेत्।। ४।।

अर्थात् सर्व प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, इस तरह तीन प्रकार का आत्मा है। आत्मा के इन तीन भेदों में से अन्तरात्मा के उपाय द्वारा परमात्मा को अंगीकार करें और बहिरात्मा को छोड़ें।

यहाँ अन्तरात्मा का विषय विशेष केन्द्रित है। यद्यपि पूर्वोक्त श्लोक की काफी विस्तार से इस ग्रंथ में आ. श्री विशुद्धसागर जी द्वारा विवेचना प्रस्तुत की गई है। इसमें अन्तरात्मा के तीन भेद बतलाये हैं, जिन्हें आगे प्रस्तुत किया जायेगा। आगे के पद्य में त्रिविध आत्मा का स्वरूप है -

बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः।।५।।

अर्थात् शरीरादिक में आत्म भ्रान्ति को धरने वाला उन्हें भ्रम से आत्मा समझने वाला **बहिरात्मा** है। तथा चित्त के रागद्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में अभ्रान्त रखने वाला, उनका ठीक विवेक रखने वाला अर्थात् चित्त को चित्त रूप से, दोषों को दोष रूप से और आत्मा को आत्म रूप से अनुभव करने वाला **अन्तरात्मा** कहलाता है। तथा सर्वकर्ममल से रहित जो अत्यंत निर्मल है, वह **परमात्मा** है।

त्रिविध आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करने वाले इस पंचम पद्य के अनुशीलन में विस्तार से सर्वप्रथम बहिरात्मा का स्वरूप प्रतिपादित किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा कि "अनादि से अज्ञ जीव ने मिथ्यात्व का कटुपान किया है। इतना अभ्यास हो गया विपरीतता का, कि उसे मिथ्यात्व का तिक्तपना ही नहीं लगता, उसी में आनंद मना रहा है। सत्य वस्तु स्वरूप को जानने का विचार भी नहीं करता। हेय-उपादेय दृष्टि से विहीन हो गया। तीव्र कषायी, दीर्घसंसारी, आर्तरौद्रध्यानी, देवानां प्रियों (मूर्खों) को भूतार्थ सत्यार्थ मार्ग दिखता ही नहीं है।

अनुशीलनकार ने अन्तरात्मा की विवेचना करते हुए लिखा है- "अन्तरात्मा जीव शरीरादि बाह्य द्रव्यों से आत्मा को पूर्ण भिन्न ही स्वीकार करता है। चित्त में रागद्वेषादिक दोषों के और आत्मा के विषय में भ्रान्त रहने वाला बहिरात्मा में जो जो दोष थे, अन्तरात्मा के वे सभी दोष प्रलय को प्राप्त होते हैं। मिथ्या विषय कषाय को जो कालकूट विष के तुल्य समझता है। चारित्र मोहवश यदि कदाचित् संयम धारण नहीं भी कर पाता, फिर भी वह चारित्र के प्रति

तीव्र आस्थावान् होता है। जैसे अग्नि में मछली का जीवन असंभव है, उसी प्रकार मुमुक्षु भव्यवर भोगाग्नि को अपने जीवन के नाशक स्रोत स्वीकारता है। प्रतिक्षण अपने आपको भव भ्रमण से मुक्त करने को पुरुषार्थरत रहता है। अतः अन्तरात्मा उपादेयभूत है। इसके बाद द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म कलंक से रहित अति निर्मल परमात्मा का स्वरूप कहा है।

अन्तरात्मा कौन जीव होता है ? इसके तीन भेद किस प्रकार हैं ? इन सबके अनुशीलन में इस प्रकार कहा है जब संसारी जीव मिथ्यात्व का त्याग कर देता है, तब शरीरादि परद्रव्यों से आत्मबुद्धि समाप्त हो जाती है, तब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। वही सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा कहलाता है। इस अन्तरात्मा के उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन भेद हैं।

१. **उत्तम अन्तरात्मा-** अन्तरंग एवं बहिरंग का त्याग करने वाले, विषय कषायों को जीतने वाले और शुद्ध उपयोग में लीन होने वाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर सप्तम अप्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर द्वादश गुणस्थान क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ (१२वें गुणस्थान) पर्यन्त के जीव उत्तम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

२. **मध्यम अन्तरात्मा-** देशव्रत के पालक श्रावक तथा छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में स्थित मुनिराज मध्यम अन्तरात्मा कहलाते हैं।

३. **जघन्य अन्तरात्मा-** अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थान) गृहस्थ श्रावक जघन्य अन्तरात्मा है। इस प्रकार अन्तरात्मा के ये तीन भेद गुणस्थानानुसार हैं।

जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण में सोना, दुग्ध के मध्य घृत, तिल में तेल है, उसी प्रकार से शरीर के अन्दर परमात्म-शक्ति सम्पन्न सवरूप रूपी आत्मा है तथा जैसे काष्ठ में अग्नि शक्तिरूप से विराजमान है, उसी प्रकार यह भगवान् आत्मा शरीर में विराजमान है। उसे जो जानता है, वही पंडित है। किन्तु स्व शक्तिमान परमात्मा को जो नहीं जानता तथा नहीं मानता, वह बहिरात्मा है, और जो जानता भी है तथा मानता भी है, वही अन्तरात्मा/ज्ञानी/विवेकी/पंडित है। बाकी मात्र शास्त्र प्रवचन करने वाले भिन्न ही हैं। वे अन्तरात्मा हो भी सकते हैं, नहीं भी। इसलिए मोक्षमार्ग में जिसे पंडित कहा उसे ही समझना चाहिए। भूतार्थ पंडित तो भेदाभेद रत्नत्रय से मंडित आत्मा ही है, जो कि स्व के अन्दर के भगवान को जान रहे हैं।

वस्तुतः श्रमण संस्कृति प्रत्येक आत्मा को ईश्वर अंश न स्वीकार कर प्रत्येक आत्मा को ईश्वर शक्ति से युक्त स्वीकारती है। जो वर्तमान आत्मा है, वही आत्मा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को करने वाली है।

आत्मज्ञान जिसके घर में प्रवेश कर जाता है, उसके परमानंद की लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। सम्पूर्ण सुखों की खान निर्विकल्प आत्मध्यान है। बार-बार स्वानुभाव के दीप से प्रकाश कर स्व भवन में खोजने से एक उत्तर आया है, दुःख/पीड़ा- ये सब राग की पर्याएं ही हैं। राग है तो सर्वतः कष्ट/पीड़ा है। राग का अभाव जहाँ होता है, वहाँ तन में अग्नि लगने पर भी साम्यामृत का पान करते हैं, शुक्लध्यान श्रेणी आरोहण कर कैवल्य ज्योति को प्राप्त होते हैं।

परमात्मा पद की सिद्धि चाहते हैं तो कषाय को कषाय समझो तथा उसका बुद्धिपूर्वक विसर्जन करो। सुन्दर शरीर, उत्तम सुख की आकांक्षा, विषयों की लिप्सा में बहिरात्मा अशरीरी भगवान् आत्मा को छोड़ देता है। तप को तपकर भी अधोगति के मार्ग पर आरूढ़ होता है, जबकि अन्तरात्मा इससे विपरीत तप के प्रभाव से स्वात्मा को परमात्म पद दिलाता है, परद्रव्यों से स्वात्मा को पृथक् रूप संवेदन करता है तथा प्रतिक्षण हित की भावना भाता है। जैसे ही भेद विज्ञान प्रकट होता है तो अन्तरात्मा दशा के उदित होते ही योग एवं उपयोग सभी निर्मल होने लगते हैं। क्योंकि पंचेन्द्रिय विषयों में रत पुरूष क्या कभी स्यन्दिभूत समरसी भाव शुद्धात्मा के ध्यान को प्राप्त कर सकता है? नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण विषयों से भिन्न, मैं ज्ञानानंदी भगवती आत्मा हूँ। मैं अखण्ड चैतन्य पिंड हूँ, पर से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार से भिन्न परन्तु निश्चय से अभिन्न मेरा धर्म है। व्यवहार परग्राही है, निश्चय स्वग्राही है। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा भी है- **आत्माश्रितो निश्चयनयः पराश्रितो व्यवहारनयः**। (समयसार-आत्मख्याति ३५२)

निश्चयनय आत्मा के आश्रित है और व्यवहारनय पर के आश्रित है, यह समझना चाहिए। आत्मा का आनंद तो आत्मा में ही है, परन्तु उसका स्वाद कैसे प्राप्त हो, इस विषय पर स्वयं प्रश्न करो। एक साथ दो प्रकार की अनुभूतियाँ संभव नहीं हैं। आश्चर्य है, भोले जीव कैसे असंयमी के निश्चयानुभूति स्वीकारते हैं, जबकि सर्वत्र अध्यात्म आगम के ग्रंथों में संयमाचरण के होने पर ही यह स्वीकार की गई है। पंचेन्द्रिय व मन पर जय होना अनिवार्य है, जिसके अन्तःकरण में मृगनयनी स्त्री का निवास है, उसके अन्दर परमब्रह्म स्वरूप कहाँ ? व्यर्थ का प्रलाप मात्र है।

तत्त्वचर्चा करना सरल है, परन्तु तत्त्वानुभूति के लिए तद्रूप चर्या की आवश्यकता है। स्व में झांककर देखना चाहिए कि मेरे अन्तःकरण का परिणमन कैसा चल रहा है। कभी किसी इन्द्रिय विषय पर तो, कभी किसी पर जाकर रूकता है। पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ/अमनोज्ञ विषयों से परम उदासीनवृत्ति को स्वीकार करना होगा। जगत् में जीव के सर्वाधिक कष्टकारी इन्द्रिय विषय के उपभोग से कभी संतुष्टि नहीं होती, अपितु उनका दर्प अधिक-अधिक वृद्धि को ही प्राप्त होता है।

हमारे प्राचीन आचार्यों ने सर्वज्ञ वाणी के प्रचार प्रसार में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को निकाला है। सम्पूर्ण विद्याओं पर लेखनी चलाई है। आचार्य पूज्यपाद स्वामी को परम वरदान था, जिन्होंने अपनी लेखनी के माध्यम से श्रमण संस्कृति के वाङ्मय को नवीन चेतना प्रदान की है। आचार्य- देव की काव्यशैली की जितनी भी प्रशंसा की जाए वह सब कम ही है। इस श्लोक में आचार्य भगवन् ने बहिरात्मा एवं अन्तरात्मा के मनोभावों का बहुत ही प्राजंल शैली से कथन किया है। बहिरात्मा शरीर की अवस्थाओं को आत्मरूप मानता है।

जबकि पुरूष स्वतंत्र रूप से चिद्स्वरूप है। उसमें भेद नहीं, कषाय नहीं, वासना नहीं, कामना नहीं, निश्चयनय अखण्ड ध्रौव्य चैतन्य ज्ञान धनस्वरूप, शब्द का विषय नहीं, नेत्रादिक का विषय नहीं। वह स्वात्मानुभव का विषय है,- ऐसा सम्यक् दृष्टि अन्तरात्मा विचार करता है, जड़-देह के धर्मो से अपने चैतन्य प्रभु की रक्षा करता है।

प्रश्न - शिष्य पृच्छना करता है, प्रभु! भ्रांति को प्राप्त हुआ अन्तरात्मा उस भ्रांति को फिर कैसे छोड़े? आचार्य देव समाधान करते हैं-

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।
क्वरुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः।। ४६।।

अर्थात् अन्तरात्मा तब अपनी विचार परिणति को इस रूप करे कि यह जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ समूह है, वह सबका सब चेतनारहित/जड़ है और जो चैतन्य रूप आत्मसमूह है, वह इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं पड़ता, इसलिए मैं किस पर क्रोध करूँ और किस पर संतोष व्यक्त करूँ ? ऐसी हालत में मैं रागद्वेष के परित्याग रूप मध्यस्थ भाव को धारण करता हूँ।

लोक में तत्त्वज्ञानी के लिए न कोई वस्तु तुष्टीकार है, न अतुष्टीकारक है। वह विचारता है जगत् में जो द्रव्य दिखाई देते हैं वे सब जड़ हैं, अचेतन हैं, उन्हें कोई ज्ञान नहीं। उन पर क्या रोश करूँ, क्या तोश करूँ, जड़-द्रव्यों पर रागद्वेष क्या करना। जो चैतन्य द्रव्य है, वह किसी को दिखाई नहीं देता। फिर किस पर रोश करें, किस पर संतोष करें। इसलिए मध्यस्थता को धारण करना ही काषायिक भावों में रक्षा करना है। परम ज्ञायक स्वभावी टंकोत्कीर्ण भगवती आत्मा की शरण को प्राप्त हो जाता है। जहाँ फिर रागद्वेष का आत्मा से अत्यंताभाव हो जाता है। अब आत्मा अन्तरात्मा की दशा को भी पार करके परमात्म दशा को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ शिष्य पृच्छना करता है, प्रभु! बहिरात्मा और अन्तरात्मा के त्याग एवं ग्रहण के विषय को किसप्रकार प्रतिपादित किया जाता है ? आचार्यदेव इसका समाधान इस प्रतिपादन द्वारा करते हैं -

त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।
नान्तर्बहिरूपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः।।४७।।

मूर्ख बहिरात्मा बाह्य पदार्थों का त्याग और ग्रहण करता है तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञाता अन्तरात्मा अंतरंग रागद्वेष का त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप निज भावों को ग्रहण करता है, परन्तु शुद्ध स्वरूप में स्थित जो कृत-कृत्य परमात्मा है उसके अंतरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थ का न तो त्याग होता है और न ग्रहण होता है।

आचार्यदेव बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा के त्याग पर लक्ष्यपात करते समझा रहे हैं। बहिरात्मा मोहोदय से जिन बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करता है, उन्हीं में ग्रहण त्याग की क्रिया करता है। जिन द्रव्यों से राग होता है उन्हें ग्रहण करता है और जिसमें द्वेष बुद्धि होती है, उन्हें त्याग करता है। इस प्रकार रागद्वेष बुद्धि ग्रहण त्याग में भी करता है, जबकि आत्मा के स्वरूप को समझने वाला अन्तरात्मा रागद्वेष का त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप निज भावों को ग्रहण करता है। परन्तु जो निज शुद्धात्मस्वरूप में तिष्ठा है, वह कृतकृत्य परमात्मा है। अनेक अंतरंग बहिरंग किसी भी पदार्थ

का न तो त्याग होता है, न ग्रहण होता है। इस प्रकार त्रिविध आत्मा के ग्रहण, त्याग की दृष्टि को समझकर मुमुक्ष जीवों को बहिरात्मा को हेय जानना चाहिए। अन्तरात्मा एवं परमात्मा को परम उपादेय समझना चाहिये।

आगे शिष्य पुनः पृच्छना करता है कि, भगवन्! अन्तरात्मा-अंतरंग का त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे ? इसका आचार्यदेव समाधान करते हुए कहते हैं -

युंजीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसाव्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम्।। ४९।।

अर्थात् आत्मा को मन के साथ संयोजित करें- चित्त और आत्मा का अभेद रूप से अध्यवसाय करें। वचन और काय से अलग करें, उन्हें आत्मा न समझें और वचन-काय से किए हुए व्यवहार को मन से छोड़ देवें, उसमें चित्त को न लगाएं।

शिष्य पुनः पूछता है, भगवन्! जब अन्तरात्मा के सब विषयों से अरूचि हो जाती है फिर अन्तरात्मा की भोजनादि के ग्रहण में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? यहाँ आचार्य भगवन् इसका स्पष्ट करते हैं कि -

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः।। ५०।।

अन्तरात्मा को चाहिए कि वह आत्मज्ञान से भिन्न दूसरे कार्य को अधिक समय तक अपनी बुद्धि में धारण नहीं करे। यदि स्वपर के उपकारादिरूप से प्रयोजन के वश वचन और काय से कुछ करना ही पड़े तो उसे अनासक्त होकर करे।

अध्यात्म जीवन शैली जिनकी हैं, उन्हें अपना समय सतत् मौन साधना के साथ परमागम में व्यतीत करते रहना चाहिए। एक मात्र स्वद्रव्य को ही अपनी बुद्धि में स्थापित करना चाहिए। अन्य द्रव्यों को आत्म आँगन में अवस्थान नहीं देना चाहिए। उपयोग की धारा आत्मध्यान से जोड़े, संयोगी भावों से बुद्धिपूर्वक स्वयं को छोड़े, जगत् के कार्यों में रुचि न ले जाकर स्वकार्य में रुचि लगावें। श्रेय-मार्ग पर रुचि रखना मोक्षमार्गी का कार्य है। अन्तरात्मा को चाहिए कि वह आत्मज्ञान से भिन्न दूसरे कार्य को अधिक समय तक अपनी बुद्धि में धारण नहीं करे। यदि स्वपर उपकारादि रूप प्रयोजन के वश, वचन और काय से कुछ करना ही पड़े तो उसे अनासक्त होकर करे।

यहाँ शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है, भगवन्! अनासक्त हुआ अन्तरात्मा आत्मज्ञान को ही बुद्धि में धारण करे, शरीरादिक को नहीं, यह कैसे हो सकता है ? आचार्यदेव समाधान करते हैं-

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अतः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्।। ५१।।

अर्थात् अन्तरात्मा को विचारना चाहिए कि जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा मैं देखता हूँ। वह मेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर स्वाधीन करता हुआ जिस उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञान प्रकाश को अंतरंग में देखता हूँ-

अनुभव करता हूँ- वही मेरा वास्तविक स्वरूप होना चाहिए। यहाँ प्रश्न है कि अन्तरात्मा और क्या विचारता है ? आचार्यदेव समझाते हैं -

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधते।।५९।।

जिस विकल्पाधिरुढ़ आत्मस्वरूप को अथवा देहादिक को समझाने-बुझाने की मैं इच्छा करता हूँ - चेष्टा करता हूँ, वह मैं नहीं हूँ, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं हूँ। और जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मा स्वरूप मैं हूँ, वह भी दूसरे जीवों के उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है- वह तो स्वसंवेदन के द्वारा अनुभव किया जाता है। इसलिए दूसरे जीवों को मैं क्या समझाऊँ ?।

अतः बहिरात्मा-दृष्टि को छोड़कर, अन्तरात्मा बनकर शरीर के स्वभाव का विचार करना चाहिए। ये शरीर जड़ है, इनमें सुख-दुःख का वेदन कहाँ। यह वेदनभाव तो आत्मा का धर्म है। उसे समझा नहीं और शरीर में सुख-दुःख की मान्यता ले बैठा है मूढ़ जीव। परन्तु अन्तरात्मा विचारता है कि ये शरीर जड़ होने से सुखों तथा दुःखों को नहीं जानते हैं, तथापि जीव इन शरीरों में ही उपवासादि द्वारा दण्डरूप निग्रह की और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रह की बुद्धि- धारण करते हैं, वे जीव मूढ़बुद्धि हैं, बहिरात्मा हैं।

यहाँ शिष्य पुनः विनयपूर्वक पृच्छना करता है कि - भगवन्! शरीर और आत्मा का जिसे भेद-विज्ञान हो गया है, ऐसे अन्तरात्मा को यह जगत् योगाभ्यास की प्रारंभावस्था में कैसा दिखाई देता है ? आचार्य भगवन् समाधान करते हैं -

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्।।८०।।

जिसे आत्मदर्शन हो गया है ऐसे योगी जीव को योगाभ्यास की प्राथमिक अवस्था में यह सब प्राणिसमूह उन्मत्त सरीखा मालूम होता है किंतु बाद को जब योग की निष्पन्नावस्था हो जाती है तब आत्मस्वरूप के अभ्यास में परिपक्व बुद्धि हुए अन्तरात्मा को यह जगत् काठ और पत्थर के समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

इस प्रकार शरीर में आत्मबुद्धि रखने वाले बहिरात्मा अनेक नवीननवीन शरीर को धारण कर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं जबकि अन्तरात्मा एकत्व विभक्त निजज्ञायक भाव से युक्त स्वात्मा को शरीर सम्बन्ध से पृथक् करता है, निज सम्यक् साधना के प्रभाव से। जैसे कि विवेकी ज्ञानी शिल्पकार स्वर्ण पाषाण से स्वर्ण पृथक् कर लेता है अग्नि के तेज से, उसी प्रकार ज्ञानी साधन-निजात्म-ध्यान-साधना के माध्यम से कर्म, नोकर्म किट्टिमा को आत्मस्वर्ण से पृथक् कर लेता है। एकमात्र स्वभाव आत्मद्रव्य को निजज्ञेय, ध्येय बनाकर भेद-विज्ञानी जीव अपना कार्य करता है। अन्य से पूर्ण विराम ले लेता है, परमशून्य स्वभाव की साधना ही एकमात्र लक्ष्य रखता है।

- अनेकान्त विद्या भवन, बी- २३/४५,
शारदानगर कॉलोनी, खोजवां, वाराणसी-२२१०१०

Year-65, Volume-3 July-September 2012
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)
Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) **(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)**

संस्थापक / Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' / **Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'**

सम्पादक मण्डल / **Editor**

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी / Prof. Phoolchand Jain 'Premi',Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी, / Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर / Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली / Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली / Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subsercription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondance for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

ते गुरू मेरे मन बसो

ते गुरू मेरे मन बसो, जो भव जलधि जिहाज,
आप तिरहि, पर तारही, ऐसे श्री ऋषिराज।
जेठ लये, रवि आकरो, सूखे सरवर नीर,
शैल शिखर मुनि तप तपै, दाझैं मग्न शरीर। ते गुरू..।
पावस रैन डरावनी, बरसै जल धर-धार,
तरू तल निवसैं तब यती, बाजै झंझा व्यार। ते गुरू..।
शीत पडै कपि मद जलै, दाहै सब बनराय,
लाल तंरग तटैं, ठाडे ध्यान लगाय। ते गुरू...।
इहिं विधा दुदर तप तपैं लीनों काल मझार,
लागे सहज स्वरूप में तन सों ममत निवार। ते गुरू..।
पूरव भो न चिंलचै, आगम बाछैं नाहि,
चहुंगति के दुख सों डरैं, सुरति लगी शिव माही। ते गुरू..।
रंग महल में पौढते, कोमल सेज विछाय,
ते पच्छिम निशि भूमि में सोवें संवरि काय। ते गुरू...।
गज चढ़ि चलते गरबसो, सेना सजि चतुरंग,
निरखि-निरखि पत्र वे धरैं, पाले करूणा अंग। ते गुरू..।
वे गुरू चरण जहां धरैं जग में तीरथ जेह,
सो रज मम मस्तक चढ़ो, ''भूधर'' मागै एह। ते गुरू..।

-कविवर भूधरदास

विषयानुक्रमणिका

	विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1	जैन कथा साहित्य : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण	*-प्रो. सागरमल जैन*	5-13
2	भारतीय कला में जैन दर्शन व कला का संगम	*-डॉ. मुक्ति पाराशर*	14-18
3	वैचारिक समन्वय के रूप में अनेकान्तवाद	*- रामनरेश जैन*	19-24
4	आचार्य श्री शांतिसागर जी एवं श्रमण परंपरा : कल आज और कल	*- प्राचार्य पं. निहालचंद जैन*	25-33
5	न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार जैन और उनके द्वारासम्पादित सिद्धिविनिश्चय टीका	*- डॉ. रमेशचन्द जैन*	34-39
6	समण सुत्तं में उद्धृत कर्म सूत्रों की उपादेयता	- समणी आगमप्रज्ञा	40-45
7	आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार जैन प्रमाणमीमांसा	*- विकास सिंह*	46-50
8	Jainism, Quantum Physics and Evolving Spiritualism	- Dr. M. B. Modi	51-70
9	आचार्य वट्टकेर विरचित 'मूलाचार'और प्रायश्चित्त व्यवस्था	*- डॉ. कमलेशकुमार जैन*	71-77
10	णवकार-मंत्र माहात्म्य	*- डॉ. उदयचन्द्र जैन*	78-81
11	श्रुत पंचमी पर्व पर राष्ट्रीय व्याख्यानमाला		82-83
12	भेद रत्नत्रय - अभेद रत्नत्रय तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार के परिप्रेक्ष्य मे	*- डॉ. आनंद कुमार जैन*	84-86
13	श्रुत-पंचमी-पर्व : श्रुत-साधना का प्रेरक-स्रोत-	*डॉ. राजाराम जैन*	87-94
14	श्रद्धांजलि - लाला शीलचन्द जैन जौहरी		95
15	ग्रन्थ समीक्षा		96

जैन कथा साहित्य : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण

-प्रो. सागरमल जैन

कथा साहित्य का उद्‌भव उतना ही प्राचीन है, जितना इस पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व। चाहे साहित्यिक दृष्टि से कथाओं की रचना कुछ परवर्ती हो, किन्तु कथा-कथन की परम्परा तो बहुत पुरानी है। कथा साहित्य के लिए अंग्रेजी में छंततंजपअम सपजमतंजनतम शब्द प्रचलित है, अतः आख्यान या रूपक के रूप में जो भी कहा जाता है या लिखा जाता है, वह सभी कथा अंतर्गत आता है। सामान्य अर्थ में कथा वह है जो कही जाती है। किन्तु जब हम कथा साहित्य की बात करते हैं, तो उसका तात्पर्य है, किसी व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में कथित या लिखित रूप में जो भी हमारे पास है, चाहे वह किसी भी भाषा में हो, कथा के अंतर्गत आता है। यह सत्य है कि पूर्व में कथाओं को कहने की परंपरा मौखिक रूप में रही है, बाद में उन्हें लिखित रूप दिया गया। दूसरे शब्दों में पूर्व में कथाएँ श्रुत परंपरा से चलती रही हैं, बाद में ही उन्हें लिखित रूप दिया गया है, यह बात जैन कथा साहित्य के सन्दर्भ में भी सत्य है। जैन परम्परा में भी कथाएं पहले अनुश्रुति के रूप में ही चलती रही है और यही कारण है कि लौकिक परम्पराओं के आधार पर उनमें समय-समय पर संक्षेपण, विस्तारण, परिशोधन, परिवर्तन, एवं सम्मिश्रण होता रहा है, उनका स्वरूप तो उस समय स्थिर हुआ होगा, जब उन्हें लिखित स्वरूप प्रदान कर पुस्तकारूढ़ किया गया होगा।

मौखिक परम्परा के रूप में इन कथाओं ने समग्र भूमण्डल की यात्राएँ की है और उनमें विभिन्न धर्मों एवं सामाजिक संस्कृतियों के माध्यम से आंशिक परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है। विभिन्न देशों में प्रचलित कथाओं में भी आंशिक साम्य और आंशिक वैषम्य देखा जाता है, हितोपदेश और ईसप की कथाएँ इसका प्रमाण है। जैन कथाओं में भी इन लोक-कथाओं के अनेक आख्यान सम्मिलित हो गये हैं, जैसे- शेख चिल्ली की कथा। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इन कथाओं के पात्र देव, मनुष्य और पशु पक्षी सभी रहे हैं। जहाँ तक जैन कथाओं का प्रश्न है उनके भी मुख्य पात्र देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी देखे जाते हैं। जैन कथाओं में जैन लेखकों के द्वारा तो देवों एवं मनुष्यों के साथ-साथ पशु-पक्षी ही नहीं, वृक्षों और फूलों को भी रूपक बनाकर कथाओं को प्रस्तुत किया जाता रहा है। आचारांग एवं ज्ञाताधर्मकथा में कछुए की रूपक कथा के साथ-साथ सूत्रकृतांग में कमल को भी रूपक बनाकर भी कथा वर्णित है। लोक परम्परा में प्रेमाख्यान के रूप में हिन्दी में तोता-मैना की कहानियाँ आज भी प्रचलित हैं, किन्तु ऐसी प्रेमाख्यान जैन परंपरा में नहीं है, उसमें पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि के रूपक भी तप-संयम की प्रेरणा के हेतु नहीं है।

जैन कथा साहित्य का सामान्य स्वरूप -

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब भी हम जैन कथा-साहित्य की बात करते हैं वह बहु-आयामी और व्यापक है। रूपक, आख्यानक, संवाद, लघुकथाएं, एकांकी, नाटक, खण्ड काव्य, चरितकाव्य और महाकाव्य से लेकर वर्तमान कालीन उपन्यास शैली तक की सभी कथा-साहित्य की विधाएँ उसके अंतर्गत आ जाती है। आज जब हम जैन कथा-साहित्य की बात करते हैं, तो जैन परम्परा में लिखित इन सभी विधाओं का साहित्य इसके अंतर्गत आता है। अतः जैन कथा साहित्य बहुविध और बहु-आयामी है।

पुनः यह कथा साहित्य भी गद्य, पद्य और गद्य-पद्य मिश्रित अर्थात् चम्पू इन तीनों रूपों में मिलता है। मात्र इतना ही नहीं वह भी विविध भाषाओं और विविध कालों में लिखा जाता रहा है।

जैन साहित्य में कथाओं के विविध प्रकार -

जैन आचार्यों ने विविध प्रकार की कथाएँ तो लिखीं, फिर भी उनकी दृष्टि विकथा से बचने की ही रही है। दशवैकालिकसूत्र में कथाओं के तीन वर्ग बनाये गये हैं - अकथा, कथा और विकथा। उद्देश्यविहीन, काल्पनिक और शुभाशुभ की प्रेरणा देने से भिन्न उद्देश्य वाली कथा को अकथा कहा गया है, जबकि कथा नैतिक उद्देश्य से युक्त कथा है और विकथा वह है, जो विषय-वासना को उत्तेजित करे। विकथा के अंतर्गत जैन आचार्यों ने राजकथा, भातकथा, स्त्रीकथा ओर देशकथा को लिया है। कहीं-कहीं राजकथा के स्थान पर अर्थकथा और स्त्रीकथा के स्थान पर कामकथा का उल्लेख मिलता है।

दशवैकालिक में अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा- ऐसा भी एक चतुर्विध वर्गीकरण मिलता है और वहाँ इन कथाओं के लक्षण भी बताये गये हैं। यह वर्गीकरण कथा के वर्ण्य विषय पर आधारित है। पुनः दशवैकालिक में इन चारों प्रकार की कथाओं में से धर्मकथा के चार भेद किये गये हैं। धर्मकथा के वे चार भेद हैं - आक्षेपनी, विक्षेपणी, संवेगिणी और निर्वेदनी। टीका के अनुसार पापमार्ग के दोषों का उद्भावन करके धर्ममार्ग या नैतिक आचरण की प्रेरणा देना आक्षेपणी कथा है। अधर्म के दोषों को दिखाकर उनका खण्डन करना विक्षेपणी कथा है। वैराग्यवर्धक कथा संवेगिनी कथा है। एक अन्य अपेक्षा से दूसरों के दुःखों के प्रति करूणाभाव उत्पन्न करने वाली कथा संवेगिनी कथा है, जबकि जिस कथा से समाधिभाव और आत्मशांति की उपलब्धि हो या जो वासना और इच्छा जन्य विकल्पों को दूर कर निर्विकल्पदशा में ले जाये वह निर्वेदनी कथा है। ये व्याख्याएं मैंने मेरी अपनी दृष्टि के आधार पर की है। पुनः धर्मकथा के इन चारों विभागों के भी चार-चार उपभेद किये गये हैं किन्तु विस्तार भय से यहाँ उस चर्चा में जाना उचित नहीं होगा। यहाँ मात्र नाम निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा।

(अ) आक्षेपनी कथा के चार भेद हैं - १. आचार २. व्यवहार ३. प्रज्ञप्ति और ४. दृष्टिवाद।

(ब) विक्षेपनी कथा के चार भेद हैं - १. स्वमत की स्थापना कर, फिर उसके अनुरूप परमत का कथन करना २. पहले परमत का निरूपण कर, फिर उसके आधार

पर स्वमत का पोषण करना ३. मिथ्यात्व के स्वरूप की समीक्षा कर फिर सम्यक्त्व का स्वरूप बताना और ४. सम्यक्त्व का स्वरूप बताकर फिर मिथ्यात्व का स्वरूप बताना।

(स) संवेगिनी कथा के चार भेद हैं - १. शरीर की अशुचिता, २. संसार की दुःखमयता ३. संयोगो का वियोग अवश्यमभावी है - ऐसा चित्रण कर ४. वैराग्य की ओर उन्मुख करना।

(द) निर्वेदनी कथा का स्वरूप है - आत्मा के अनन्त चतुष्टय का वर्णनकर व्यक्ति में ज्ञाता दृष्टाभाव या साक्षीभाव उत्पन्न करना।

विभिन्न भाषाओं में रचित जैन कथा साहित्य -

भाषाओं की दृष्टि से विचार करे तो जैन कथा साहित्य प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तमिल, अपभ्रंश, मरूगुर्जर हिन्दी, मराठी, गुजराती और क्वचित रूप में बंगला में भी लिखा गया है। मात्र यही नहीं प्राकृत और अपभ्रंश में भी उन भाषाओं के अपने विविध रूपों में वह मिलता है। उदाहरण के रूप में प्राकृत के भी अनेक रूपों यथा अर्धमागधी, जैन शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि में जैन कथा साहित्य लिखा गया है और बहुत कुछ रूप में आज भी उपलब्ध है। गुणाढय ने अपनी बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में लिखी थी, यद्यपि दुर्भाग्य से आज वह उपलब्ध नहीं है। आज जो जैन कथा साहित्य विभिन्न प्राकृत-भाषाओं में उपलब्ध है उनमें सबसे कम शौरसेनी में मिलता है, उसकी अपेक्षा अर्धमागधी या महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी में अधिक है, क्योंकि उपलब्ध आगम और प्राचीन आगमिक व्याख्याएँ इसी भाषा में लिखित हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में जैन कथा साहित्य उन दोषों भाषाओं की अपेक्षा भी विपुल मात्रा में प्राप्त होता है और इसके लेखन में श्वेताम्बर जैनाचार्यों एवं मुनियों का योगदान अधिक है। दिगम्बर आचार्यों की रूचि अध्यात्म और कर्म साहित्य में अधिक रही फलतः भगवती आराधना में संल्लेखना के साधक कुछ व्यक्तियों के नाम निर्देश को छोड़कर उसमें अधिक कुछ नहीं मिलता है। यद्यपि कुछ जैन नाटकों में शौरसेनी का प्रयोग अवश्य देखा जाता है, इस परम्परा में हरिषेण का बृहत्कथाकोश ही एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जा सकता है, इसके अतिरिक्त आराधना कथाकोश भी है। अर्धमागधी और महाराष्ट्री के मिश्रित रूप वाले आगमों और आगमिक व्याख्याओं में जैन कथाओं की विपुलता है, किन्तु उनकी ये कथाएं मूलतः चरित्र-चित्रण रूप तथा उपदेशात्मक ही है, साथ ही वे नैतिक एवं आध्यात्मिक विकार करने की दृष्टि से लिखी गई है। आगमिक व्याख्याओं में निर्युक्ति साहित्य में मात्र कथा का नाम-निर्देश या कथा-नायक के नाम का निर्देश ही मिलता है। इस दृष्टि से निर्युक्तियों की स्थिति भगवती आराधना के समान ही है, जिनमें हमें कथा निर्देश तो मिलते हैं किन्तु कथाएँ नहीं है। कथाओं का विस्तृत रूप भाष्यों की अपेक्षा भी चूर्णि या टीका साहित्य में ही अधिक मिलता है। चूर्णियाँ जैन कथाओं का भण्डार कही जा सकती है। चूर्णि साहित्य की कथाएँ उपदेशात्मक तो है ही, किन्तु वे आचार नियमों के उत्सर्ग और अपवाद की स्थितियों को स्पष्ट करने की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, किन परिस्थितियों में कौन आचरणीय नियम अनाचरणीय बन जाता है इसका स्पष्टीकरण चूर्णी की कथाओं में ही मिलता है। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में किस अपराध का क्या प्रायश्चित होगा, इसकी भी सम्यक् समझ

चूर्णियों के कथानकों से ही मिलती है। इस प्रकार चूर्णीगत कथाएँ जैन आचार शास्त्र की समस्याओं के निराकरण में दिशा-निर्देशक है।

जहाँ महाराष्ट्र प्राकृत के कथा साहित्य का प्रश्न है, यह मुख्यतः पद्यात्मक है और इसकी प्रधान विधा खण्डकाव्य, चरितकाव्य और महाकाव्य है यद्यपि इसमें धूर्ताख्यान जैसे कथापरक एवं गद्यात्मक ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। इस भाषा में सर्वाधिक कथा साहित्य लिखा गया है और अधिकांशतः यह आज उपलब्ध भी है।

प्राकृतों के पश्चात् जैन कथा-साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत भाषा में भी उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनेक पुराण, श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्र का त्रिषष्टीशलाकापुरूषचरित्र आदि अनेक चरित्र काव्य संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त जैन नाटक और दूतकाव्य भी संस्कृत भाषा में रचित है। दिगम्बर परम्परा में वरांगचरित्र आदि कुछ चरित्रकाव्य भी संस्कृत में रचित है। ज्ञातव्य है कि आगमों पर वृत्तियाँ और टीकाएँ भी संस्कृत भाषा में लिखी गई है। यद्यपि इनमें अधिकांश कथाएँ वही होती है जो प्राकृत आगमिक व्याख्याओं में संग्रहित है, फिर भी ये कथाएँ चाहे अपने वर्ण्य विषय की अपेक्षा से समान हो, किन्तु इनके प्रस्तुतिकरण की शैली तो विशिष्ट ही है। उस पर उस युग के संस्कृत लेखकों की शैली का प्रभाव देखा जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रबन्ध ग्रन्थ भी संस्कृत में लिखित है।

संस्कृत के पश्चात् जैन आचार्यों का कथा-साहित्य मुख्यतः अपभ्रंश और उसके विभिन्न रूपों में मिलता है, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि अपभ्रंश में भी मुख्यतः चरितकाव्य ही विशेष रूप से लिखे गये हैं। स्वयम्भू आदि अनेक लेखकों ने चरित काव्य भी अपभ्रंश में लिखे हैं - जैसे पउमचरिउ आदि।

भाषाओं की अपेक्षा से अपभ्रंश के पश्चात् जैनाचार्यों ने मुख्यतः मरूगुर्जर अपनाया। कथासाहित्य की दृष्टि से इसमें पूर्व कथाएं एवं चरितनायकों के गुणों को वर्णित करने वाली छोटी-बड़ी अनेक रचनाएं मिलती हैं। विशेष रूप से चरितकाव्य और तीर्थमालाएं मरूगुर्जर में ही लिखी गई हैं। तीर्थमालाएं तीर्थों सम्बन्धी कथाओं पर ही विशेष बल देती है। चरित, चौपाई, ढाल आदि विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र पर आधारित होती है और वे गेय रूप में होती है। इसके अतिरिक्त इसमें 'रासो' साहित्य भी लिखा गया है जो अर्ध ऐतिहासिक कथाओं का प्रमुख आधार माना जा सकता है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी, गुजराती, मराठी और बंगला में भी जैन कथा साहित्य लिखा गया है। महेन्द्रमुनि (प्रथम), उपाध्याय अमरमुनिजी एवं उपाध्याय पुष्करमुनि जी ने हिन्दी भाषा में अनेक कथाएं लिखी हैं, इसमें महेन्द्रमुनि जी ने लगभग २५ भागों में, अमरमुनि जी ने ५ भागों में और उपाध्याय पुष्करमुनि जी ने १४० भागों में जैन कथाएं लिखी हैं। ये सभी कथाएं कथावस्तु और नायकों की अपेक्षा से तो पुराने कथानकों पर आधारित है, मात्र प्रस्तुतीकरण की शैली और भाषा में अंतर है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय केवल मुनि जी और कुछ अन्य लेखकों ने उपन्यास शैली में अनेक जैन उपन्यास भी लिखे हैं। जहां तक मेरी

जानकारी है वर्तमान में पांच सौ से अधिक जैन कथाग्रंथ हिन्दी में उपलब्ध है और इनमें भी कथाओं की संख्या तो सहस्राधिक होगी।

हिन्दी के अतिरिक्त जैन कथा साहित्य गुजराती भाषा में भी उपलब्ध है, विशेष रूप से आधुनिक काल के कुछ श्वेताम्बर आचार्यो और अन्य लेखकों ने गुजराती भाषा में अनेक जैन कथाएं एवं नवलकथाएं लिखी है यद्यपि इस सम्बन्ध में मुझे विशेष जानकारी तो नहीं है फिर भी जो छुट-पुट जानकारी डॉ. जीतेन्द्र बी. शाह से मिली है, उसके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि गुजराती भाषा में जैन कथाओं पर लगभग तीन सौ से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध है। गुजराती कथा लेखकों में रतिलाल देसाई चुन्नीलाल शाह, बेचरदास दोशी, मोहनलाल धामी, विमलकुमार धामी, कुमारपाल देसाई, धीरजलाल शाह आचार्य भद्रगुप्तसूरि, भुवनभानसूरि, शीलचन्द्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, रत्नसुंदरसूरि, चन्द्रशेखरसूरि आदि प्रमुख है। इसके साथ ही दिगम्बर परंपरा में भी कथा ग्रंथ हिन्दी एवं मराठी में लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त गणेशजी लालवानी ने बंगला में भी कुछ जैन कथाएं लिखी है।

जहां तक दक्षिण भारतीय भाषाओं का प्रश्न है तमिल, कन्नड में अनेक जैन कथा ग्रंथ उपलब्ध है, इनमें तमिल ग्रंथों में जीवकचिंतामणि, श्री पुराणम् आदि प्रमुख है। इसके साथ कन्नड में भी कुछ जैन कथा ग्रंथ है, इनमें 'आराधनाकथै' नामक एक ग्रन्थ है, जो आराधनाकथाकोश पर आधारित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कथा साहित्य बहुआयामी होने के साथ-साथ विविध भाषाओं में भी रचित है। तमिल एवं कन्नड के साथ-साथ परवर्तीकाल में तेलगू, मराठी आदि में भी जैन ग्रंथ लिखे गये हैं।

विभिन्न काल खण्डों का जैन कथा साहित्य -

कालिकदृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन कथा साहित्य ई. पू. छठी शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक रचा जाता रहा है। इस प्रकार जैन कथा साहित्य की रचना अवधि लगभग सत्ताईस सौ वर्ष है। इतनी सुदीर्घ कालाधि में विपुल मात्रा में जैन आचार्यो ने कथा साहित्य की रचना की है। भाषा की प्रमुखता के आधार पर काल क्रम के विभाजन की दृष्टि से इसे निम्न पांच काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है -

१. **आगमयुग** - ईस्वी पूर्व छठी शती से ईसा की पांचवी शती तक।

२. **प्राकृत आगमिकव्याख्यायुग** - ईसा की दूसरी शती से ईसा की आठवीं शती तक

३. **संस्कृत टीका युग या पूर्वमध्ययुग** - ईसा की आठवीं शती से १४वीं शती तक।

४. **उत्तर मध्ययुग या अपभ्रंश एवं मरूगुर्जर युग** - ईसा की १४वीं शती से १८वीं शती तक।

५. **आधुनिक भारतीय भाषा युग** - ईसा की १९वीं शती से वर्तमान तक।

भारतीय इतिहास की अपेक्षा से इन पांच कालखण्डों का नामकरण इस प्रकार भी करसकते हैं - १. पूर्वप्राचीन काल २. उत्तरप्राचीन काल ३. पूर्वमध्य काल ४. उत्तरमध्य काल और ५. आधुनिक काल। इनकी समयावधि तो पूर्ववत् ही मानना होगी। यद्यपि कहीं-कहीं कलावधि में ओव्हर लेपिंग (अतिक्रमण) है, फिर भी इन कालखण्डों की भाषाओं एवं

विधाओं की अपेक्षा से अपनी-अपनी विशेषताएं भी है। आगे हम इन खण्डों के कथा साहित्य की विशेषताओं को लेकर ही कुछ चर्चा करेंगें-

प्रथम काल खण्ड में मुख्यतः अर्धमागधी प्राचीन आगमों की कथाएं आती हैं- ये कथाएं मुख्यतः आध्यात्मिक उपदेशों से सम्बन्धित है और अर्धमागधीप्राकृत में लिखी गई हैं। दूसरे ये कथाएं संक्षिप्त और रूपक के रूप में लिखी गई है। जैसे- आचारांग में शैवाल छिद्र और कछुवे द्वारा चांदनी दर्शन के रूपक द्वारा सद्धर्म और मानवजीवन की दुर्लभता का संकेत है। सूत्रकृतांग में श्वेतकमल के रूपक से अनासक्त व्यक्ति द्वारा मोक्ष की उपलब्धि का संकेत है। स्थानांगसूत्र में वृक्षों, फलों आदि के विविध रूपकों द्वारा मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न प्रकारों को समझाया गया है। समवायाग के परिशिष्ट में चौबीस तीर्थंकरों के कथासूत्रों का नाम-निर्देश है। इसी प्रकार भगवती में अनेक कथा रूप संवादों के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं के निराकरण है। इसके अतिरिक्त आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों के अंतिम भागों में सूत्रकृतांग के षष्टम अध्ययन में और भगवती में महावीर के जीवनवृत्त के कुछ अंशों को उल्लेखित किया गया है। इनके कल्पसूत्र और उसकी टीकाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के जीवन के कथानकों में अतिशयों का प्रवेश कैसे-कैसे हुआ है।

जैन कथा साहित्य की अपेक्षा से ज्ञाताधर्मकथा की कथाएं अति महत्त्वपूर्ण है, इसमें संक्षेप रूप से अनेक कथाएं वर्णित है। प्रथम मेधकुमार नामक अध्ययन में वर्तमान मुनि जीवन के कष्ट अल्प है और उपलब्धियां अधिक है, यह बात समझायी गयी है। दूसरे अध्ययन में धन्ना सेठ द्वारा विजयचोर को दिये गये सहयोग के माध्यम से अपवाद में अकरणीय करणीय हो जाता है यह समझाया गया है। कछुवे के कथानक के माध्यम से संयमी जीवन की सुरक्षा के लिए विषयों के प्रति उन्मुख इन्द्रियों के संयम की महत्ता को बताया गया है। उपासकदशा में श्रावकों के कथानकों के माध्यम से न केवल श्रावकाचार को स्पष्ट किया गया है, अपितु साधना के क्षेत्र में उपसर्गों में अविचलित रहने का संकेत भी दिया गया है। अंतकृतदशा, औपपातिकदशा और विपाकदशा में विविध प्रकार की तप साधनाओं के स्वरूप को और उनके सुपरिणामों को समझाया गया है।

उपांग साहित्य में रायपसेनीयसुत्त में अनेक रूपकों के माध्यम से आत्मा के अस्तित्त्व को सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि में भी उपदेशप्रद कुछ कथानक वर्णित है। नन्दीसुत्र में औपपातिकी बुद्धि के अंतर्गत रोहक की १४ और अन्य की २६ ऐसी कुल ४० कथाओं, वैनियकी बुद्धि की १५, कर्मजाबुद्धि की १२ और पारिणामिकी बुद्धि की २१ कथाओं, इस प्रकार कुल ८८ कथाओं का नाम संकेत है उसकी टीका में इन कथाओं के नाम संकेत से यह तो ज्ञात हो जाता है कि नन्दीसूत्र के कर्ता को उन संपूर्ण कथाओं की जानकारी थी। इस काल की जैन कथाएं विशेष रूप से चरित्र चित्रण संबन्धी कथाएं ऐतिहासिक कम और पौराणिक अधिक प्रतीत होती है। यद्यपि उनको सर्वथा काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें वर्णित कुछ व्यक्ति ऐतिहासिक भी है। आगमयुग की कथाओं में कुछ चरित नायको के ही पूर्व जन्मों की चर्चा है उनमें अधिकांश की या तो मुक्ति दिखाई गई

है या फिर भावी जन्म दिखाकर उनकी मुक्ति का संकेत किया गया है। कहीं-कहीं जाति स्मरण ज्ञान द्वारा पूर्वभवों की चेतना का निर्देश भी किया गया है। आगमों में जो जीवन गाथाएं वर्णित है, उनमें साधनात्मक पक्ष को छोड़कर कथा विस्तार अधिक नहीं है।

आगमयुग के पश्चात् दूसरा युग प्राकृत आगमिक व्याख्याओं का युग है। इसे उत्तर प्राचीन काल भी कह सकते हैं। इसकी कालावधि ईसा की दूसरी-तीसरी शती से लेकर सातवीं शती तक मानी जा सकती है। इस कालावधि में जो महत्त्वपूर्ण जैन कथाग्रंथ अर्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री प्राकृत में लिखे गये उनमें विमलसूरि का पउमचरियं, संघदासमणि की वसदेववहिण्डी और अनुपलब्ध तरंगवई कहा प्रमुख है। इस काल की अंतिम शती में यापनीय परंपरा में संस्कृत में लिखा गया वारांगचरित्र भी आता है। यह भी कहा जाता है कि विमलसूरि ने पउमचरियं (रामकथा) के समान ही हरिवंश चरियं के रूप में प्राकृत में कृष्ण कथा भी लिखी थी, किन्तु यह कृति उपलब्ध नही है। इन काल के इन दोनों कथा ग्रंथों की विशेषता यह है कि उनमें आवान्तर कथाएं अधिक है। इस प्रकार इन कथा ग्रंथों में कथाप्ररोह शिल्प का विकास देखा जा सकता है। इस काल के कथा ग्रंथों में पूर्व भवान्तरों की चर्चा भी मिल जाती है।

स्वतंत्र कथाग्रंथों के अतिरिक्त इस काल में जो प्राकृत आगमिक व्याख्याओं के रूप में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी साहित्य लिखा गया है उनमें अनेक कथाओं के निर्देश है। यद्यपि यहां यह ज्ञातव्य है कि निर्युक्तियों में जहां मात्र कथा संकेत है वहां भाष्य और चूर्णि में उन्हें क्रमशः विस्तार दिया गया है। धूर्ताख्यान की कथाओं का निशीथभाष्य में जहां मात्र तीन गाथाओं में निर्देश है, वही निशीथचूर्णि में ये कथाएं तीन पृष्ठों में वर्णित है। इसी को हरिभद्र ने अधिक विस्तार देकर एक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना कर दी है।

इस काल के कथा साहित्य की विशेषता यह है कि इसमें अन्य परंपराओं से कथा वस्तु को लेकर उसका युक्ति-युक्त करण किया गया है, जैसे पउमचरियं में रामचरित्र में सुग्रीव हनुमान को वानर न दिखाकर वानरवंश के मानवो के रूप में चित्रित किया गया है। इसी प्रकार रावण को राक्षस न दिखाकर विद्याधर वंश का मानव ही माना गया है। साथ ही कैकेयी, रावण आदि के चरित्र को अधिक उदात्त बनाया गया है। साथ ही धूर्त्ताख्यान की कथा के माध्यम से हिन्दू पौराणिक एवं अवैज्ञानिक कथाओं की समीक्षा भी व्यंगात्मक शैली में की गई है। राम और कृष्ण को स्वीकार करके भी उनको ईश्वर के स्थान पर श्रेष्ठ मानव के रूप में ही चित्रित किया गया है। दूसरे आगमिक व्याख्याओं विशेष रूप से भाष्यों और चूर्णियें में जो कथाएं है, वे जैनाचार के नियमों और उनकी आपवादिक परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के निमित्त है।

जैन कथा साहित्य के कालखण्डों में तीसरा काल आगमों की संस्कृत टीकाओं तथा जैन पुराणों का रचना काल है। जैन कथा साहित्य की रचना की अपेक्षा से यह काल सबसे समृद्ध काल है इस कालावधि में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय तीनों की परंपराओं के आचार्यो और मुनियों ने विपुलमात्रा में जैन कथा साहित्य का सृजन किया है। यह कथा साहित्य मुख्यतः चरित्र-चित्रण प्रधान है, यद्यपि कुछ कथा-ग्रंथ साधना और उपदेश प्रधान भी है। जो

ग्रंथ चरित्र-चित्रण प्रधान है वे किसी रूप में प्रेरणा प्रधान तो माने ही जा सकते हैं। दिगम्बर परंपरा के जिनसेन (प्रथम) का आदिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण, रविषेण का पद्मचरित्र, जिनसेन द्वितीय का हरिवंश पुराण आदि इसी कालखण्ड की रचनाएं है। श्वेताम्बर परंपरा में हरिभद्र की समराइच्चकहा, कौतूहल कवि की लीलावईकहा, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला, सिद्धर्षि उपमितीभवप्रपंचकथा, शीलांक का चउपन्नमहापुरिसचरियं, धनेश्वरसूरि का सुरसुन्दरीचरियं विजयसिंहसूरि की भुवनसन्दरीकथा, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू, धनपाल की तिलकमंजरी, हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित्र, जिनचन्द्र की संवेगरंगशाला, गुणचन्द्र का महावीरचरियं एवं पासनाहचरियं देवभद्र का पाण्डवपुराण आदि अनेक रचनाएं हैं। इस कालखण्ड में अनेक तीर्थंकरों के चरित्र-कथानकों को लेकर भी प्राकृत और संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस काल की रचनाओं में पूर्वभवों की चर्चा प्रमुख रही है इससे ग्रंथों के आकार में भी वृद्धि हुई है, साथ ही एक कथा में अनेक अंतर कथाएं भी समाहित की गई है। इसके अतिरिक्त इस काल के अनेक स्वतंत्र ग्रंथों और उनकी टीकाओं में भी अनेक कथाएं संकलित की गई है- उदाहरण के रूप में हरिभद्र की दशवैकालिक टीका में ३० और उपदेशपद में ७० कथाएं गुम्फित है। संवेगरंगशाला में १०० से अधिक कथाएं है। पिण्डनिर्युक्ति और उसकी मलयगिरि की टीका में भी लगभग १०० कथाएं दी गई है। इस प्रकार इस काल खण्ड में न केवल मूल ग्रंथों और उनकी टीकाओं में अवान्तर कथाएं संकलित है, अपितु विभिन्न कथाओं का संकलन करके अनेक कथाकोशों की रचना भी जैनधर्म की तीनों शाखाओं के आचार्यों और मुनियों द्वारा की गई है - जैसे- हरिषेण का "बृहत्कथाकोश", श्रीचन्द्र का "कथा-कोश", भद्रेश्वर की "कहावली", जिनेश्वरसूरि का "कथा-कोष प्रकरण", देवेन्द्र गणि का "कथामणिकोश", विनयचन्द्र का "कथानक कोश", देवभद्रसूरि अपरनाम गुणभद्रसूरि का "कथारत्नकोष", नेमीचन्द्रसूरि का "आख्यानक मणिकोश", आदि। इसके अतिरिक्त प्रभावकचरित्र, प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिंतामणि आदि भी अर्ध ऐहितासिक कथाओं के संग्रह रूप ग्रंथ भी इसी काल के हैं। इसी काल के अंतिम चरण में प्रायः तीर्थों की उत्पत्ति कथाएं और पर्वकथाएं भी लिखी जानी लगी थी। पर्व कथाओं में महेश्वरसूरि की 'णाषपंचमीकहा' (वि.सं.११०९) तथा तीर्थ कथाओं में जिनप्रभ का विविधतीर्थकल्प भी इसी कालखण्ड के ग्रंथ है। यद्यपि इसके पूर्व भी लगभग दशवीं शती में "सारावली प्रकीर्णक" में शंत्रुजय तीर्थ की उत्पत्ति कथा वर्णित है। यद्यपि अधिकांश पर्व कथाएं और तीर्थोत्पत्ति की कथाएं उत्तरमध्यकाल में ही लिखी गई हैं।

इसी कालखण्ड में हार्टले की सूचनानुसार ब्राह्मणपरम्परा के दुर्गसिंह के पंचतंत्र की शैली का अनुसरण करते हुए वादीभसिंहसूरि नामक जैन आचार्य ने भी पंचतंत्र की रचना की थी।

इसके पश्चात् आधुनिक काल आता है, जिसका आरंभ १९वीं शती से माना जा सकता है। इस काल में मुख्यतः हिन्दी भाषा में जैन कथाएं और उपन्यास लिखे गये। इसके अतिरिक्त कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने गुजराती भाषा को भी अपने कथा-लेखन का माध्यम बनाया। क्वचित रूप में मराठी और बंगला में भी जैन कथाएं लिखी गई। बंगला में जैन कथाओं के

लेखन का श्रेय भी गणेश ललवानी को जाता है। इस युग में जैन कथाओं और उपन्यास के लेखन में हिन्दी कथा शिल्प को ही आधार बनाया गया है। सामान्यतया जैन कथाशिल्प की प्रमुख विशेषता नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना ही रही है, अतः उसमें कामुक कथाओं और प्रेमाख्यानकों का प्रायः अभाव ही देखा जाता है, यद्यपि वज्जालग्गं तथा महाकाव्यों के कुछ प्रसंगों को छोड़ दे तो प्रधानता नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की ही रही है। यद्यपि कथाओं को रसमय बनाने के हेतु कही-कही प्रेमाख्यानकों का प्रयोग तो हुआ है फिर भी जैन लेखकों को मुख्य प्रयोजन तो शान्तरस या निर्वेद की प्रस्तुति ही रहा है।

जैन कथाओं का मुख्य प्रयोजन -

१. जन-सामान्य का मनोरंजन कर उन्हें जैनधर्म के प्रति आकर्षित करना।

२. मनोरंजन के साथ-साथ नायक आदि के सद्‌गुणों का परिचय देना।

३. शुभाशुभ कर्मों के परिणामों को दिखाकर पाठकों को सत्कर्मों या नैतिक आचरण के लिए प्रेरित करना।

४. शरीर की अशुचिता एवं सांसारिक सुखों की नश्वरता को दिखाकर वैराग्य की दिशा में प्रेरित करना।

५. किन्हीं आपवादिक परिस्थितियों में अपवाद मार्ग के सेवन के औचित्य और अनौचित्य को स्पष्ट करना।

६. पूर्वभवों या परवर्तीभवों के सुख-दुःखों की चर्चा के माध्यम से कर्म सिद्धान्त की पुष्टि करना।

७. दार्शनिक समस्याओं का उपयुक्त दृष्टान्त एवं संवादों के माध्यम से सहज रूप में समाधान प्रस्तुत करना जैसे - आत्मा के अस्तित्त्व की सिद्धि के रायपसेनीय के कथानक में राजा के तर्क और केशी द्वारा उनका उत्तर।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कथा साहित्य बहुउद्‌देशीय बहु आयामी और बहुभाषी होकर भी मुख्यतः उपदेशात्मक और आध्यात्मिक रहा है। उसका उद्‌देश्य निवृत्ति मार्ग का पोषण ही है। वह सोद्‌देश्य और आध्यात्मिक मूल्यों का संस्थापक रहा है और लगभग तीन सहस्राब्दियों से निरन्तर रूप से प्रवाहमान है।

- प्राच्यविद्यापीठ,

दुपाड़ा रोड, शाजापुर-४६५००१ (म.प्र.)

भारतीय कला में जैन दर्शन व कला का संगम

-डॉ. मुक्ति पाराशर

सृजन में समाहित है **सौन्दर्य**। सौन्दर्य कलाकर के सौन्दर्य बोध से उद्भासित होकर कला के द्वारा सजीव हो उठता है। भारतीय दर्शन व चिन्तन में सौन्दर्य सदैव सत्य का अनुगामी एंव शिव के भाव को धारण किए रहा है। यही कारण है कि भारतीय कला धर्माव मानवीय मूल्यों की संवाहक रही है। भारतीय जीवन-दर्शन को ठीक से समझने के प्रयास कर कला में आध्यात्मिक ऊष्मा को विशेष स्थापित किया है। कला का साहित्य से भी प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है।

वात्सायन ने चित्र सूत्रं में कहा है कि :-

कलानां प्रवरं चित्रं, धर्मकामार्थ मोक्षदम्।
मागंल्यं प्रथमं चैतद ग्रहे तत्र प्रतिष्ठतं।।

मानव जीवन के चार पुरूषार्थ (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) जैनेत्तर में भी समान रुप से महत्त्वपूर्ण है और चित्रकला श्रेष्ठतम् तथा मंगल रुप में प्रथम है।

भारतीय कला इतिहास में राजा ''नग्नजित'' तथा विश्वकर्मा को प्रथम कलाचार्यो के रुप में प्रस्तुत किया गया है। भारतीय चित्रकला के शिल्प का विकास ऐतिहासिक दृष्टि से दो प्रकार का माना है।(१) वैज्ञानिक दृष्टिकोण (२) पौराणिक दृष्टिकोण। जैन दर्शन के अनुसार आदि काल का मानव भोग भूमि में रहता था। उसकी सभी आवश्यकतायें कल्प वृक्षों द्वारा पूर्ण हो जाती थी। अतः वह अन्य चीजों से अनभिज्ञ था। अतः जब कृत्य युग या कर्म भूमि का प्रारम्भ हुआ तो प्रथम तीर्थकर ऋषभ देव ने मानव को सभ्यता का पाठ पढ़ाया और जीवन निर्वहन के लिए शस्त्रविद्या (असि), लेखन (मसि), खेतीबाड़ी, अध्ययन व अध्यापन और शिल्प (वस्तु, मूर्ति, चित्र, स्वर्णकार आदि) की शिक्षा दी। जैन दर्शन के प्रथम अध्येता भगवान ऋषभ देव नग्न हो तपश्चरण कर ज्ञान प्राप्त कर अरिहन्त हुए है अतः उन्हें भी आगम में नन्नजीत, भयजीत नाम दिया गया है। उन्होने अपने पुत्र को भी चित्रकला सिखाई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से देखे जो जैन धर्म व कला के प्रमाण की उपलब्धता सिंधु घाटी की कलात्मक मोहरो पर बताई जाती है। उसे जैन कला के रूप में काफी हद तक मान्यता दी जा सकती है।

हडप्पा की लिपि व मुहरों पर मिले चित्रों को भी जैन धर्म से सम्बन्धित माना है। इस सन्दर्भ में संभवतः सबसे पहला शोधपत्र पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के तत्वावधान मे सारनाथ में आयोजित गोष्ठी में जनवरी १९८८ में प्रस्तुत किया गया था। (प्राकृतविद्या, २०००, पृष्ठ स. ५४) कुछ मोहरों के उदाहरण निम्न है :-

योगाभ्यास (हड़प्पन रोट इन लैगुंइज, डॉ० रमेश जैन, पुराभिलेख पत्रिका) सींग धारण किये एक व्यक्ति तख्त जैसे आसन पर विराजमान है । यह व्यक्ति योगसाधना में रत है। इसी तरह एक मोहर पर छोटे सींग वाले एक सांड़ को ऋषभ के प्रतीकरुप में माना है। ऐसे कई उदाहरण है जो जैन धर्म के प्रतीकों के नजदीक है। एक नग्न ध्यानावस्था योगी की मूर्ति जिसकी दृष्टि नाक के अग्रमान पर है। प्राप्त मोहरों के ऊपर ध्यानस्थ पुरूष तथा पशु, हाथी, सिंह, हिरण, महिष साथ-साथ दिखायें है। एक अन्य गोल मोहर पर ध्यानमग्न नग्न पुरूष है तथा चारों तरफ लता मण्डप है। संभवतः इसे भगवान बाहुबली का चित्र कहा जा सकता है। ''जैन परम्परा और प्रमाण'' में मुनि विद्यानन्दजी ने इन्हें जैन कला की मान्यता दी है। मुख्यतः सिन्धु घाटी में कुछ प्रतीक मिले है। जैंसे - पुरूदेव - (ऋषभदेव) नग्न खण्डगासन, कायोत्सर्ग मुद्रा अवस्थित, बाहुबली, शीर्षोवरि अभिमण्डित त्रिशुल (त्रिरत्न का प्रतीक) साथियॉ, मृदुलता पर्ण आदि जैन परम्परा के प्रमाण है।

जैन दर्शन ने प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक युग तक कला में चाहे मूर्ति हो, वास्तु हो या चित्रकला अपना प्रभाव व उपस्थिति को दर्शाता है।

प्रागैतिहासिक गुफाओं में भी प्राप्त आड़ी-तिरछी रेखाओं में भी नग्न मानव कृतियाँ काफी कुछ प्रतीक रुप में जैन परम्परा का बोध कराती है। इसी तरह भिति चित्रों की विधिवत् परम्परा में ३ शताब्दी ई. पू. में जोगीमारा के चित्रों को डॉ. ब्लाख तथा असित कुमार हाल्दर तथा क्षेमेंन्द्र नाथ कला मनीषियों ने अपने गहन अध्ययन के बाद इन्हें प्राचीनतम् तथा जैन कला के चित्र कहा है। यहाँ नग्न मानव कृतियाँ स्पष्टतः जैन मुनियों का सकेंत देती है। यहां माँ त्रिशला का चित्र बड़ा ही भावपूर्ण है। ऐसे कई नग्न दृश्य यहाँ है, कालान्तर में इसमें शिवलिंग की स्थापना हो गयी है एंव भिति चित्र क्षतिग्रस्त हो गये। जोगीमारा के बाद बौद्ध कला के अवशेष अजन्ता व बाघ में उत्कृष्ट है किन्तु साथ में जैन कला कें भिति चित्र भी अनवरत रुप में बनते रहे। ७ वीं शती में बादामी की गुफाओं के मिति चित्र बीजापुर में आइहोल के निकट वात्सपिपुरम् पर्वतो के मध्य चित्र है। इनमें बादामी की गुफा सं. ४ में जैनधर्म से सम्बन्धित उत्कीर्ण कला स्पष्ट है। बादामी में जैन कला का उत्कृष्ट रुप दिखाई देता है। जिसमें महावीर स्वामी की ध्यानस्थ परम्परा साथ ही पार्श्वनाथ और बाहुबली की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ बनी है।

दक्षिण भारत मे तमिलनाडु में सित्तलवासल की गुफा जैन मन्दिर ६०० से ६२५ ई. के मध्य बने है। इन्हे पल्लव वंश के शासक महेन्द्र वर्मन ने बनवाया था। यहाँ भित्ति व उत्कीर्ण दोनो प्रकार के चित्र है। चित्रों का विषय जैन तीर्थकरों के पौराणिक कथानक पर आधारित है।

सित्तलवासल में प्राचीन जैन मन्दिर हैं। यहाँ जैन तीर्थकारों के चित्र है। इसमें दूसरी सहत वाले चित्रों में अपभ्रंश 'शैली का चित्रण है। रेखाओं के माध्यम से आकारों का सौष्ठव निखारा गया है। इनमें हरा , पीला तथा भूरा रंगों का संयोजन किया गया है एंव दिगम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बंधित चित्र है। चित्र कलात्मक व भावात्मक रुप में उत्कृष्ट है। कुशाण काल में भी मथुरा भी जैन धर्म की मूर्तिशिल्प के विकास का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। गुप्त कालीन जिन मूर्तियों को भी विभिन्न मुद्राओं यथा नग्न मुद्रा, अजानबाहु, ध्यानमुद्रा आदि मे प्रस्तुत किया

गया है। इन मूर्तियों में हथेली एवं तलवों पर धर्मचक्र का चिन्ह, भोहों के मध्य उर्णा (रोगगुच्छ) आदि परम्पराएं विद्यमान है। जिन मूर्तियों में उष्णीष कुछ अधिक सुन्दर तथा घुघरालेपन लिए हुऐ है, प्रभा मण्डल में भी विशेष सजावट देखी जा सकती है। धर्म चक्र का उत्कीर्णन पूर्ण वृत्त रुप में किया गया है। इस समय तीर्थकरों के मूर्ति शिल्प में ऊष्ट ग्रहों, मालाधारी गंधर्वों व नेमीनाथ के साथ कृष्ण, बलदेव की मूर्तियों को भी बनाया गया है। इस समय की जैन मूर्तियां के विदेशों के संग्रहालय में देवगढ़, राजग्रह, बेसनगर, बूंदी चंदेरी आदि जगह गुप्तकालीन जैन शिल्प व अभिलेख के दर्शन हो सकते है।

ऐलोरा (६-९ वीं ई.) मे भी पॉच गुफाओं (३०-३४) में भी जैन धर्म की दार्शनिकता दिखाई देती है। यहाँ इन्द्र सभा का अंलकरण एवं मूर्तन बेजोड़ है। इसमें इन्द्र, इन्द्राणी एंव महावीर भगवान का मूर्तन भव्य बन पड़ा है। इस के अलावा देश में कई जगह और राजस्थान में भी जैन शिल्प अद्वितीय है। औसिया (जौधपुर) दिलवाड़ा मन्दिर, रणकपुर (पाली), गिरनार के जैन मन्दिर, बेलूर, तिरक्कोल, श्रवणबेलगोला, चन्द्रगिरी, मदुरई, चिन्तुर आदि के कलात्मक स्पष्ट रुप से देखी जा सकती है।

जैन धर्म पर आधारित उत्कृष्ट भिति चित्रों कि शिल्पों के अलावा इस धर्म का एक रुप पट चित्रों, ताड़पत्रों, भोजपत्रों पर व कागज पर बनी लघु चित्रशैली के रुप में भी देखा जा सकता है। ग्रन्थों व वसली पर जैन शैली जिसे अपभ्रंश भी कहा जाता है, में जो चित्र बने हैं वह कई अन्य धर्मो व विषयों पर भी है, किन्तु चित्रों की कुछ कलात्मक विशेषताएँ ऐसी है, जिसे जैन शैली के चित्र कहा जाता है। जैन कला का मुख्य ध्येय ज्ञान रंजन व लोक रंजन दोनों ही रहा है और मुख्य उद्देश्य दर्शन व धर्म के गूढ विषयों को कला व चित्रों के माध्यम से आमजन तक पहुँचाना था ताकि वे अपने जीवन की महत्त्वता व कलात्मकता के साथ आसानी से जैन दर्शन को भी समझें।

भारतीय चित्रकला में वाचस्पति गेरोला ने जैन ग्रन्थों का आरम्भ ५०० ई० पूर्व माना है। यह ताड़पत्रों, कागज आदि पर लिपिबद्ध हुए हैं। जैन शैली के सचित्र ग्रन्थ लघु चित्र या पोथी चित्र (दृष्टान्तचित्र) ७वी० ई० के बाद से ही आरम्भ से ही आरम्भ माना गया है। बौद्ध ग्रन्थों की भाँति जैन ग्रन्थों को भी सचित्र किया गया व इन्हें लघु चित्रशैली की श्रेणी में रखा जाता है। वाचस्पति गेरोला ने (पृ० सं० १३६) में जैन कला को भारतीय चित्रकला के इतिहास में कागज पर की गई समृद्धि में सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान जैन कलाकारों का है। जैन कला के अधिकतर प्रमाण कलाकारों की निपूर्णता के साथ ताड़पत्रीय पोथियों व पाण्डुलिपियों में देखने को मिलता है। ताड़पत्रों पर बने प्राचीनतम् चित्र श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की निशीथ चूर्णी (११०० ई०) नामक पुस्तक में है। दशवैकालिक लघुवृत्ति, त्रिष्ठिशलाकापुरूष चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, कल्पसूत्र, कालकाचार्य कला में चित्रित सबसे प्राचीन उदाहरण मिलते है। मूड बिदिरे में होयसाल कालीन ताड़पत्रीय जैन ग्रन्थ ''वीरसेन की धवल'' जयधवल तथा महाधवल टीकाएँ सुरक्षित है। इन चित्रों में प्रायः चोकोर स्थान में एक आकृति बनी होती है। देवी-देवताओं के चित्रों को केवल आयुधों व वाहनों से ही पहचाना जा सकता है।

कपड़े पर सर्वप्रथम चित्र पाटन के भण्डार का पंचतीर्थी पट उल्लेखनीय है। अहमदाबाद में वसन्त-विलास (१६ वीं शती) का पट चित्र है।

कागज पर बने चित्र प्रायः पुस्तकों में है। इसकी सबसे पुरानी प्रति जौनपुर के कल्प सूत्र की है। यह ग्रन्थ सुनहरी अक्षरों में लिखा है।

ताडपत्रों पर बने प्रायः बाई और एक तिहाई (१/३) भाग पर दृष्टान्त के रुप में अभिलेखित है। तथा दो तिहाई (२/३) पर सुन्दर हस्त लिपि में ग्रन्थकार ने लिखा हुआ है। कई में बीचों बीच अगल-बगल में लिखकर बीच में चित्र बने है। जैनशैली की चित्रकला पर मुनि श्री कान्तिसागर जी ने विशेष प्रकाश डाला है। दृष्टान्त चित्रों को कोई नियमों मे नहीं बनाया। १०-१२ वी शती के चित्र सर्वाधिक सुरक्षित है। इनमें निशीथ चूर्णिका, कथा सरित सागार, अंगसूत्र, लघुवृति, नेमिनाथ चरित्र, त्रिषष्ठिशाला का पुरुष चरित्र, संग्रहणीय सूत्र, दशवैकालिक, श्रावण प्रतिक्रमण चूर्णी, आदि सचित्र पोथियों में इस शैली का कलात्मक रुप दिखाई देता है। कुछ चित्रित ग्रन्थ मिल गए किन्तु कुछ ग्रन्थ भण्डारों व व्यक्तिगत संग्रह में है जो प्रकाश में नहीं आ पाए।

इस शैली के चित्रों में प्रतिकात्मकता पूर्ण बनी आकृतियाँ ही मुख्य विशेषताएं हैं। चैत्य, चैत्यालय, द्विमूर्तिका, त्रिमूत्रि का, सर्वतोभंजिका, चैत्यवृक्ष, त्रिरन्त, अष्टमंगल, अष्टप्रतिहार्य, सोलह स्वप्न, नवनिधि, नवग्रह, श्रीवत्स, मकरमुख, शार्दुल की चक, गंगा, यमुना आदि तथा कुछ तीर्थकरों को भी विभिन्न वर्ण, वृक्ष के प्रतीक रुप में भी दर्शाया गया है। जैसें-

महावीर तीर्थकर	-	पीलावर्ण, केसरी सिंह	-	दीक्षातरू
पार्श्वनाथ तीर्थकर	-	नीलवर्ण, सर्प	-	अशोक वृक्ष
नेमिनाथ तीर्थकर	-	कालावर्ण, शंख	-	बेधसवृक्ष
ऋषभनाथ तीर्थकर	-	स्वर्णिमवर्ण, वृष	-	कदली वृक्ष

जैन शैली के चित्रों में कुछ ऐसी विशेषताएँ थी, जो प्रायः सभी चित्रों में पाई जाती है। जैसे- इस शैली के चित्रों का फलक तथा पत्र पर अंकित होना। यद्यपि जैन शैली ७ वीं सदी में विकसित हुई किन्तु १००० ई० के बाद तेजी से विकास हुआ। नेत्रों के चित्रण की उनकी अपनी विशेषताएँ हैं, और वे उठे हुए तथा बाहर को उभरे हुए है। कानों तक उनकी लम्बाई है। एक चश्म चेहरे में दूसरी आँख को अलग से बनाया जाना, प्रकृति को कम चित्रित करना, रेखाएं महीन नीब से बनाई दिखने वाली, आकृतियों का वक्षस्थल उभराव, कटि क्षीण आदि विशेषताएं इन चित्रों में दिखाई देती है। जैन धर्म से कला का प्रसार तो हुआ है, किन्तु इस शैली में कला तत्वों का उचित उपयोग नहीं हो पाया। इसका कारण ज्यादा मात्रा में चित्र बनाना या अकुशल कलाकारों द्वारा चित्र बनाना रहा होगा ।

१२ वीं शती में जैन कला में शिथिलता आ गई थी। उत्तर मध्यकाल (१०००-१६०० ई.) वाचस्पति गैरोला के अनुसार इस युग में अधिकतर पुस्तकों के दृष्टान्त चित्र निर्मित हुए। ऐसी सचित्र पोथियों का निर्माण प्रायः बंगाल, बिहार और नेपाल में हुआ। इस युग की चित्रशैली के सम्बन्ध में रायकृष्ण दासजी का कथन है कि - इनमें लाल (सिंदूर, हिग्गुल, महावर) पीला

(हरताल, प्योडी) नीला (लाजवन्ती तथा नील) सफेद एवं काला के सम्मिश्रण से उत्पन्न हरे, गुलाबी, बैंगनी फाख्तई आदि रंगो का प्रयोग मिलता है। पटरों के चित्रों या उनकी रक्षा के लिए लाख चढी होती थी। भिति चित्रों के निर्माण से पहले बौद्धकला और जैनकला का समृद्व रूप मूर्तियों तथा मन्दिरों के शिल्प में सुरक्षित था। जैन शैली मारवाड, अहमदाबाद, मालवा, जौनपुर, अवध, पंजाब , बंगाल और उड़ीसा के साथ-साथ नेपाल ,बर्मा तथा स्याम में भी यह शैली पहुँचीं।

जैन चित्रकला अपभ्रंश अपने समृद्ध स्वरूप में भारतीय चित्रकला में रची बसी होकर भी अपना अलग अस्तित्व रखती है। जैनागम में स्पष्ट लिखा है -

सर्व एवहि जैनानां प्रमाणं लौकिक विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हार्निन यत्र न व्रत दूषणम्।। (आदिपुराण)

कला कल्याण की जननी है। पुराणों में ऐतिहासिक ६३ महापुरूषों का जीवन वृतान्त है जिसमें २४ तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती , नौ बलभद्र , नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण के कथानक हैं। जैन साहित्य व कला (वास्तु, मूर्ति, चित्र) इन्हीं के आदर्शो को अभिव्यक्त करते है। इस शैली में शोध हुआ है किन्तु अभी भी न जाने कितनी कलात्मक उपलब्धियाँ हैं जिन पर और शोध की आवश्यकता है। सम सामायिक समाज व संस्कृति का चित्रण सत्य रूप में पुराणों में ही उपलब्ध होता है। पुराण साहित्य स्वयं भगवान के श्रीमुख से, तीर्थंकरों से निःसृत है।

संदर्भ ग्रंथ :-

१. भारतीय चित्रकला का इतिहास -अविनाश बहादुर वर्मा
२. आदि पुराण पर्व
३. भारतीय चित्रकला - डॉ . एस. एन. सक्सेना
४. फाइन आर्ट इन इंडिया एंड सेलोन - विन्सेन्ट स्मिथ, प्र. ७७
५. भारतीय चित्रकला - वाचस्पति गैरोला
६. पुराण साहित्य में जीवन मूल्य - डॉ पी. सी. जैन
७. हड़प्पा की मोहरो पर जैन पुराण और आचरण के संदर्भ - डॉ रमेश चन्द्र जैन (प्राकृत विद्या २००० प्र.स. ५४)

- विभागाध्यक्ष चित्रकला
अकलंक गर्ल्स पी. जी. कॉलेज
कोटा (राजस्थान)

वैचारिक समन्वय के रूप में अनेकान्तवाद (२०वीं शताब्दी के जैनाचार्यों के चिंतन में)

- रामनरेश जैन

अनेकान्त जैनदर्शन का हृदय है। सकल जैन साहित्य अनेकान्त के रूप में कथित है। अनेकान्त स्याद्वाद को समझे बिना जैनदर्शन को समझ पाना तो दुष्कर है ही, उसमें प्रवेश पाना भी कठिन है। अनेकान्त दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है, जो वस्तुतत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक गुणधर्म व्याप्त है। एकान्त दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर सकते हैं। वस्तुतत्त्व के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है और वह अनेकान्त दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। बीसवीं शताब्दी के जैनाचार्यों ने भी अनेकान्त स्याद्वाद के माध्यम से समग्रतापूर्ण चिंतन प्रस्तुत किया है। आचार्य ज्ञानसागर कहते हैं[१] -

अनेकशक्त्यात्मक वस्तु तत्त्वं, तदेकया सवदतो%न्यसत्वम्।
समर्थयत्स्यात्पदमन्न भाति स्याद्वादनामैवमिहोक्ति जाति ।।

अर्थात् वस्तु तत्त्व अनेक शकत्यात्मक है, अनेक शक्तियों का पुंज है। जब कोई मनुष्य एक शक्ति की अपेक्षा से उसका वर्णन करता है तब वह अन्य शक्तियों के सत्व का अन्य अपेक्षाओं से समर्थन करता ही है। इस अन्य शक्तियों की अपेक्षा को जैन सिद्धान्त स्यात् पद से प्रकट करता है। वस्तुतत्त्व के कथन में इस स्यात् अर्थात् कथंचित् पद के प्रयोग का नाम ही स्याद्वाद है। इसे ही कथंचित्वाद या अनेकान्तवाद भी कहते हैं।

आचार्य तुलसी कहते हैं कि[२] एक वस्तु में अनेक विरोधी का स्वीकार ही अनेकान्त है। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जिसका एक ही रूप हो। अनेक विरोधी रूपों का बोध अनेकान्त दृष्टि द्वारा ही संभव है। आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं[३] अनेकान्त शब्द की रचना दृष्टि से निषेधात्मक है किन्तु पर्याय की दृष्टि से वह निषेधात्म नहीं है। अनेकान्त द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता का वाचक है। अनेक का अर्थ एक से अधिक है पर उसका अर्थ अनिश्चित या अनन्त नहीं है। आचार्य देवेन्द्र मुनि कहते है[४] अनेकान्तवाद जैन परंपरा की एक विलक्षण सूझ है, जो वास्तविक सत्य का साक्षात्कार करने में सहायक है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद की महिमा बताते हुए आचार्य विद्यानंद कहते है[५] भारतीय साहित्य में स्याद्वाद, अनेकान्तवाद और सापेक्षवाद के बिना शुरूआत ही नहीं हो सकती और न ही हम वक्ता लोग बिना सापेक्षवाद के किसी को कुछ बता सकते हैं।

स्याद्वाद यह स्यात्+वाद इन दो शब्दों से मिलकर बना है। स्याद् यह शब्द निपात अव्यय है। वाद-कथन करना, मान्यता आदि धर्मों के रूप में ज्ञात होता है। स्यात् शब्द तिडन्त

प्रतिरूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैन दर्शन में इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में भी होता है। स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तात्मक वाक्य। स्याद्वाद अनेकान्त दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है।[६] आचार्य तुलसी कहते है[७] - अनन्त धर्मात्मक द्रव्य का किसी एक धर्म के माध्यम से प्रतिपादन करना स्याद्वाद है, समग्र द्रव्य के प्रतिपादन का नाम स्याद्वाद है।

आचार्य देवेन्द्रमुनि कहते हैं[८] स्याद्वाद पद का अर्थ हुआ सापेक्ष सिद्धान्त, अपेक्षावाद, कथंचित्वाद या वह सिद्धान्त, जो विविध दृष्टि बिन्दुओं से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण परीक्षण करता है। आचार्य विद्यानंद कहते हैं[९] - अनेकान्त की अभिव्यक्ति को स्याद्वाद कहते हैं। इसको सापेक्षवाद भी कहते हैं, जैसे-कमण्डलु है उसे घड़ा कहना सत्य है और असत्य भी है। सत्य इसलिए कि वह जल-पात्र है, असत्य इसलिए कि वह घड़ा नहीं बल्कि कमण्डलु है।

अनेकान्त से वस्तु-तत्त्व की सिद्धि -

अनन्त धर्मात्मक वस्तुतत्त्व की सिद्धि एकान्तदृष्टि से संपन्न नहीं होती अपितु अनेकान्त से ही होती है। प्रत्येक तत्त्व की अनन्तधर्मता प्रमाण से भलीभांति सिद्ध होकर विलसित हो रही है। इसलिए एकान्त को मानना तो मूर्खता का स्थान है। विद्वज्जन को ऐसी एकान्तवादिता स्वीकार करने के योग्य नहीं है किन्तु अनेकान्तवादिता को ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि अनेकान्तवाद की सिद्धि प्रमाण से प्रसिद्ध है।[१०] आचार्य देवेन्द्रमुनि कहते हैं[११] - अनेकान्तवाद का आलोक हमें निराशा के अंधकार से बचाता है। वह हमें ऐसी विचारधारा की ओर ले जाता है, जहाँ सभी प्रकार के विरोधों का उपशमन हो जाता है। आचार्य तुलसी कहते हैं[१२] - अनेक धर्मों में से जो भी धर्म मुख्य होकर सामने आता है, वह उसके आधारभूत द्रव्य को जानने का माध्यम बन जाता है। इस ज्ञान पद्धति में द्रव्य और धर्म की अभिन्नता का बोध बना रहता है। द्रव्य और धर्म (पर्याय) सर्वथा अभिन्न नहीं है, उनकी अभिन्नता एक अपेक्षा या एक दृष्टिकोण से सिद्ध है। अनेकान्तवाद दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक वस्तु नित्यानित्य है। द्रव्य और पर्याय का सम्मिलित रूप वस्तु है या यों कहें कि द्रव्य और पर्याय मिलकर ही वस्तु कहलाते हैं। पर्यायों के अभाव में द्रव्य का और द्रव्य के अभाव में पर्याय का कोई अस्तित्व नहीं है।

वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म -

वस्तुतत्त्व सापेक्ष है और स्याद्वाद पद्धति से ही उसका ठीक तरह से प्रतिपादन है तो वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व के विषय में भी हमें अनेकान्त को लागू करके देखना होगा।[१३] कई लोग अस्तित्व और नास्तित्व को विरोधी धर्म समझकर एक ही वस्तु में दोनों का समन्वय असंभव मानते हैं। मगर वे भूल जाते हैं कि एक ही अपेक्षा से यदि अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया जाये तभी उनमें विरोध होता है, विभिन्न अपेक्षाओं से विधान करने में कोई विरोध नहीं होता। जैसे किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कहना कि वह मनुष्य है मनुष्येतर नहीं, भारतीय है पाश्चात्य नहीं, वर्तमान में है सदा से या सदा रहने वाला नहीं, विद्वान् है मूर्ख नहीं है तो क्या हम उस

व्यक्ति के विषय में परस्पर विरुद्ध विधान करते हैं ? नहीं।[१४] इसी प्रकार आचार्य ज्ञानसागर कहते हैं[१५] -

धूकापचान्ध्यंददेव भास्वान् कोकापशोकं वितरन् मुधावान्।
भुवस्तले किन्न पुनर्धियापि आस्तित्वमेकल च नास्ति तापि।।

अर्थात् भूतल पर प्राणियों को प्रकाश देने वाला सूर्य उल्लू को अन्धापना देता है और सबको शान्ति देने वाला चन्द्रमा कोक पक्षी को प्रिया वियोग का शोक प्रदान करता है।

फिर बुद्धिमान लोग यह सत्य क्यों न मानें कि एक ही वस्तु में किसी अपेक्षा अस्तित्व धर्म भी रहता है और किसी अपेक्षा नास्तित्व धर्म भी रहता है। आचार्य तुलसी कहते हैं[१६] - अस्तित्व और नास्तित्व भी सापेक्ष है, वे-एक दूसरे के विरोधी नहीं है। इसी बात को आचार्य विद्यानंद कहते हैं[१७] - इस विशाल विश्व के अंदर अनन्तानंत पदार्थ हैं, भिन्न भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ हैं। उनको हम अनेकान्त के माध्यम से ही समझ सकते हैं। अनेकान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जो सारी समस्याओं का समाधान करने में सक्षम है। आचार्य कहते हैं कि जब हम कोई भी बात कहते हैं तो उसके समक्ष एक प्रतिपक्ष खड़ा हो जाता है। जैसे दिन में कहो तो रात भी है, पुरुष कहो तो स्त्री भी है, अमृत है तो जहर है, सत्य है तो असत्य है, धर्म है तो अधर्म है, हिंसा है तो अहिंसा है, पुण्य है तो पाप है। इस प्रकार दो परस्पर विरोधी तत्त्व अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। आचार्य विद्यासागर उदाहरण से समझाते हैं कि[१८] -

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई,
देता वही सुत किसी नय से दिखाई।
पै भ्रात तात सुत ओ सबका न होता,
है वस्तु धर्म इस भांति अशान्ति खोता।।

अर्थात् जिस प्रकार एक ही पुरुष किसी अपेक्षा पुत्र, किसी अपेक्षा पिता, किसी अपेक्षा पति, किसी अपेक्षा मामा, किसी अपेक्षा भाई है, उसी प्रकार वस्तुतत्त्व को समझना चाहिए। आगे कहते हैं -

ज्यों वस्तु का पकड़ में एक धर्म आता,
तो अन्य धर्म उसका स्वयमेव भाता।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म अतः लगाओ,
स्यात् सप्तभंग सबमें झगड़ा मिटाओ।।१९

अर्थात् विविध अपेक्षा वस्तु तत्त्व व्यवस्थापित किया गया है, किसी एक अपेक्षा को धारण न करके संपूर्ण वस्तुतत्त्व को ग्रहण करना चाहिए एवं स्यात्पद को धारण करके समस्त विकल्प जालों को त्यागना चाहिए।

वैचारिक समन्वयवाद के रूप में -

वर्तमान परिदृश्य में देखा जाये तो परस्पर कलह, विद्रोह, ईर्ष्या, वैमनस्य, छोटे-बड़े की भावना, आतंकवाद आदि का ताण्डव देखने को मिलता है। इन समस्त बातों का समाधान अनेकान्त स्याद्वाद को नहीं समझने से है। आचार्य ज्ञानसागर कहते हैं -

संविरोधिषु जनः परस्परं व्यावहारिक वचस्सु संचरन्।
तत्सनुद्धरतु यद्यथोचितं को नु नाश्रपति वा स्वतो हितम्।।

अर्थात् व्यावहारिक नीति नियमों में कितने ही वचन ऐसे होते हैं, जो प्रायः एक-दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं। मनुष्य को चाहिए कि उनमें से जिस वचन को लेकर जीवन निर्वाह हो, उस समय उसी को स्वीकार करे अर्थात् जीवन में उपयोगी वचन को ही स्वीकार करें। परस्पर में समन्वय को स्थापित करते हुए कहते हैं -

तुकरुल्कताभ्येति कुरानमारादीशपिता वाबिलमेकधारा।
तयोस्तु वेदे पमुपैति विप्रः स्याद्वाददृष्टानत इयानसुदीप्रः।।

अर्थात् मुसलमान और ईसाई अपने-अपने धर्मग्रन्थ को ही प्रमाण मानते हैं। इस अपेक्षा एक ग्रन्थ एक के लिए प्रमाण है तो दूसरे के लिए अप्रमाण है किन्तु ब्राह्मण दोनों को ही अप्रमाण मानते हैं और वेद को प्रमाण मानते हैं। इस दृष्टांत में मुसलमान और ईसाई परस्पर विरोधी होते हुए भी वेद को प्रमाण नहीं मानने में दोनों अविरोधी हैं अर्थात् एक है। इस प्रकार एक की अपेक्षा जो ग्रंथ प्रमाण है, वही दूसरे की अपेक्षा अप्रमाण है। तीसरे की अपेक्षा दोनों ही अप्रमाण हैं। इस स्थिति को एकमात्र स्याद्वाद सिद्धान्त यथार्थतः कहने में समर्थ है, एकान्तवादी सिद्धांत नहीं।[२१] आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं[२२] - जगत की जितनी समस्याएं हैं, उनको यदि अनेकान्तदृष्टि से विचार करें तो समाधान हो सकता है। वे कहते हैं- समस्या चाहे व्यवहार की हो या अध्यात्म की, समाज की, राजनीति की सारी समस्याएं अनेकान्त के आधार पर उलक्षती नहीं सुलझती हैं। आगे कहते हैं कि वैचारिक समन्वय के लिए तटस्थता आवश्यक है। एक विचारक एक दृष्टिकोण को पकड़ कर उसका पक्ष करता है, समर्थन करता है, उसके प्रति राग करता है। दूसरा विचारक दूसरे का पक्ष करता है, समर्थन करता है। पहला विचार दूसरे का खण्डन करता है और दूसरा विचार पहले का खण्डन करता है। दोनों एक-दूसरे को प्रतिपक्षी मानते हैं। द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। अपने विचार के प्रति राग और दूसरे के विचार के प्रति द्वेष। राग-द्वेष की ये दोनों आँखें अपना काम करती हैं। जब तक तटस्थता की दृष्टि नहीं जागती तब तक तीसरा नेत्र नहीं खुलता। जैसे ही तीसरा नेत्र खुलता है, अपना विचार छूट जाता है। पराया विचार भी छूट जाता है। शेष सच्चाई रह जाती है। व्यक्ति पूर्ण तटस्थता को प्राप्त हो जाता है।[२३]

आचार्य विद्यानंद कहते हैं कि[२४] हम अनेकान्तवाद अहिंसा के पथ पर चलने वाले हैं, हमारी भाषा स्याद्वाद है। पहले तोलो, फिर बोलो। बोलने के बाद तोलोगे तो झगड़ा हो जायेगा। हमारा सिद्धान्त है अहिंसा और अनेकान्तवाद। अनेकान्तवाद का मतलब है कि समन्वय करो। उदाहरण देकर समझाते हैं कि एक बाग में नाना तरह के रंग-बिरंगे फूल होते हैं। जब माली उन फूलों को इकट्ठा करके गुलदस्ता बनाता है तो गुलदस्ता बहुत सुन्दर लगता है। इस दुनिया के अन्दर कितनी जातियों के कितने धर्मों तथा संप्रदायों के लोग मिल-जुलकर इकट्ठा रहते हैं तो सब सुन्दर लगते हैं। यदि बिखर जायेंगे तो कोई सुन्दरता नहीं रह जायेगी। दूसरा उदाहरण देते हैं कि हमारे शरीर में बाल काले हैं, हड्डी सफेद है, पित्त पीला, नशें

नीली, खून लाल, इस तरह से पांच रंग हैं। इसलिए हम सुन्दर लगते है। यदिसब एक ही रंग के हों, जैसे खून काला, चमड़ी भी काली तो कैसा विचित्र शरीर दिखाई देगा, इसलिए विविधतापूर्ण दुनिया के अंदर जीने के लिए अनेकान्त की जरूरत है।

सह-अस्तित्व के लिए -

सहिष्णुता और सहनशीलता की कोई सीमा नहीं। इस सहिष्णुता एवं सहनशीलता को समझाने के लिए आचार्यो ने अनेकान्त और स्याद्वाद को बताया। समझाने के लिए वाणाी की एक शैली है, इसको सप्तभंग भी कहते हैं। इस प्रकार सहिष्णुता का प्रतीक है अनेकान्त और स्याद्वाद। इसे ही सापेक्षवाद भी कहते हैं।[२५] इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं- अनेकान्त का मतलब जितने पदार्थ, जितने वस्तु के धर्म तुम समझना चाहो, करना चाहो, एक को मुख्य बना दो, दूसरे को गौण बना दो, फिर जिसको मुख्य बनाया, उसे गौण बना दो और जिसे गौण बनाया, उसे मुख्य बना दो तो तुम सत्य को पकड़ पाओगे। अगर सबको मुख्य बना दिया या सबको गौण बना दिया तो सत्य को नहीं पकड़ पाओगे, आग्रह हाथ आयेगा। नवनीत नहीं मिलेगा, सच्चाई नहीं मिलेगी। इस सिद्धान्त के आधार पर सह-अस्तित्व का विकास हुआ। सह-अस्तित्व आज के युग का चिंतन है। यह लोकतंत्र आज का युग चिंतन है। संयुक्त राष्ट्रसंघ इसलिए बना कि सह-अस्तित्व का सिद्धान्त मान्य हो गया। यानी एक मंच पर साम्यवादी और पूंजीवादी राष्ट्र बैठते हैं और विश्व की समस्याओं का समाधान करते हैं। यह स्याद्वाद के सिद्धान्त का सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का क्रियान्वयन है।

इस प्रकार जैनाचार्यो का चिंतन रहा है कि समस्त जीव निर्विकल्प होकर तत्व आराधना धर्म आराधना कर सके, समस्त धर्मो का आदर कर सके, जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत कर सकें, कलह वैमनस्यता, लड़ाई-झगड़ा का अभाव दिग्दर्शित हो। इसे हेतु २०वीं शताब्दी के जैनाचार्यो ने समस्याओं के निराकरण समाधान हेतु अनेकान्त को नवीन रूप में प्रस्तुत किया। अनेकान्त स्याद्वाद के माध्यम से सहिष्णुता सहनशीलता, वैचारिक समन्वय शांति, अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त होता है जो कि वर्तमान में मनुष्य एवं अन्य पदार्थो के अस्तित्त्व के लिए परम आवश्यक है।

संदर्भ :

१. आचार्य ज्ञानसागर - वीरोदयमहाकाव्य, १९/८
२. आचार्य तुलसी-आत्मा के आस-पास, पृ. ३
३. आचार्य महाप्रज्ञ- जैनदर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. २६४
४. आचार्य देवेन्द्र मुनि- जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. २३१
५. आचार्य विद्यानंद - श्रुतपंचमी एक महापर्व, जैन बोधक पत्रिका, जून, २००४
६. आचार्य महाप्रज्ञ- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, पृ. ६७
७. आचार्य तुलसी- राजपथ की खोज, पृ. ६७
८. आचार्य देवेन्द्र मुनि-जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. २३१

९. आचार्य विद्यानंद-धर्म दर्शन और अध्यात्म, जैन बोधक पत्रिका, सितम्बर,२००८
१०. एवमन्तधर्मता विलसति सर्वतो पि तत्त्वस्य। मूरास्तां खलतायास्तरमादभिमितिरेकान्तस्य। प्रसिद्धानतु विवुधस्य सिद्धिरनेकान्तस्य। सुदर्शनोदय महाकाव्य- आचार्य ज्ञानसागर, ६/४, पृ.९१
११. आचार्य देवेन्द्र मुनि- जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. २३३
१२. आचार्य तुलसी- राजपथ की खोज, पृ. ६७
१३. आचार्य देवेन्द्र मुनि-जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. २४१
१४. आचार्य देवेन्द्र मुनि-जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. २४२
१५. वीरोदय महाकाव्य- ज्ञानसागर आचार्य, १९/१३, पृ. १८७
१६. आचार्य तुलसी- राजपथ की खोज, पृ. ७०
१७. आचार्य विद्यानंद-धर्म दर्शन और अध्यात्म, जैन बोधक पत्रिका, सितम्बर,२००८
१८. आचार्य विद्यासागर- समग्र, जैन गीता, श्लोक-६७०
१९. आचार्य विद्यासागर- समग्र, जैन गीता, श्लोक-७२१
२०. आचार्य ज्ञानसागर- जयोदय महाकाव्य, २/८१
२१. आचार्य ज्ञानसागर- वीरोदय महाकाव्य, १९/२०
२२. आचार्य महाप्रज्ञ- अनेकान्त है तीसरा नेत्र, पृ. ६८
२३. आचार्य महाप्रज्ञ- अनेकान्त है तीसरा नेत्र, पृ. ७१
२४. आचार्य विद्यानंद- जैन धर्म में राष्ट्रधर्म बनने की क्षमता है, जैन बोधक, अक्टूबर-२००७
२५. आचार्य विद्यानंद- संतमहिमा, जैन बोधक, सितम्बर, २००४
२६. आचार्य महाप्रज्ञ-जैन दर्शन की मूलभूत आवश्यकताएँ, पृ. १५९

- वरिष्ठ शोध अध्येता, जैन विश्व भारतीय विश्वविद्यालय,
लाडनूँ (राजस्थान)

१८ अगस्त- समाधि दिवस पर विशेष लेख

आचार्य श्री शांतिसागर जी एवं श्रमण परंपरा : कल आज और कल

- प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

शांतिसागर योगीन्द्रं, नरेन्द्रामर वन्दितम्।
आचार्यवर्य सङ्घेशं, जैनधर्म प्रभावकम्।।

२०वीं शताब्दी में निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमण परंपरा को पुनजीर्वित करने वाले आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ऐसे लोकोत्तर व्यक्तित्व हुए, जिन्होंने अपनी नर देह से ऐसी अकल्पनीय तप साधना की, जिससे लोगों को यह विश्वास करने के लिए विवश होना पड़ा कि इस ससीम देह से संकल्प की असीम लोकोत्तर साधना भी की जा सकती है। अपने सम्यक्चारित्र के रथ पर आरूढ़ होकर, विवेक की वल्गा हाथों में थामकर, श्रुत-अश्वों को जीवन की अन्तर्यात्रा पर गतिशील बनाकर साधना के राजपथ पर चल पड़े थे।

जीवन्त समयसार, रत्नत्रय त्रिवेणी के प्रयागराज, आत्मविद्या के धनी युगप्रवर्तक, जैन संस्कृति एवं श्रमण धर्म के संरक्षक आप प्रथम दिगम्बराचार्य थे। भूमिपति और पाटील नाम से विख्यात आपकी पूर्व नौ पीढ़ियों में वीतराग शासन के प्रभावक नररत्न हुए जिन्होंने जैन समाज को गौरवान्वित किया। राजवंश सदृश क्षत्रिय वंश की चतुर्थ जाति में श्री शांतिसागर का जन्म हुआ।

बेलगाँव (दक्षिण भारत) जिलान्तर्गत भोजग्राम के सद्गृहस्थ भीमगौड़ा एवं माँ सत्यवती की कुक्षि से सन् १८७२ आषाढ़ कृष्णा ६ तिथि को अपने मामा के घर येलगुल ग्राम में एक पुण्यशाली बालका का जन्म हुआ, नाम संस्करण- सातगौडा किया गया। यही बालक स्वनामधन्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर के नाम से विश्रुत हुआ। आप जब गर्भ में थे, माँ सत्यवती को १०८ सहस्रदलवाले कमलों से जिनेन्द्रदेव की पूजन करने का शुभदोहला हुआ था। कोल्हापुर के समीप राज्य सुरक्षित सरोवर से बड़े प्रयत्न करके ऐसा कमल मंगाकर भक्तिभाव से पूजन कर, उन्होंने संतुष्टि पायी थी।

बाल्यावस्था -

मुनि श्री वर्धमानसागर जी (आचार्य श्री के गृहस्थावस्था के बड़े भाई) ने कहा था - ''मैंने बालक सातगौड़ा को बचपन में रोते नहीं देखा। खानपान में अन्य बालकों की भांति स्वच्छंदवृत्ति नहीं थी। शरीर बल में कोल्हापुर जिले में उनकी जोड़ कोई दूसरा नहीं था। चावल का पूरा बोरा कन्धे पर रख लेते थे। हृष्टपुष्ट बैलों द्वारा खींची जाने वाली पानी की मोट (रहट)

आप अकेले ही खींच लेते थे। एक असक्त वृद्धा शिखरजी पर्वत पर वंदनार्थ गयी। श्रद्धा से भरपूर, वंदना करने में असमर्थ अश्रुपात कर रही थी। आपकी करुणा और शक्ति, संवेदी हो उसे अपनी पीठ पर बिठाकर पूरी पर्वत की वंदना करवा दी। यह आपकी शारीरिक शक्ति का उपग्रह था।

यद्यपि आपका नौ वर्ष की उम्र में सात वर्षीय कन्या के साथ बाल विवाह कर दिया गया था लेकिन छह महीने बाद उस कन्या का देहावसान हो गया। आपके माता पिता ने पुनः विवाह करने का बहुत आग्रह किया, परन्तु आपने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि मुझ गृहजाल में नहीं फँसना है। आपने मुनि सिद्धिसागर जी के समक्ष आजन्म, ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया।

विराग परिणति -

संत होना, केवल एक जन्म की साधना नहीं होती। न जाने कितने जन्मों की साधना का सुफल होता है। सातगौड़ा के पूर्व जन्म के वैराग्यमय संस्कार १८ वर्ष की अल्पायु में ही दीक्षा लेने की प्रेरणा देने लगे। किन्तु माता-पिता की समाधि के लिए वे गृह में ही सन्यासभाव से उदासीन बने रहे। आपके पिता श्री भीमगौड़ा जी ने यम-सल्लेखना लेकर शरीर का त्याग किया था। मां सत्यवती, पति की समाधि के पश्चात् क्षु. पार्श्वमती के पास, परिवार का मोह छोड़कर रहने लगी और १९१२ में माघ माह में आपने समाधिमरण किया।

गृहस्थावस्था में ३२ वर्ष की उम्र में तीर्थराज सम्मेदशिखर जी यात्रा (तीसरी वंदना) के बाद पार्श्वनाथ की सुवर्णभद्र नामक कूट पर जीवन पर्यन्त घी और तेल का त्याग कर दिया। घर आने पर दिन में एक बार भोजन करने की प्रतिज्ञा ले ली। ३७ वर्ष की उम्र में पिताजी की समाधि के पश्चात् एक उपवास और एक दिन भोजन का नियम घर में रहते हुए लिया। अतः आप तो सन्त- स्वभाव लेकर ही पैदा हुए।

एक दिन कर्नाटक के उत्तर ग्राम में देवेन्द्रकीर्ति (देवप्पा स्वामी) मुनिराज आये, तो आपने निर्ग्रन्थ दीक्षा के लिए प्रार्थना की। उन्होंने इस मार्ग को कठिन बताया, परन्तु सातगौड़ा के हृदय की दृढ़ता जानकर सहर्ष क्षुल्लक व्रत दिये। उत्कृष्ट वैराग्य से अलंकृत अन्तःकरण वाले क्षु० शांतिसागर गृहवास- पिंजरे से उन्मुक्त होकर आध्यात्म सिंह रूप से विहार करने लगे।

गृहस्थावस्था से ही आपके दयार्द्र परिणाम थे। खेती कृषिकर्म आपका मुख्य कार्य था। आप कभी भी अपने खेतों से पक्षियों को नहीं भगाते थे। और खेतों के पास उन्हें पीने के लिए पानी रख देते थे। इसके बावजूद आपके खेतो में, समीपवर्ती खेतों से ज्यादा धान्यादि होता था।

मुनिभक्त -

आपकी मुनिराजों के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा थी। भोजग्राम में आने वाले प्रत्येक मुनि, आर्यिका एवं व्रतियों की सेवा- वैयावृत्ति, तन-मन और धन से करते थे। उस समय आदिसागर नाम के चार मुनिराज थे और आपका सभी से घनिष्ट संबन्ध था।

१. श्री आदिसागर मुनिराज बोरगांव, २. श्री आदिसागर मुनिराज अंकलीश्वर, ३. श्री आदिसागर भौंसेकर और ४. श्री आदिसागर भोज जो रत्नप्पा स्वामी के नाम से जाने जाते थे।

आचार्य श्री बोरगांव वाले आदिसागर जी के तपश्चरण से बहुत प्रभावित रहते थे जो सात दिन उपवास रखकर आठवें दिन आहार लिया करते थे। सुरीला गला होने के कारण 'एकतारा' वाद्ययंत्र पर स्तुति व स्तोत्र गाते थे, जिसे लोग मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे।

ऐलक दीक्षा -

जब आपने देवप्पा स्वामी (मुनि देवेन्द्र कीर्ति) से दीक्षा के लिए प्रार्थना की तो आपने यही कहा था कि क्रमपूर्वक संयम में आरोहण करो। गुरू आज्ञा शिरोधार्य कर क्षुल्लक-व्रत लेने के पश्चात् आपने गिरनार पर्वत पर वस्त्रखण्ड का त्यागकर ऐलक पद अंगीकार किया।

मुनि दीक्षा -

बाद में यरनाल के पंचकल्याणक महोत्सव में आपका मिलन पुनः मुनि देवेन्द्रकीर्ति से हुआ और आपने निर्ग्रन्थ दि. मुनि दीक्षा के लिए प्रार्थना की। मुनि देवेन्द्रकीर्ति ने कहा - यदि यह पद लेकर निर्दोष रूपेण पालन न किया तो जीव दुर्गति को प्राप्त होता है। अस्तु सोच विचार कर दृढ़ निश्चय करें, शीघ्रता में कार्य करके पीछे पछताना ठीक नहीं। ऐलक शांतिसागर ने कहा- स्वामिन ! आपका उपेदश अक्षरशः पालन करूँगा। व्रतों में दूषण, स्वप्न में भी नहीं लगने दूँगा। अतः मुनि देवेन्द्र कीर्ति ने सन् १९२० वि. सं. १९७६ के दीक्षा कल्याणक के दिन फाल्गुन शु. १४ को केशलोंच पूर्वक ऐलक जी को जैनेश्वरी दीक्षा के संस्कारों से संस्कारित कर मुनि शांतिसागर नाम की घोषणा की।

श्री देवेन्द्रकीर्ति के बारे में स्व. आर्यिका अजितमती ने बताया था कि आचार्य श्री के दीक्षा गुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति जी, अंकलीकर मुनि आदिसागर जी महाराज की भांति आहार के लिए जाते समय वस्त्रखण्ड शरीर पर लेते थे। चौके में जाने पर उसे उतार देते थे। आते वक्त फिर ले लेते थे और निवास स्थान पर आने पर पृथक कर देते थे। अतः श्री आचार्य शांतिसागर जी की मुनि दीक्षा के बाद देवेन्द्रकीर्ति जी ने, श्री शांतिसागर जी के पास नग्नत्व में लगने वाला दोष छोड़ने के लिए छेदोपस्थापना की और प्रायश्चित लेकर पुनः दीक्षा ली। इस प्रकार मुनि शांतिसागर जी म० ज्ञान-वैराग्य के संस्कार पूर्व भव से लेकर आये थे, अस्तु उन्होंने नैसर्गिक वैराग्य होने के कारण विषम परिस्थितियों में भी आगम के प्रतिकूल चर्या नहीं की।

श्रमण परम्परा - कल (गत) -

श्रमण परंपरा की जो धारा कुछ समय से छिन्न-भिन्न जैसे हो रही थी, उसे आपने पुनरुज्जीवित कर संघ का निर्माण प्रथम बार किया। अतः समडोली नगर में आपने मुनिराज वीर सागर जी एवं श्री नेमिसागर जी को दिगम्बर जैनेश्वरी दीक्षा दी। इस शुभावसर पर चतु:संघ ने १९२४ आषाढ शुक्ल ११ बुधवार को आचार्य परमेष्ठी के पद पर प्रतिष्ठित किया।

आपके युग में मिथ्यात्व की आराधना रूढ़िगत होती थी और लोग अपने घरों में कुदेव विराजमान कर उनकी पूजा करते थे। आपने प्रतिज्ञा ली कि जिसके यहां ये दोनों बातें होती होंगी, उसके यहां आहार नहीं लेंगे। इस प्रतिज्ञा से आचार्यश्री को यद्यपि बहुत कष्ट उठाने पड़े परन्तु उन्होंने मिथ्यात्व का रोग शीघ्र दूर कर दिया।

जब क्षुल्लक अवस्था में महाराज कुदेवों को मूर्तियों को गाड़ी में भरभर कर नदी-तालाब में गिरवा रहे थे। वहां के राजा ने कहा - ''आप ऐसा करके क्या इन देवताओं की आसादना नहीं कर रहे हैं ? क्षुल्लक महाराज ने कहा - राजन ! भाद्रपद में गणपति की स्थापना पर भक्ति पूजा करते हो। उसके बाद उनको पानी में क्यों सिरा देते हो ? राजा ने कहा - ''पर्व पर्यन्त ही उनकी पूजा का काल था पश्चात् हम राम, हनुमान आदि मूर्तियों की पूजा करते हैं। क्षुल्लक जी ने दृढ़ता व मधुर वचनों से कहा - 'हमने आजतक इन देवताओं की आराधना की, आज उनका पर्वकाल पूरा हो गया। अतः विनयपूर्वक पानी में सिरा देना ही उचित है। इनके स्थान पर अर्हन्त भगवान् की मूर्ति की आराधना करेंगे। एक प्रसंग और है - एक व्यक्ति ने आचार्य श्री से प्रश्न पूछा - क्या सम्यग्दृष्टि रोग निवारण के लिए मिथ्या मंत्रों का प्रयोग कर सकता है? बीच में एक विद्वान बोल उठे - सम्यक्दृष्टि श्रावक जैसे औषधि ले सकता है, उसी प्रकार औषधि रूप मिथ्या मंत्रों से भी लाभ ले सकता है। आचार्य श्री ने कहा - ''औषधि लेने में बाधा नहीं क्योंकि औषधि न सम्यक्त्व है न मिथ्यात्व, किन्तु मिथ्या देवों की आराधना युक्त मंत्रों से स्वार्थसिद्धि करने पर उसकी श्रद्धा में मलिनता आयेगी।''

उक्त प्रसंगों से १९वीं एवं २०वीं शताब्दी के पूर्वाध में प्रचलित मान्यताओं एवं श्रमण स्वरूप का आभास मिलता है।

चारित्र चक्रवर्ती पद -

सन् १९३७ में आचार्य श्री ने गजपंथा में चातुर्मास किया। यहाँ श्री पंचकल्याणक महोत्सव के दौरान आपकी कठोर तप साधना एवं चारित्र की प्राञ्जल श्रेष्ठता को अनुभव कर चतुर्विध संघ एवं जैन समाज ने आपको चारित्र चक्रवर्ती पद से अलंकृत किया और स्वयं को धन्य माना। उस समय अनेक शिष्यों ने दिगम्बरी दीक्षा ली। जिसमें आ. कुंथसागर, आ. कल्प चन्द्रसागर, मुनि समन्तभद्र, मुनि श्री वर्धमान सागर, आ. नमिसागर आदि के नाम प्रमुख है। चारित्र चक्रवर्ती आ. शांतिसागर जी ने संघ की परंपरा को शास्त्रानुकूल एवं युगानुरूप अभिनव दिशा देने का महनीय कार्य किया।

कठोर तपस्वी एवं संयम के हिमालय -

इस नश्वर देह से ऐसी अविनश्वर वीतरागी साधना का कलशारोहण भी संभव है जो अब कल्पनातीत लगती है। चिन्मयता के प्रांगण में, इन्द्रियों का इतना विवेकपूर्ण नियंत्रण और स्वात्मानुशासन का शिखर कीर्तिमान हासिल किया कि हिमालय की उत्तुंगता भी शरमा जाये।

चारित्र की विराटता को अपनी देहपुंज में समालीन कर ३५ वर्षों की मुनिदीक्षा अवधि में २७ वर्ष ३ माह और २३ दिन (९९३८ दिन) के उपवास धारण कर अत्यन्त कठिन सिंहनिष्क्रीडित व्रत को धारण किया जो इसके पूर्व केवल पुराणों में लिखा और पढ़ा जाता रहा। इस व्रत में ९० दिन के उपवास रखकर केवल १८ बार आहार ग्रहण किया जाता है। आपने तीन बार इसे धारण कर २७० उपवास करके इस मृण्मय काया में अमरता की संजीवनी बो गये।

इन पंक्तियों के लेखक ने चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री के ४८ संस्मरणों का एक संकलन नये युग बोध/संदर्भों के साथ ''लोकोत्तर साधक'' कृति के नाम से लिखी। यहाँ कुछ

संस्मरण रेखांकित करना, जो उनके पारदर्शी आध्यात्मिकऊर्जा से परिवेष्ठित व्यक्तित्व की एक झलक है, उपादेय एवं सन्दर्भित है।

संस्मरणों के सालोक में चारित्र चक्रवर्ती –

१. निद्रा विजय तप का पालन करते हुए आचार्य श्री एक जंगल में स्थित मंदिर के भीतर एकान्त स्थान में ध्यानस्थ थे। दीपक का तेल बिखर जाने से आसपास असंख्य चींटियों का समुदाय एकत्रित हो गया और वे धीरे धीरे आचार्य श्री के शरीर पर रेंगकर अधोभाग (गुप्तांग) को कटाना शुरू कर दिया। रातभर चींटियों के काटने की असहय वेदना में भी वे निष्कम्प ध्यानारूढ़ रहे। खून बहने लगा था। परन्तु वह निर्ग्रन्थ आचार्य ऐसे ध्यान में निरत रहे जैसे सांख्य दर्शन का पुष्कर पलाशवत् निर्लिप्त पुरुष, प्रकृति की लीला देख रहा हो। प्रातःकाल के उजाले में, जन समूह वहां एकत्रित होकर जब यह दृश्य देखता है, तो जन जन की संवेदनाएं रो उठतीं हैं।

चींटियों द्वारा उपसर्ग – वस्तुतः प्रतिकूलता में समता, सहिष्णुता का सतत् निर्झर था। एक कसौटी थी यह परखने की, कि इन्द्रियाँ व मन, आत्म स्वभाव की कितनी आज्ञानुवर्ती हैं।

२. क्षमा व धैर्य के अक्षत पुंज –

एक बार 'विष और अमृत' का मिलन देखा गया। वस्तुतः प्रतिशोध– विष है और क्षमा–अमृत है। ताम्र लाल रंग का सात आठ हाथ लम्बा विषधर फन उठाये आचार्य श्री के सामने खड़ा हो गया। उसकी लपलपाती जीभ और विष के अंगारे उगल रहीं आँखें, अनुकम्पामयी अहिंसक आँखों से टकरा रहीं थी। आचार्य श्री शान्त, करूणा की मूर्ति उस सर्पराज को निर्निमेष दृष्टि से निहार रहे थे। शान्ति के सागर, उस यमराज को एक आगन्तुक दर्शनार्थी की भांति धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दे रहे थे। अद्‌भुत दृश्य था। एक ने पूछा – उन क्षणों में आप क्या सोच रहे थे आचार्यश्री। वे कहने लगे – ''यदि मैंने इस जीव का पूर्व में कभी कोई बिगाड़ किया होगा, तो वह भी हमें बाधा पहुंचायेगा, अन्यथा चुपचाप चला जायेगा।''

३. करूणा के मानसरोवर के हँस –

गृहस्थावस्था में खेत पर गये। देखा नौकर ज्वार का गट्‌ठा बांधकर चोरी से ले जा रहा है। ये पीठ करके चुपचाप बैठ गये। विचारने लगे – 'बुभुक्षतं किं न करोति पापं''। गरीब पेट के लिए ही तो अनाज ले जा रहा है। नौकर इस घटना से इतना प्रभावित हुआ कि क्षमा माँगने भागता हुआ घर आया।

४. क्षमा जीवन्त हो उठी –

कोगनोली गांव के बाहर – निर्जन गुफा में रात्रि में आचार्य श्री आत्मलीन हैं। एक पागल आकर महाराज श्री से रोटी मांगने लगा। भूख से पीड़ित चिल्लाने लगा। महाराज श्री मौन। पागल उत्तेजित हो उठा। हाथ में डण्डा, जिसके एक सिरे पर लोहे की नोंक, उसी से मारने लगा। घाव हो गए, खून बहने लगा। ऐसी विकट परिस्थिति में कौन रोकने वाला था ? ओह! क्षमा की अपूर्व असीम शक्ति! पागल की बुद्धि में न जाने क्या आया कि गुफा से कुछ समय बाद बाहर हो गया। प्रातः होते ही बिजली की भाँति यह घटना गांव में फैल गयी। लेकिन आचार्य श्री शान्त भाव से मौन रहे। उपचार व वैयावृत्ति से स्वास्थ्य लाभ हुआ।

५. सिंह का समर्पण - नृसिंह को -

घटना है सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि की। दि० मुनि सिंहवृत्ति वाला निर्भयी और अकेला अकम्प रहने वाला होता है। दैन्यता उसे स्वीकार नहीं। सिंह की हिंसक पर्याय उसकी नियत है। पेट भरा हो तो वह फिर हिंसक नहीं होता क्योंकि वह क्रूर नहीं होता । आचार्य श्री पर्वतमाला के एक मंदिर में ध्यानस्थ हैं। संध्या से ही एक सिंह पास में आ गया। रात भर बैठा रहा। प्रातः ८ बजे जब आचार्य श्री नीचे उतरकर नहीं आये तो शंकाओं ने लोगों का धैर्य तोड़ दिया। वे पहाड़ पर गये तो आचार्य श्री को मंदिर से नीचे उतरते देखा। बिलम्ब का कारण आखिर मौन तोड़कर उन्हें बताना पड़ा। आज वनपति - यतिपति के दर्शनार्थ आया था। नृसिंह का, सामीप्य-'सौजन्य सिंह के लिए सालोक पूर्ण बन गया था। अहिंसक के चरणों में हिंसक का समर्पण था।

६. सम्यक्त्व की सम्पदा - अनासक्ति -

हम शरीर के तल पर जीते हैं। चाहे आत्मा रुग्ण बनी रहे इसकी कोई चिन्ता नहीं। आचार्य श्री यम सल्लेखना के २ माह पूर्व कुंथलगिरि में विराजमान थे। पीठ पर 'दाद' फैल रही थी। एक श्रावक ने दाद की दवाई लगाने को कहा। चारित्र चक्रवर्ती की दृष्टि तो यम-सल्लेखना लेने की थी। बोले - भैया ! बहुत दवाई लगाई। मेरा (शरीर का) रोग पिण्ड नहीं छोड़ रहा है। बस एक दवाई करना भर शेष है। यह सारे रोग नष्ट हो जायेंगे। महाराज ! दवाई का नाम बतावें लाने का प्रयास करूँगा। मंद मुस्कान से बोले - "अभी तूँ वह दवा नहीं जानता।

७. समत्व की साधना -

राजाखेड़ा (२८ फरवरी १९३०) की घटना षडयंत्र की अदृश्य भाव तरंगे - आचार्य श्री को उद्धेलित कर रही थीं। उन्होंने अन्यत्र विहारकरने की सोची लेकिन बाहर से अनेक विद्वज्जन पधारने से वे रुक गये। यह उनका विद्वानों के प्रति वात्सल्य भाव था। पाँचवें दिन कल्पनातीत घटना घटी। चार पांच सौ उपद्रवकारी संगठित होकर आक्रमण करने की खोटी भावना से मंदिर की ओर बढ़ रहे थे। लेकिन उस दिन आचार्य श्री ने सामयिक बाहर धूप में न करके मंदिर जी के भीतर करने का आदेश दिया था। चबूतरे पर आक्रमणकारियों को कोई साधुजन बैठे नहीं दिखे। छिद्दी ब्राह्मण मुखिया था। विद्वेषीजन आक्रमण करने की नियत से मंदिर के भीतर बढ़ने लगे। लेकिन श्रावकों ने प्राणों की परवाह किये बिना उनका सामना किया। उपद्रव की खबर बिजली की भांति नगर में फैल गयी। पुलिस अधिकारी आचार्य श्री के पास आये। उन्होंने छिद्दी को हिरासत में लिया। लेकिन करुणावन्त आचार्य श्री ने प्रतिज्ञा कर ली, जब तक हिरासत से नही छोड़ेंगे, आहार जल का त्याग। ऐसा महान संत, अधिकारियों ने प्रथम बार देखा कि प्राणों के घातक के लिए इतनी अपूर्व क्षमा और समता भाव।

अन्तरंग एवं बाह्य तपों के आराधक मनस्वी महाव्रती -

आत्म-बल आपका अपराजेय था। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान रूप छह आभ्यन्तर तपों के साधक बाह्य तपों का निरतिचार पालन करना आपकी आहार चर्या का अभिन्न अंग था।

(१) **अनशन-** ३५ वर्ष की निर्ग्रन्थ मुनि दशा में ९९३८ उपवासों की आराधना।

(२) **अवमौदर्य तप -** १९४८ में अगस्त के द्विसप्ताह से ''जिन मंदिरों में हरिजन प्रवेश'' मुम्बई हाईकोर्ट के निर्णय के विरूद्ध अन्न ग्रहण नहीं किया। अगस्त १९५१ रक्षाबन्धन के दिन जब उक्त निर्णय खारिज हुआ तभी अन्न लिया।

(३) **व्रतपरिसंख्यान तप -** कठिन कठिन प्रतिज्ञाएं लेकर आहार चर्या को निकलना। १. एकबार तत्काल प्रसूत बछड़े के साथ गाय दिखेगी तभी आहार लेगें। पुण्योदय से यह योग मिला। २. १९३० ग्वालियर शीलकाल में गीले वस्त्र पहनकर जो श्रावक पड़गाहन करेगा तो आहार लेंगे।

(४) **रस परित्याग -** ३२ वर्ष कीअवस्था में तेल घी का त्याग और ललितपुर चातुर्मास में फलादि रसों के साथ सभी रसों का त्याग।

(५) **विविक्त शयनासन -** १९२३ में कौन्नूर चातुर्मास। अपरिचित गुफा में झाड़ी से सर्प गुफा में प्रवेश और महाराज के शरीर पर चढ़ गया। ध्यान में अडिग रहे।

(६) **कायक्लेश तप -** ८-८ घण्टे एक ही आसन से ध्यान में बैठकर अकाम निर्जरा कर - 'कार्माण-काय' को भी क्षीण करना।

श्रमण परम्परा - आज और परिवर्तन का शंखनाद -

वर्तमान में आचार्य संघ और उनकी परम्परायें कई धाराओं में प्रवहमान है। मूलधारा चा. चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी की विद्यमान है। उनके वरिष्ठ शिष्य श्री वीर सागर जी प्रथम पट्टाचार्य हुए उसके बाद क्रमशः आ. शिवसागर जी, आ. अजितसागर जी, आ. धर्मसागर जी ओर अभी आ. श्री वर्धमान सागर जी पट्टाचार्य हैं। आ. विमलसागर जी, आ. (गणाचार्य) विरागसागर जी, आ. विशुद्धसागर जी आदि हैं। आ. शिवसागर के पश्चात् पंथ भेद के कारण आ. अभिनंदन सागर एवं आचार्य ज्ञानसागर जी की परंपरा में उनके सुयोग्य महान विश्रुत संत शिरोमणि आ. विद्यासागर जी हैं। आ. विद्यासागर जी का सबसे बड़ा संघ और उनके प्रभावशाली शिष्य मुनि संपूर्ण भारत में विचरण कर रहे हैं। आ. विमलसागर ने स्वतंत्र आचार्य पद देकर युवा मुनियों के आध्यात्मिक एवं आत्मिक विकास को अभिनव दिशा दी। आचार्य पुष्पदंत जी की सोच ने अपने युवा मुनि शिष्यों को लोकसंत और राष्ट्रसंत की नई लहर दी।

(१) साधु, समाज की आँख होते हैं। आज साधु- जिसमें आचार्य व उपाध्याय पद भी समाहित हैं, की बड़ी प्रभावना देखी जा रही है। समाज ने भी नयी पीढ़ी के सांस्कृतिक सुख- स्वप्न, उनके जिम्मे कर दिये हैं। आ. कुन्दकुन्द ने अष्ट पाहुड़ में मुनि का जो स्वरूप गढ़ा है जो मौलिकताएं रेखांकित की हैं, क्या २१वीं सदी का दि० साधु उन मौलिकताओं के साथ अपनी मुनि-चर्या संपन्न कर रहा है, विचारणीय बन गया है।

(२) आज एक संघ के आचार्य व मुनिगण एवं दूसरे संघ के आचार्य व मुनिगणों के बीच वात्सल्य व सौहार्द का भाव अपेक्षाकृत कम नजर आ रहा है।

श्रमण परम्परा – कल (अनागत) की –

यदि आने वाले समय में, जैनाचार्यों एवं श्रमण साधुओं की भूमिका, जीवन की अर्थक्ता को तलाशने की एवं मानव-मूल्यों के उत्कर्ष के लिए रही, तो निश्चित ही यह विधायक और शुभ संकेत होगा। संत/मुनि/साधु – आत्मकेन्द्रित होकर स्व-कल्याण की ओर मूल लक्ष्य रखकर, सामाजिक-मूल्यों एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिए अपने दायित्व का निर्वहन कर सके तो यह जैनधर्म के वैश्वीकरण में मील का पत्थर साबित होगा।

मानव सेवा और शिक्षा, दो ऐसे जीवन मूल्य हैं जिनकी महत्ता कल भी थी, आज भी है और कल भी रहेगी। पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी जी आज अत्यन्त समादर और पूजनीयता के पृष्ठों पर अंकित हैं क्यों ? इसलिए कि उन्होंने अपने युग में व्याप्त अशिक्षा और अंधविश्वासों के उन्मूलन के लिए साधु की तरह संयम लेकर भी क्षुल्लकावस्था में रहे। उन्होंने युग की ध ाड़कन को पहचान कर उससे रूबरू हुए।

रोग देह का हो या मानसिक, उससे मुक्त हुए बिना स्वस्थ आत्मा की बात नहीं सोची जा सकती है। जरूरी है कि मनुष्य व्यसनमुक्त और रोग मुक्त हो। व्यसन ही रोग/बीमारी को आमंत्रित करते हैं। निःस्वार्थ सेवा का व्रत और अहिंसा का पालन हमारे आचरण का पर्यायवाची बने। शिक्षा – रोजगारोन्मुखी होकर भी संस्कार और नैतिक शिक्षा से युक्त हो।

श्रमण और जैनाचार्य – पाषाण प्रतिमा को सूरिमंत्र देकर परमात्मा बनाता है। मंदिरों की वेदियां परमात्मा की प्रतिमाओं से भरी हुई हैं और प्रतिवर्ष हजारों प्रतिमाएं निर्मित होकर भगवान बन रही हैं। परन्तु उनके भक्तों के दिल पाषाण बनते जा रहे हैं। भगवत्ता – भक्तों के दिल में उतारने के लिए संत की पहल हो। जैन समाज का एक वर्ग व्यवहार के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ता रहता है। वह निश्चय से परमात्मा बना बैठा है। ऐसे में सेवा का दायरा घटता जा रहा है। कितना दान जैन समाज कर रही है ? परन्तु अच्छी शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए कितने मेडिकल कालेज/ अस्पताल/ या मेडिकल विश्वविद्यालय जैनसमाज के खाते में है यह सोचने के लिए पाठक वृन्दों पर छोड़ रहा हूँ।

जैन साधु इस दिशा में समाज को नयी दिशा एवं नव विहान दे। हाईटेक का जमाना आ रहा है। रोबोट-दैनिक चर्या का अंग बनेगा। बैंक स्वचालित होंगे। विश्व कागज विहीन हो जायेगा। दूरियां समाप्त होंगी। जैन साधु का स्वरूप भी, प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि शास्त्रों के भण्डार कुछ चिप्सों में समाहित हो जायेंगे। भगवान महावीर ने युग की मांग के अनुरूप 'नारी दासत्व' का उन्मूलन किया था। अनेकान्त की धारा से प्रचलित अनेक धर्म व पंथ की मान्यताओं में सौहार्द व समन्वय की संजीवनी बोई थी। भ. पारसनाथ के समय जैनधर्म का जो स्वरूप था, उसे महावीर ने युगीन और तात्कालिक संदर्भो से जोड़कर अभिनव स्वरूप दिया था। यही काम आज श्रमण सन्तों को युग की मांग के अनुरूप कदमताल करते हुए 'आध्यात्मिक-नया सबेरा' उगाना है। साधु अनेकान्तात्मक, बहुमुखी और बहुआयामी है। जैन साधु-सिर्फ एक विद्या के लिए अपनी तमाम शक्तियाँ अर्पित करता है वह है आत्मविद्या। साधु की परिधि में तंत्र-मंत्र, उच्चाटन, वशीकरण, ज्योतिष,

वैद्यक आदि नहीं आते। जो साधु यह सब करते हैं, 'रयणसार' में उन्हें संसक्त और पार्श्वस्थ की श्रेणी में खड़ा किया गया है। स्व. डॉ. नेमीचंद संपादक 'तीर्थंकर' के शब्दों में - ''हमें देखना होगा कि आज जो आचार्य/ साधु बने या बन रहे हैं, वे भाव आचार्य हैं या द्रव्य आचार्य। हमें आने वाले कल और आज के लिए भाव आचार्य व भाव साधु की जरूरत है, ताकि हम उन चारित्रिक विपदाओं का मुकाबला कर सकें, जो हमारा द्वार पूरे बल से खटखटा रही है।''

- निदेशक, वीर सेवा मंदिर,
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर जी का एक संस्मरण - सम्यक्त्व की सम्पदा - अनासक्ति

निर्मल मन, सम्यक्त्व की ओर है।

एक बार आचार्य श्री ने एक प्रतीकात्मक प्रश्न पूछा- ''क्या चूल्हे में आग जलने से तुम्हे कष्ट होता है? ''नहीं महाराज! इसमें कष्ट की क्या बात, चूल्हा हमसे पृथक है।'' आचार्यश्री ने कहा- इसी भांति- शरीर से आत्मा को चूल्हे की भांति पृथक मानें। **मोही-गीला नारियल है। अनासक्त- सूखा नारियल है।** शरीर में रोग उत्पन्न हो जाए तो शमन का उपाय करें, लेकिन शमन के लिए आत्मा का दमन न करें।

आचार्य श्री की पीठ पर 'दाद' रोग फैलते देख एक श्रावक ने विनम्र भाव से कहा- ''महाराज श्री'' आप इस दाद की दवाई क्यों नहीं करते?'' महाराज श्री - मंद मुस्कान से बोले- 'बहुत दवाई लगाई परन्तु रोग, मेरा (शरीर का) पिण्ड नहीं छोड़ रहा है। बस एक दवाई करना भर शेष है, उसे लगावेंगे तो यह रोग नष्ट हो जावेगा तथा शरीर भी रोग मुक्त हो जावेगा।''

श्रावक ने कहा- दवा का नाम बतायें, मैं लाने का प्रयास करूँगा। ''अभी तूँ वह दवा नहीं जानता। मैं उसे लगाकर दो माह में शरीर नीरोग बना दूँगा''- गंभीर होकर आचार्यश्री बोले! जीवन में गुलामी स्वीकार नहीं की। दवा करते करते थक गये। अब तो समाधिमरण धारण करके नया शरीर ग्रहण करेंगे। आचार्य श्री की शरीर के प्रति यह अद्‌भुत अनासक्ति देख वह श्रावक चुप हो गया।

कृति- ''लोकोत्तर साधक'' से साभार- कृतिकार- प्राचार्य निहालचंद जैन

न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार जैन और उनके द्वारा सम्पादित सिद्धिविनिश्चय टीका

- डॉ. रमेशचन्द जैन

जैन न्याय की विशाल परम्परा के क्षेत्र में श्वेताम्बर आचार्य यशोविजय के उदय के शताब्दियों बाद न्यायाचार्य महेन्द्रकुमार जैन का उदय बीसवीं शती ईस्वी में हुआ, जो सभी भारतीय दर्शनों के तलस्पर्शी विद्वान् और जैन दार्शनिक साहित्य के अग्रणी सारस्वत मनीषी थे। दिगम्बर जैन समाज में आज उन जैसा न कोई दार्शनिक है और न सम्पादक। उन्होंने अनेक प्राचीन दुरूह दार्शनिक ग्रन्थों का बड़ी योग्यता से सम्पादन किया था। उन्होंने अकलंक ग्रन्थत्रय से प्रारम्भ करके अकलंकदेव के मूल ग्रन्थों का टीका के साथ जो संपादन किया है, वह उन्हें अमर बनाने वाला है। इतने विद्वान् होते हुए भी उन्हें कभी अपनी विद्वत्ता का गर्व नहीं हआ। वे अत्यन्त सरल और निश्छल थे। सत्य बात को कहने में कभी चूकते नहीं थे। एक बार सुप्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने जैन दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाण का खण्डन कर दिया, तब न्यायाचार्य जी ने युक्ति और प्रमाणों द्वारा उसका जो उत्तर दिया, दार्शनिक जगत् में उसकी बड़ी सराहना हुई थी और राहुल जी ने प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल जी संघवी से कहा था कि अगर यह युवा विद्वान् यूरोप में हुआ होता तो इसे नोबिल पुरस्कार प्राप्त हुआ होता। इसकी युक्तियों में प्रौढ़ता है, इसके तर्कों में पैनापन है और इसकी विषय प्रतिपादन की शैली प्रभावक है। सर्वप्रथम इन्होंने स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी में न्यायाध्यापन किया। श्रीमान् साहु शान्तिप्रसाद जी तथा उनकी पत्नी श्रीमती रमारानी ने अप्रकाशित जैन वाङ्.मय के संरक्षण, संशोधन, संपादन और प्रकाशन के लिए सन् १९४४ ई. में काशी में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। उस समय ज्ञानपीठ के सफल संचालन के लिए एक योग्य संचालक की आवश्यकता थी। तब पण्डित जी की योग्यता और विद्वता से प्रभावित होकर साहु जी ने पण्डित जी को ज्ञानपीठ के संचालक पद पर नियुक्त किया था। इसके साथ ही मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला का संपादक तथा नियामक भी बनाया था। ज्ञानपीठ में रहकर उन्होंने ज्ञानोदय पत्रिका का योग्यतापूर्वक संपादन किया।

अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने जैनदर्शन और जैन न्याय के अनेक दुरूह ग्रन्थों का आधुनिक शोधपूर्ण शैली में विद्वत्तापूर्ण संपादन किया है। संपादित ग्रन्थों में उनकी उच्चकोटि की प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। प्रत्येक ग्रन्थ पर उन्होंने वैदुष्यपूर्ण प्रस्तावनायें भी लिखीं जो विशेष रूप से पठनीय, चिंतनीय और मननीय हैं। उनके द्वारा संपादित ग्रन्थों में अधिकांश ग्रन्थ जैन न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य अकलंकदेव प्रणीत हैं। प्रायः ये सभी ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुए हैं। उनकी एक मौलिक कृति है - जैनदर्शन। इस कृति में जैनदर्शन के अनेक

मौलिक तत्त्वों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य संपादित कृतियाँ हैं - १. न्यायकुमुदचन्द्र २. प्रमेयकमल मार्तण्ड ३. अकलंकग्रन्थत्रय ४. न्यायविनिश्चय विवरण ५. तत्त्वार्थवार्तिक ६. सिद्धिविनिश्चय ७. तत्त्वार्थवृत्ति ८. जयधवला (प्रथम पुस्तक) ९. प्रमाणमीमांसा १०. जैन तर्क भाषा ११. षड्दर्शनसमुच्चय १२. सत्य शासन परीक्षा १३. विश्वतत्त्व प्रकाश १४. प्रमाण प्रमेय कलिका १५. युक्त्यनुशासन १६. आत्मानुशासन १७. विविध तीर्थकल्प १८. प्रभावक चरित्र।

पं. महेन्द्र कुमार जैन ज्ञानपीठ संभालने के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बौद्धदर्शन के अध्यापक हो गए। उनका सबसे प्रथम संपादित ग्रन्थ न्यायकुमुदचन्द्र था, जो जैन न्याय का अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला बम्बई की ओर से हुआ। उसके बाद न्यायाचार्य जी ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का संपादन किया और पं. सुखलाल जी के साथ भी गई ग्रन्थों का संपादन किया। सिंघी जैन ग्रन्थमाला से उनके द्वारा संपादित अकलंक ग्रन्थत्रय का प्रकाशन हुआ। उसकी प्रस्तावना से उनकी विद्वत्ता चमक उठी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रहते हुए उन्होंने सिद्धिविनिश्चय का संपादन किया। उसी पर से उन्हें पी.एच. डी. उपाधि प्राप्त हुई। वे जैन विद्वानों में सर्वप्रथम पी.एच.डी. हुए। उनकी नियुक्ति काशी के संस्कृत विश्वविद्यालय में प्राकृत तथा जैनदर्शन विभाग के अध्यक्ष पद पर होने वाली थी, कि उन्हें पक्षाघात हो गया। पक्षाघात के दूसरे आक्रमण के फलस्वरूप ४८ वर्ष में उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु पर सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने लिखा था -

'' जैन न्याय का उनके जैसा अधिकारी विद्वान् कोई दृष्टिगोचर नहीं होता, जो उनका भार संभालने की योग्यता रखता हो। दर्शन के प्रायः सभी ग्रन्थों का उन्होंने पारायण कर डाला था। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध सभी दर्शनों के ग्रन्थ उनके दृष्टिपथ से निकल चुके थे। संपादन कला के तो वह आचार्य हो गए थे। विद्यानन्द स्वामी की अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ सिद्धिविनिश्चय के प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। हम सोचा करते थे कि महेन्द्रकुमार जी के द्वारा एक एक करके इन सबका उद्धार हो जायेगा, किन्तु हमारा सोचना भी उनके साथ ही चला गया। उनके जैसा अध्यवसायी, कर्मठ और धुन का पक्का व्यक्ति होना कठिन है। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था - ''स्वकार्यं साधयेत् धीमान्'', बुद्धिमान का कर्त्तव्य है कि अपने कार्य की सिद्धि करे।

एक बार वाराणसी में सर्व वेद शाखा सम्मेलन का आयोजन हुआ था और उसमें वेदविरोधी विद्वानों को भी बोलने के लिए आमंत्रित किया था। पं. महेन्द्रकुमार जी ने वेद के अपौरुषेयत्व केविरोध में संस्कृत में बोला। संस्कृत विश्वविद्यालय में उनके पहुँच जाने से जैन संस्कृति को अवश्य ही बल मिलता, इसमें संदेह नहीं है। किन्तु दुःख यही है कि असमय में ही और वह भी अचानक ही उनका हमसे सदा के लिए वियोग हो गया।''

पं. महेन्द्रकुमार जैन द्वारा संपादित सिसिद्धविनिश्चय टीका -

पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने अकलंकदेव के लुप्त ग्रन्थ सिद्धि विनिश्चय और उसकी स्ववृत्ति का उद्धार तथा आचार्य अनन्तवीर्य की टीका के साथ उसका समालोचनात्मक संपादन करके न केवल जैनदर्शन की महती सेवा की है, वरन् मध्यकालीन समग्र भारतीय

दर्शन काउपकार किया है। अकलंकदेव का मूल सिद्धिविनिश्चय एवं उसकी स्ववृत्ति अप्राप्य है, केवल उसकी टीका की एक पाण्डुलिपि के आधार पर डॉ. जैन ने इस अमूल्य ग्रन्थ का पुनर्निर्माण किया है, यत्र तत्र अन्य साधनों का उपयोग किया है। इस कार्य के संपादन में जो महान् प्रयत्न एवं परिश्रम निहित है, उसका केवल अनुमान किया जा सकता है। उनकी यह दीर्घकालीन साधना सफल हुई, जिसके फलस्वरूप एक अत्युत्तम ग्रन्थ का बड़ा शोधपूर्ण संस्करण प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थमें सिद्धिविनिश्चय मूल, उसकी स्ववृत्ति तथा अनन्तवीर्य टीका के अतिरिक्त १६४ पृष्ठ की हिन्दी की और ११६ पृष्ठ की अंग्रेजी की एक सुविस्तृत टीका लिखी गई है और साथ साथ तुलनात्मक संस्कृत 'आलोक टिप्पण भी दिए गए हैं।[8] श्रीमद्भट्टाकलंकदेव जैन न्याय के प्रतिष्ठापक पद पर प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन से प्राप्त भूमिका पर प्राचीन आगमिक शब्दों और परिभाषाओं को दार्शनिक रूप देकर अकलंक न्याय का प्रस्थापन किया है। प्रमाण की व्यवस्थित परिभाषायें और भेद-प्रभेद की रचना करने का बहुत बड़ा श्रेय भट्टाकलंकदेव को है। बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति, मीमांसादर्शन में भट्टकुमारिल, प्रभाकर दर्शन में प्रभाकर मिश्र, न्यायवैशेषिक में उद्योतकर और व्योमशिव तथा वेदान्त में शंकराचार्य का जो स्थान है, वही जैन न्याय में भट्ट अकलंक का है। ईसा की ७वीं ८वीं और नवमी शताब्दियाँ मध्यकालीन दार्शनिक इतिहास की क्रांतिपूर्ण शताब्दियाँ थीं। इनमें प्रत्येकदर्शन ने जहाँ स्वदर्शन की किलेबन्दी की, वहाँ परदर्शन पर विजय पाने का अभियान भी किया। इन शताब्दियों में बड़े बड़े शास्त्रार्थ हुए। उद्भट वादियों ने अपने पाण्डित्य का डिंडिम नाद किया तथा दर्शन प्रभावना और तत्त्वाध्यवसाय संरक्षण के लिए राज्याश्रय प्राप्त करने हेतु वाद रोपे गए। इस युग के ग्रन्थों में स्वसिद्धान्त के प्रतिपादन की अपेक्षा परपक्ष के खण्डन का भाग ही प्रमुख रूप से रहा है। इसी युग में महावादी भट्टाकलंक ने जैन न्याय के अभेद्य दुर्ग का निर्माण किया था। उनकी यशोगाथा शिलालेखों और ग्रन्थकारों के उल्लेखों में बिखरी पड़ी है।[9] पं. महेन्द्रकुमार जैन ने इन सब उल्लेखों को उद्धृत कर इनकी समीक्षा की है। अपनी विद्वतापूर्ण प्रस्तावना में उन्होंने अनेक आचार्यों से तुलना की है। जैसे- आचार्य पुष्पदंत भूतबलि और अकलंक, कुन्दकुन्द और अकलंक, समन्तभद्र और अकलंक, सिद्धसेन और अकलंक, यतिवृषभ और अकलंक, श्रीदत्त और अकलंक, तथा पूज्यपाद, मल्लवादी, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, पात्रकेसरी, भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति, जयराशि, प्रज्ञाकर गुप्त, अर्चट, शान्तभद्र, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि, अभयदेवसूरि, सोमदेवसूरि, अनन्तकीर्ति, माणिक्यनन्दि, शान्तिसूरि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, वादिदेवसूरि, हेमचन्द्र मलयगिरि, चन्द्रसेन, रत्नप्रभ, आशाधर, अभयचन्द्र, देवेन्द्रसूरि, धर्मभूषण, विमलदास तथा **यशोविजय आचार्य** की अकलङ्कदेव से तुलना की है।

पण्डित महेन्द्रकुमार जैन ने गहन ऊहापोह कर अकलंकदेव का समय ई. ७२० से ७८० सिद्ध किया है। हो सकता है, वे कुछ और भी जीवित रहे हों।

भट्टालङ्क उस शताब्दी के व्यक्ति हैं, जब धर्मकीर्ति और उसके टीकाकार शास्त्रार्थों की धूम मचाए हुए थे। अतः अकलङ्कदेव के दार्शनिक प्रकरणों में उस युग की प्रतिक्रिया की प्रतिध्वनि बराबर सुनाई देती है। वे जब भी अवसर पाते हैं, बौद्धों के तीक्ष्ण खण्डन में नहीं

चूकते। जब धर्मकीर्ति परिवार ने जैन सिद्धान्त को अश्लील, आकुल प्रलाप आदि कहना आरंभ किया तो इनका अहिंसक मानस डोल उठा और उन्होंने इन पर प्रहारों से जैन शासन की रक्षा करने हेतु सर्वप्रथम अपने सिद्धान्तों की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया।

अकलंङ्क की जैन न्याय को बहुत बड़ी देन है। अकलङ्कदेव ने प्रमाण लक्षण में 'अविसंवादी' पद देकर ऐसे ज्ञान को प्रमाण कहा जो अविसंवादी हो। इस लक्षण में उन्होंने स्व पद पर जोर नहीं दिया, क्योंकि स्वसंवेदन ज्ञानसामान्य का धर्म है, प्रमाण ज्ञान का ही नहीं। वे कहीं प्रमाण के फलभूत सिद्धि को 'स्वार्थ विनिश्चय' शब्द से व्यक्त करते हैं तो कहीं तत्त्वार्थनिर्णय शब्द से। यद्यपि अष्टशती के लक्षण में 'अनधिगतार्थाधिगम' शब्द का प्रयोग किया, किन्तु इस पर उनका भार नहीं रहा। अकलङ्कदेव ने बौद्धसम्मत अविसंवादि ज्ञान की प्रमाणता का खण्डन इसलिए किया है कि उनके द्वारा प्रमाणरूप से स्वीकृत निर्विकल्पज्ञान में अविसंवाद नहीं पाया जाता है। सन्निकर्ष की प्रमाणताका निराकरण इसलिए किया है कि उसमें अचेतन रूपता होने के कारण प्रभा के प्रति साधकतमत्व नहीं आ सकता है। अकलङ्कदेव ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार मतिज्ञानों में पूर्व पूर्व का प्रमाण्य तथा उत्तर में फलरूपता स्वीकृत की है। उन्होंने ईहा और धारणा की ज्ञानरूपता का समर्थन किया है। अकलङ्कदेव ने ज्ञान के प्रति साक्षात् कारणता इन्द्रिय और मन की ही मानी है, अर्थ और आलोक की नहीं; क्योंकि इनका ज्ञान के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष का लक्षण करते समय न्यायावतार में 'अपरोक्ष' पद देकर प्रत्यक्ष का लक्षण परोक्षसापेक्ष किया था। अकलंङ्कदेव विशदज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षण को सभी ने अपनाया है। अनुमान आदि से अधिक विशेष प्रतिभास वैशद्य है। चूंकि इन्द्रिय ज्ञान एकदेश से विशद है, अतः वैशद्यांश का सद्भाव होने से यह भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता ओर आभिनिबोधिक शब्दयोजना के पहले मतिज्ञान हैं और शब्दयोजना के बाद श्रुतज्ञान हैं। प्रायः सभी वादी स्मरण को गृहीत ग्राही मानकर अप्रमाण कहते आए हैं, किन्तु अकलङ्कदेव ने स्वविषय में अविसंवादी होने के कारण इसे प्रमाणता का दर्जा दिया है, जो अन्य प्रमाणों को प्राप्त था।

प्रत्यभिज्ञान को मीमांसक ने इन्द्रिय प्रत्यक्ष में और नैयायिक ने मानस प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत किया था तथा बौद्ध ने अप्रमाण कहा था, परन्तु अकलंङ्कदेव ने इसे स्वतंत्र प्रमाण मानकर इसी के भेद स्वरूप सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में नैयायिकादि के उपमान का अन्तर्भाव दिखाया है और कहा है कि यदि सादृश्यविषयक उपमान को पृथक् प्रमाण मानते हो तो वैधर्म्य विषयक और आपेक्षिक आदि प्रत्यभिज्ञानों को भी स्वतंत्र मानना पड़ेगा।

व्याप्तिग्राही तर्क को न तो वादी प्रमाण कहना चाहते थे, और न अप्रमाण। प्रमाणों का अनुग्राहक मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। किन्तु अकलङ्कदेव ने कहा कि यदि तर्क को प्रमाण नहीं मानते हो तो उसके द्वारा गृहीत व्याप्ति में कैसे विश्वास किया जा सकेगा। अतः तर्क भी स्वविषय में अविसंवादी होने से प्रमाण है।

अकलङ्कदेव ने कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि के सिवाय कारण हेतु, पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु और सहचर हेतु को पृथक् मानने का समर्थन किया है।

यद्यपि अकलंङ्कदेव अविनाभाव रूप एक लक्षण के अभाव में वस्तुतः एक ही असिद्ध हेत्वाभास मानते हैं, किन्तु अविनाभाव का अभाव कई प्रकार से होता है, अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्कर ये चार हेत्वाभास भी मानते हैं। नैयायिक तत्त्वनिर्णय और तत्त्वाध्यवसाय संरक्षण को जुदा मानकर तत्त्वाध्यवसाय संरक्षण के लिए छल आदि असत् उपायों का आलम्बन करना भी उचित ही नहीं, न करने पर निग्रहस्थान मानते हैं, पर अकलंङ्कदेव ने किसी भी दशा में छलादि का प्रयोग उचित नहीं माना। अतः उनकी दृष्टि से छलादि प्रयोग वाली जल्पकथा और वितण्डा कथा का अस्तित्त्व ही नहीं है। वे केवल एक वादकथा मानते हैं। इसीलिए वे वाद को ही जल्प कहते हैं।

अकलंङ्क ने मिथ्या उत्तर को जात्युत्तर कहा है। साधर्म्यादिसमा आदि जातियों के प्रयोग को ये अनुचित मानते है। उन्होंने यह भी कहा है कि मिथ्या उत्तर अनन्त प्रकार के हैं, उनकी गिनती करना कठिन है।

नैयायिकों ने जय-पराजय व्यवस्था के लिए निग्रह स्थानों का जटिल जाल बनाया है। अकलङ्कदेव ने कहा है कि जो अपना पक्ष सिद्ध कर ले, उसका जय और जिसका पक्ष निराकृत हो जाय, उसका पराजय होना चाहिए। अपने पक्ष को सिद्ध करके कोई नाचता भी है तो कोई दोष नहीं है।

सिद्धिविनिश्चय टीका के कर्त्ता अनन्तवीर्य -

आचार्य अनन्तवीर्य अपने युग के श्रद्धालु तार्किक और प्रतिभासंपन्न आचार्य थे। भट्टाकलङ्कदेव ने गूढ़तम प्रकरण ग्रन्थों के हार्द को उद्घाटित करने का अप्रतिम प्रयत्न किया है। यद्यपि इनके सामने अकलंङ्क-सूत्र के वृत्तिकार वृद्ध अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चय वृत्ति रही है, पर इनके द्वारा लिखे गए इस श्लोक से विदित होता है कि ये वृद्ध अनन्तवीर्य की व्याख्या से बहुत संतुष्ट नहीं थे। वे आश्चर्य प्रकट करते हुए लिखते हैं -

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तं सर्वथा।
न जानीते अकलंङ्कस्य चित्रमेतद् परं भुवि।।

आचार्य अनन्तवीर्य बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने जिस प्रकार विषय को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षीय ग्रन्थों से सैकड़ों अवतरण 'तदुक्तम्' आदि के साथ उद्धृत किए हैं, उसी तरह स्वपक्ष के समर्थन के लिए भी पूर्वाचार्य के वचनों के पचासों प्रमाण उपस्थित किए हैं। इनका दर्शनशास्त्रीय अध्ययन बहुव्यापक और सर्वतोमुखी था। पूर्वपक्ष के प्रस्तुतीकरण में उन्होंने वैदिक साहित्य, महाभारत, न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्य, सांख्य कारिका, योगसूत्र और व्यास के योगभाष्य, जैमिनि सूत्र, शाबर भाष्य, मीमांसा श्लोकवार्तिक, त्रिपिटिक, अभिधर्मकोश, नागार्जुन की माध्यमिक वृत्ति, दिङ्.नाग का प्रमाणसमुच्चय और उसकी स्ववृत्ति, धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्याय विन्दु, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सम्बन्ध परीक्षा आदि और प्रज्ञाकर का प्रमाणवार्तिकालंकार उद्धृत किए हैं। अन्य बौद्धग्रन्थों में धर्मकीर्ति का अपोह वार्तिक, अर्चट की हेतु बिन्दु टीका, कल्लक (कर्णकगोमि) तथा शान्तभद्र के अवतरणों से अनन्तवीर्य की सिद्धिविनिश्चिय टीका परिपुष्ट हुई है। उत्तरपक्ष को पुष्ट करने के लिए उमास्वामी के

तत्त्वार्थसूत्र, समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र और बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र, अकलंङ्कदेव की न्यायविनिश्चय वृत्ति, हरिभद्र के योगबिन्दु, विद्यानंद की अष्टसहस्री तथा यशस्तिलक चम्पू जैसे जैन ग्रन्थों के उद्धरण लिए गए हैं। इन सबका प्रामाणिक विवरण पं. महेन्द्रकुमार जैन सिद्धिविनिश्चय टीका की प्रस्तावना में दिया है। उपर्युक्त अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवी थे। अनेक प्रकार से ऊहापोह करते हुए पण्डित जी ने इनका समय ९५०-९९० ई. निर्धारित किया है। प्रमेयरत्नमाला के कर्त्ता अनन्तवीर्य ११वीं शताब्दी ई. में हुए। अनन्त वीर्य आचार्य ने सिद्धिविनिश्चय टीका के साथ प्रमाण संग्रहभाष्य या प्रमाण संग्रहालंड्.कार नामक ग्रन्थ की रचना की थी। स्याद्वाद रत्नाकार और सर्वदर्शन संग्रह में अनन्तवीर्य के नाम से जो वाक्य और श्लोक उद्धृत मिलते हैं, वे संभरवतः प्रमाण संग्रह भाष्य के ही हों।

सिद्धिविनिश्चय में १२ प्रस्ताव हैं। इनमें प्रमाण, नय और निक्षेप का विवेचन है। बारह प्रस्ताव ये हैं - १. प्रत्यक्ष सिद्धि २. सविकल्प सिद्धि ३. प्रमाणान्तर सिद्धि ४. जीव सिद्धि ५. जल्पसिद्धि ६. हेतुलक्षण सिद्धि ७. शास्त्रसिद्धि ८. सर्वज्ञसिद्धि ९. शब्दसिद्धि १०. अर्थनय सिद्धि ११. शब्दनयसिद्धि तथा १२. निक्षेप सिद्धि।

आचार्य अनन्तवीर्य ने टीका में मूल अभिप्राय को विशद और पल्लवित करने हेतु अपनी सारी शक्ति लगाकर विशिष्ट स्थान बनाया है। आचार्य प्रभाचन्द्र अकलङ्कदेव की सरणि को प्राप्त करने के लिए इन्हीं की युक्तियों और उक्तियों का अभ्यास करते हैं तथा उनका विवेचन करने की बात बड़ी श्रद्धा से लिखते हैं -

त्रैलोक्योदखर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयः।
दुष्प्रापोप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्तो %त्र पुण्योदयात्।
स्वभ्यास्तश्च विवेचितश्च सततं सो%नन्तवीर्योक्ति,
भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसः तद्बोधसिद्धिप्रदः।।

अर्थात् अकलंङ्कदेव की समस्त प्रमेयों से समृद्ध सरणि बड़े पुण्योदय से प्राप्त हुई, उसका मैंने अनन्तवीर्य की उक्तियों से सैकड़ों बार अभ्यास किया और विवेचन किया।

१८००० श्लोक प्रमाण टीका रचकर भी उस सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ का पार पाने का अनन्तवीर्य दावा नहीं करते। पण्डित महेन्द्रकुमार जैन ने इस ग्रन्थ का संपादन कर समाज का बड़ा उपकार किया है।

*****

संदर्भ :-

१. महामहोपाध्याय डॉ. गोपीनाथ कविराज, वाराणसी द्वारा लिखित सिद्धिविनिश्चय का प्राक्कथन।
२. सिद्धिविनिश्चय टीका की पं. महेन्द्रकुमार जैन लिखित प्रस्तावना, पृ. ७

- मुहल्ला- कुँवर बालगोविन्द, बिजनौर (उ.प्र.)

समण सुत्तं में उद्धृत कर्म सूत्रों की उपादेयता

- समणी आगमप्रज्ञा

जैन दर्शन के मूल रूप से चार स्तम्भ है-आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। कर्मवाद जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त है। कर्म शब्द के अनेक अर्थ किए जाते हैं। जैसे - कार्य, क्रिया, कारक और कर्म रूप परिणत होने वाले कर्म प्रायोग्य पुद्गल। प्रस्तुत संदर्भ में कर्म के चतुर्थ अर्थ को ग्रहण किया जाएगा। कर्म को परिभाषित करते हुए उत्तराध्ययन वृत्ति में कहा गया -

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगानुगतेनात्मना निर्वर्त्त्यत इति कर्म

अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग-इन आश्रवों से अनुगत आत्मा द्वारा जो किया जाता है-वह कर्म है। इन अनन्त पुद्गलों से परिपूर्ण लोक में जो कर्मरूप परिणत होने योग्य नियत पुद्गल, आत्म-परिणाम के अनुसार बन्ध को प्राप्त होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण रूप परिणाम देते है उन्हें कर्म कहा जाता है। ''समण-सुत्तं'' में कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित ग्यारह गाथाओं का समावेश है- जो विभिन्न ग्रन्थों जैसे-उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प भाष्य, गोम्मटसार आदि से उद्धृत हैं। इन ग्यारह गाथाओं में जैन कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित विभिन्न तथ्य-जिसमें संक्षेप में आठ कर्म, भावों के अनुसार शुभ अशुभ कर्मों का बंधन, कर्म बंध का कारण-राग-द्वेष, स्वयं द्वारा किए कर्मों का स्वयं द्वारा भुगतान, कर्मों के स्वभाव आदि का उल्लेख है। इस शोध आलेख के अन्तर्गत इन गाथाओं में दिए गए कर्म सिद्धान्तों के व्यावहारिक एवं दार्शनिक महत्त्व को प्रकाशित किया जाएगा। कर्म आठ हैं। इन आठों कर्मों की जानकारी देने हेतु ''समणसुत्तं'' में उत्तराध्ययन से दो श्लोक उद्धृत किये गये हैं -

नाणस्सवरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेवया।।
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ।।

अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय-ये आठ कर्म हैं। इन दो गाथाओं में कर्मों का नामोल्लेख किया गया है। कर्मों के नाम से ही उनके कार्य भी ज्ञात हो जाते हैं। इन आठ कर्मों में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये घाति कर्म कहलाते हैं क्योंकि ये कर्म हमारी आत्मा के मूल गुणों जैसे - ज्ञान, दर्शन आदि का घात करते हैं। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य ये कर्म मूल गुणों का घात न करने से अघाति कहलाते हैं। ज्ञानवरणीय और दर्शनावरणीय कर्म हमारे ज्ञान और दर्शन को आवृत्ति करते हैं। मोहनीय कर्म हमारी दृष्टि एवं चरित्र में विकार उत्पन्न करता है। अन्तराय

कर्म शक्ति का प्रतिघात करता है एवं वेदनीय आदि चार कर्म शुभाशुभ के हेतु बनते हैं। व्यक्ति दिन में अनेक प्रकार की प्रवृत्ति करता है। उसे यह भान नहीं होता कि किस प्रवृत्ति को करने से कौन-से कर्म बंधेगे, उसके साथ होने वाली घटनाएं क्यों घटित हो रही है, किस कर्म का क्या फल मिलता है, आदि की पूर्ण जानकारी न हो तो वह कर्म बंधन की श्रृंखला में जकड़ता रह जाएगा और कभी इससे मुक्त नहीं हो पायेगा। यह गाथाएं इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इन आठ कर्मों को जानने से व्यक्ति असत् प्रवृत्ति से दूर रहकर कर्मों के बंधन को कम करने का प्रयत्न कर सकता है। समण-सुत्तं के कर्मसूत्र में उद्धृत यह गाथाएं-

जं जं समयं जीवो आविसइ जेण जेण भावेण।
सो तंमि तंमि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं।।
कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागु व्व मट्टियं।।

अर्थात् जिस समय जीव जैसे भाव रखता है, वह उस समय वैसे ही शुभ-अशुभ कर्मों का बंध भी करता है। प्रमत्त मनुष्य शरीर और वाणी से मत्त होता है तथा धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह राग-द्वेष-दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है, जैसे शिशुनाग मुख और शरीर दोनों से मिट्टी का संचय करता है।

इन दोनों ही गाथाओं में कर्म बंधन करने में व्यक्ति के भावों पर प्रकाश डाला गया हैं। कर्म बंधन में दो आस्रव मुख्य है-कषाय और योग। कषाय अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ। योग अर्थात् प्रवृत्ति। मन, वचन या शरीर इन तीनों से जब भी जीव किसी प्रकार का योग करता है तब कर्म पुद्गलों को आकर्षित करता है। वे कर्म पुद्गल आकर आत्मा से चिपककर एकमेक हो जाते हैं उसी को बंधन कहा जाता है। योग के साथ जितना-जितना राग और द्वेष होगा या जितना-जितना क्रोध आदि का भाव होगा उतनी-उतनी बंधन की स्थिति और अनुभाग की तीव्रता भी रहेगी। अच्छे भावों से अर्थात् मोह रहित, क्रोध आदि से रहित प्रवृत्ति होने पर व्यक्ति अच्छे कर्मों अर्थात् निर्जरा के साथ-साथ पुण्य कर्म का उपार्जन भी करता है। भगवान महावीर ने कहा भी हैं-

सुचिन्ना कम्मा सुचिन्ना फला भवंति दुचिन्ना कम्मा दुचिन्ना फला भवंति।

अच्छे कर्मों का अच्छा फल होता है और बुरे कर्म का बुरा। राग और द्वेष ये कर्म बंधन के मूल कारण हैं।[8] राग-द्वेषात्मक भावों से युक्त व्यक्ति बुरे कर्मों का संचय करता है और राग-द्वेष से रहित व्यक्ति अच्छे कर्मों का बंधन करता है। ये गाथाएं इसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रतिपादित करती है कि जैसा भाव होता है वैसा ही बंधन भी होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह श्लोक नैतिकता की पृष्ठभूमि है। इससे व्यक्ति असत् प्रवृत्ति से दूर और सत् प्रवृत्ति में संलग्न रहने का प्रयत्न करेगा।

बहुत बार यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम नैतिक क्यों बने? हमें अच्छे कार्य करने की प्रेरणा क्यों दी जाती है? इसका समाधान इन्हीं गाथाओं में निहित है। व्यक्ति राग-द्वेष से प्रेरित होकर कार्य करता है तो उसके वैसे कर्मों का बंधन भी होता है। अनैतिक कार्य जैसे -

बेईमानी, चोरी, धोखाधड़ी, नकारात्मक सोच, नकारात्मक भाव आदि व्यक्ति को निम्नगति की ओर ले जाते है। बुरे भाव या बुरे कार्य बुरे कर्मों के बंधन में निमित्त बनते हैं। ''ठाणं'' में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है कि किन-किन प्रवृत्तियों को करने से व्यक्ति किस-किस गति को प्राप्त करता है। जैसे - महारंभ (हिंसा), महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय वध और मांसाहार करने वाला नरक गति को प्राप्त करता है।[२] माया, प्रवंचना, अलीक वचन, कूटतौल-कूटमाप करने वाला तिर्यंच गति को प्राप्त करता है।[३] भद्र, विनीत, अनुकंपा रखने वाला और अमत्सरी मनुष्य गति को प्राप्त करता है।[४] सराग संयम, संयमासंयम, बालतप और अकाम निर्जरा करने से व्यक्ति देव गति को प्राप्त करता है।[५] इस प्रकार यदि व्यक्ति को यह ज्ञात रहे कि बुरी प्रवृत्ति या अनैतिक कार्य उसे पतन की ओर ले जाएगा तो वह उन कार्यों से दूरी बनाए रखेगा। श्लोक में दिया गया दृष्टान्त भी इसी ओर संकेत कर रहा है कि व्यक्ति जैसा कर्म करेगा वैसा ही बंधन भी करेगा। शिशुनाग (अलसिया) मिट्‌टी खाता है। उसका शरीर गीला होता है मिट्‌टी खाने के लिए वह निरंतर मिट्‌टी के ढेरों में घूमता रहता है। शरीर गीला होने की वजह से उसके शरीर पर भी मिट्‌टी चिपक जाती है। वह गीली मिट्‌टी तेज सूर्य में सूख जाने से वह शिशुनाग उस गर्म मिट्‌टी में झुलस-झुलस कर मर जाता है। इस प्रकार दोनों ओर से गृहित मिट्‌टी उसके विनाश का कारण बन जाती है। वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि अनैतिक कार्य या बुरे कर्म भी व्यक्ति को बंधन की ओर या विनाश की ओर ले जाने वाली होते हैं। अतः ये गाथाएं व्यक्ति को राग-द्वेष से मुक्त होकर अच्छे भावों में रहने एवं अच्छे कार्यों को करने के लिए प्रेरित करती हैं। समण-सुत्तं के कर्मसूत्र में उद्‌धृत यह गाथा-

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइयो, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं न पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।।

अर्थात् ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बंटा सकते। वह स्वयं अकेला दुःख का अनुभव करता है क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

यह गाथा जैन दर्शन में कर्मवाद के सिद्धान्त - 'जो करेगा वो ही भरेगा' इस तथ्य को प्रकट करती है। जो व्यक्ति जैसा कार्य करेगा अर्थात् अच्छा करेगा तो उसको अच्छा फल मिलेगा। कोई दूसरा उस फल का संवेदन या अनुभव नहीं कर सकता। उसी प्रकार बुरा कर्म करेगा तो उसी व्यक्ति को उसका संवेदन करना होगा। यह सूत्रदर्शन की एक बहुत बड़ी समस्या का समाहारक है। दर्शन जगत् में एक बहुत बड़ा प्रश्न रहा है-क्या हम सभी एक ईश्वर या ब्रह्म के अंश है या फिर हम सब की आत्मा स्वतंत्र है? वैदिक दर्शन में जहां सभी को एक ईश्वर का अंश माना गया है, उनके सामने यह समस्या आती है कि यदि सभी एक ही ईश्वर के अंश है तो फिर ऐसा क्यों होता है कि कोई सुखी है तो कोई दुःखी है, कोई अमीर है तो कोई गरीब है, कोई ज्ञानवान है तो कोई धनवान है आदि। इसके साथ-साथ यदि हम सभी एक ही ईश्वर के अंश है तो एक के सुखी होने पर सब को सुखी होना चाहिए और एक के दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिए आदि-आदि। किन्तु ऐसा व्यवहारिक जगत् में दिखाई नहीं पड़ता।

इसलिए यह गाथा दर्शन जगत् में उभरती हुई इस समस्या के समाधान रूप होने से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जगत की विचित्रता का यही एक कारण है – कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है। कोई दूसरा उसका संवेदन नहीं कर सकता। दुःख या पीड़ा का अनुभव होने पर ज्ञाति, मित्र, पुत्र आदि हमें सांतवना (sympathy) दे सकते हैं किन्तु हमारे दुःख को बांट नहीं सकते। व्यक्ति को अकेले ही दुःख का अनुभव करना पडता है। यही सिद्धान्त जब रत्नाकर को मुनिगण समझाते हैं तो वह अपने परिवार को जाकर पूछता है कि क्या वह चोरी या डकैती करके जो धन कमा रहा है, उससे लगने वाले पाप को भोगने में वे लोग भी उसका साथ देंगें? इस प्रश्न पर जब परिवार के सभी सदस्य मौन रहते हैं तो रत्नाकर समझ जाता है कि व्यक्ति को अपने किए हुए कर्मों का भोग स्वयं ही करना पडता है। यही वह सिद्धान्त था जो रत्नाकर के जीवन में नया मोड़ लाया। वही रत्नाकर आगे जाकर वाल्मीकि बन गया। हम प्रत्यक्षतः देखते भी हैं कि कोई भी व्यक्ति अपनी व्याधि या कष्टों को किसी दूसरे को दे नहीं सकता और न ही वह ले सकता है। दूसरे सिर्फ उसे सांत्वना या साहस बंधवा सकते हैं। अंततः वह दुःख उसका ही है। उसे ही भोगना पड़ता है। कर्मसूत्र की अगली गाथाएं–

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति।
रूक्खं दंरूहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तुत्तो।।
कम्मवसा खलु जीवा, जीववसूरइं कहिंचि कम्माइं।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणिओ कत्थई बलवं।।

अर्थात् ''जीव कर्मों का बन्ध करने में स्वतंत्र है, परन्तु उस कर्म का उदय होने पर भोगने में उसके अधीन हो जाता है। जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर तो चढ़ जाता है, किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है। कहीं जीव कर्म के अधीन होते हैं तो कहीं कर्म जीव के अधीन होते हैं। जैसे कहीं (ऋण देते समय तो) धनी बलवान् होता है तो कहीं (ऋण लौटाते समय) कर्जदार बलवान् होता है।''

प्रथम गाथा का सार यह है कि व्यक्ति कर्म करने में स्वतंत्र है किन्तु भोगने में परतंत्र। जैसा किया वैसा भोगना ही पड़ेगा। इस गाथा को पढ़ने से व्यक्ति कर्मवाद को नियतिवाद समझ सकता है। लेकिन कर्मवाद नियतिवाद नहीं है। नियतिवाद की अवधारणा के अनुसार व्यक्ति जो कुछ करता है वह पहले से नियत है और व्यक्ति उसका किसी तरह से अतिक्रमण नहीं कर सकता।[६]

दूसरी तरफ कर्मवाद का सामान्य सिद्धान्त भी यही है – जीव कर्मों का बंधन करने में स्वतंत्र है और भोगने में परतंत्र। इस तरह कर्मवाद को नियतिवाद मान लिया जाता है किन्तु ऐसा मानना मिथ्या अवधारणा होगी। यह तथ्य दूसरी गाथा से स्पष्ट होता है। ''कर्म करने में स्वतंत्र और भोगने में परतंत्र होना'' – यह कर्म का सामान्य सिद्धान्त है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। यहाँ कर्म के साथ-साथ पुरुषार्थ को भी उतना ही महत्त्व दिया गया है। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के माध्यम से पूर्व संचित कर्मों में यत्किंचित् परिवर्तन भी कर सकता है। यहाँ परतंत्रता जो बताई गई है वह कर्मों के उदय के पश्चात् की बात है। कार्मोदय

से पूर्व व्यक्ति पुरुषार्थ के माध्यम से उनमें परिवर्तन भी कर सकता है। जैन ग्रन्थों में कर्म की दस अवस्थाओं-बंध, सत्ता, उदय, उदीरणा, अपवर्तन, उद्वर्तन, संक्रमण आदि का वर्णन प्राप्त होता है।[७] यदि व्यक्ति परतंत्र ही होता तो अपवर्तन, उद्वर्तन, संक्रमण आदि का कोई अर्थ ही नहीं रहता। इसके अतिरिक्त जैन आगमों में ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं जहाँ तप आदि पुरुषार्थ के माध्यम से व्यक्ति ने मुक्ति को प्राप्त किया है। भगवान् महावीर ने भी आजीवक सम्प्रदाय के सद्दालपुत्र को पुरुषार्थ की प्रेरणा दी थी।[८] भगवान महावीर विहार करते-करते सद्दालपुत्र के कुंभकारापणों में पहुंचते है। वहाँ उससे पूछा - "तुमने इन मिट्टी के बर्तनों को बनाने में पुरुषार्थ और पराक्रम किया है या ये ऐसे ही निर्मित हो गए?" सद्दालपुत्र ने कहा - "इनको बनाने में किसी भी प्रकार का पुरुषार्थ या पराक्रम नहीं करना पड़ा। ये सब अपने आप नियति के प्रभाव से बने हैं।" भगवान महावीर प्रतिप्रश्न करते हुए कहते हैं - "यदि तुम्हारे इन मिट्टी के बर्तनों को कोई चुरा ले या फोड़ दे तो तुम क्या करोगे?" सद्दालपुत्र तत्काल बोला - "मैं उसको पीटूंगा, मारूंगा, आदि-आदि।" भगवान ने उसे समझाते हुए कहा - यदि तुम ऐसा करते हो तो इसका अर्थ हुआ कि तुम पुरुषकार और पराक्रम को स्वीकार करते हो। अतः इन प्रमाणों से यही प्रतिध्वनित होता है कि व्यक्ति पुरुषार्थ के माध्यम से पूर्व संचित कर्मों में कुछ परिवर्तन भी कर सकता है। शर्त इतनी ही है कि पुरुषार्थ का प्रयोग कर्मोदय से पूर्व किया जाए वरना जैसा कर्म किया वैसे ही भोगना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन के अन्तर्गत कुछ दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते है। ईश्वर को ही संसार का कर्त्ता, धर्ता और हर्ता के रूप में मानते हैं। व्यक्ति सिर्फ निमित्त है और जो कुछ करवाता है, वह ईश्वर ही है। इसके विपरीत जैन दर्शन आत्मा को स्वतंत्र कर्त्ता के रूप में स्वीकार करता हैं। जो कुछ करने वाली है, वह आत्मा है। यह गाथाएं व्यक्ति के आत्म स्वातंत्र्य को प्रकट करती है। आत्मा कर्त्ता है। कर्म उसकी कृति है। अतः अच्छे कर्म करने वालों को अच्छा फल एवं बुरे कर्म करने वालों को बुरा फल मिलता है और यदि ईश्वर को कर्त्ता स्वीकार किया जाए तो अच्छे और बुरे कर्मों का फल भी ईश्वर को ही मिलना चाहिए क्योंकि ईश्वर ही मूल कर्त्ता है। जबकि हम व्यवहार जगत में भी यही देखते हैं कि व्यक्ति को अच्छे और बुरे कर्मों का फल मिलता है। कर्तृत्व व्यहि के भीतर उसके संकल्प में हैं।[९] मूल्य कर्त्ता का होता है। यदि कर्म सब कुछ हो जाए तो कर्त्ता गौण बन जाएगा। किन्तु जैन दर्शन के अनुसार कर्त्ता का महत्त्व है। आत्मा न ईश्वराधीन है न कर्माधीन ही है। वह अपने पुरुषार्थ से ही अपने कर्मों को करता है। कर्मसूत्र में उद्धृत अगली गाथा-

कम्मत्तणेण एक्कं, दव्वं भावो त्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिंडो धव्वं, तस्सत्ती भावकम्मं तु।।

अर्थात् सामान्य की अपेक्षा कर्म एक है और द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा दो (प्रकार का) है। कर्म-पुद्गलों का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसमें रहनेवाली शक्ति या उनके निमित्त से जीव में होने वाले राग-द्वेषरूप विकार भावकर्म है।

यह गाथा जैन दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनेकान्त की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करवाती है। हमारी दुनिया सापेक्षता के आधार पर चलती है। इसलिए वस्तु तत्त्व को सही रूप

से जानने के लिए नय, अनेकान्त (सापेक्षता) की जरूरत रहती है। जैन दर्शन में दो प्रकार के कर्म बतलाए गए हैं - द्रव्य कर्म और भाव कर्म। द्रव्य कर्म - आत्मा की प्रवृत्ति से आकृष्ट कर्म पुद्‌गल एवं भाव कर्म - मूल आत्मा की प्रवृत्तिं है। मूल रूप से कर्मों को आकर्षित करने वाला कर्म है - भाव कर्म। भाव कर्म के अनुसार ही द्रव्य कर्मों का बंध होता है और द्रव्य कर्म जब उदय अवस्था में आता है तो फिर भाव कर्म वैसे ही बनते हैं। हांलाकि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से इनमें परिवर्तन भी कर सकता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ''समण सुत्तं'' में उद्‌धृत कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित ये गाथाएं बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे व्यक्ति कर्म सिद्धान्त की अच्छी जानकारी प्राप्त कर सकता है। दर्शन जगत तथा व्यावहारिक जगत से संबंधित अनेक समस्याओं को समाहित भी कर सकता है।

संदर्भ :-

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२.७
२. ठाणं, ४.६२८,
३. ठाणं, ४.६२९,
४. ठाणं, ४.६३०,
५. ठाणं, ४.६३१
६. रविन्द्रनाथ मिश्र, जैन कर्म सिद्धान्त- उद्‌भव एवं विकास, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९३, पृ. १७३
७. जैन कर्म सिद्धान्त - उद्‌भव एवं विकास, पृ. १७६
८. उपासकदशा, ७.२६
९. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन दर्शन और अनेकान्त, आदर्श साहित्य संघ, दिल्ली, पृ. ११७

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूँ (राजस्थान)

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार जैन प्रमाणमीमांसा

- *विकास सिंह*

११वीं शताब्दी के जैन दार्शनिक कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र[१] ने संस्कृत भाषा में जैन दर्शन की प्रमाण परम्परा को सुव्यवस्थित तथा सहज तरीके से प्रस्तुत करने हेतु **प्रमाणमीमांसा**[२] नामक प्रकरण[३] ग्रंथ की रचना की। **अथ प्रमाणमीमांसा**[४] (१.१.१) सूत्र से ग्रंथ का प्रारंभ करके हेमचन्द्र ने दूसरे सूत्र में सम्यगर्थनिर्णय को ही प्रमाण कहा है।[५]

हेमचन्द्र ने पूर्व जैनाचार्यों[६] द्वारा प्रमाण के लक्षण में स्वीकृत स्व पद को हटा दिया क्योंकि उनका मानना है कि ज्ञान तो स्वप्रकाशमान है, अतः उसे पृथक् शब्द से कहने से क्या प्रयोजन।[७] अनधिगत या अपूर्व पदों को भी हेमचन्द्र ने अपने लक्षण में कोई स्थान नहीं दिया तब प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि धारावाहिक व स्मृति आदि ज्ञान जो अधिगतार्थक या पूर्वार्थक होने से अप्रमाण समझे जाते हैं। तब सम्यगर्थनिर्णयरूप लक्षण में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसका निराकरण हेमचन्द्र ने धारावाहिक तथा स्मृति ज्ञान में समत्व दिखाकर प्रामाण्य को स्वीकार करके किया है।[८] प्रमाण्य का निश्चय स्वतः एवं परतः होता है।[९] जैन मत में अभ्यासदशा में स्वतः तथा अनभ्यासदशा में परतः माना जाता है। आगम स्वतः प्रमाण हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण के दो भेद प्रत्यक्ष तथा परोक्ष स्वीकार किये हैं।[१०] पूर्व जैनाचार्यो द्वारा स्वीकृत अन्य प्रमाणों को इन्हीं दो के भेद-प्रभेद में स्वीकार कर हेमचन्द्र ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता अर्पित की है।

प्रत्यक्ष प्रमाण –

प्रत्यक्ष शब्द प्रति तथा अक्ष इन दो शब्दों के संयोग से बना है। जैनदर्शन में अक्ष शब्द का अर्थ संपूर्ण अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय द्रव्य, देश तथा काल इत्यादि में व्याप्त अर्थात् आत्मा किया गया है। अक्ष शब्द का अश्नुते (विषय) अर्थ में इन्द्रिय भी अपर आशय प्रतिपादित किया गया है। अतः इन्द्रियनिरपेक्ष तथा आत्माश्रित ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, इन्द्रियाश्रित ज्ञान परोक्ष है।[११]

सूत्र संख्या १.१.१३ में प्रत्यक्ष को परिभाषित करते हुए हेमचन्द्र ने *विशदः* प्रत्यक्षम् कहकर वैशद्य को ही प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। यह वैशद्य क्या है? इस शंका का समाधान करते हुए उन्होंने बतलाया है कि अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखने वाला सम्यगर्थनिर्णय संपन्न सर्वज्ञ का ज्ञान ही वैशद्य है।[१२] हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ आप्तनिश्चयालंकार में सर्वज्ञ को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो सब कुछ जानता हो, राग, द्वेष इत्यादि दोषों को जो जीत चुका हो, तीनों लोकों में पूज्य हो, जैसी जो वस्तु है उसे वैसा ही बताने वाला यथास्थितार्थवादी हो, वही परमेश्वर अर्हत् देव है। इस अर्हत को ही सर्वज्ञ कहा जाता है।[१३]

प्रत्यक्ष के दो भेद मुख्य प्रत्यक्ष तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हैं। मुख्य प्रत्यक्ष के तीन भेद- केवल, अवधि तथा मनःपर्याय हैं जबकि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के छः प्रकार यथा इन्द्रिय, मन, अवग्रह, ईहा, आवाय, धारणा है।

मुख्य प्रत्यक्ष से आशय ज्ञान के समस्त बाधक तत्त्वों का आत्मा से पूर्णतया नष्ट हो जाना है, जिससे चेतना के स्वरूप का उदय होता है तथा अनंत ज्ञान प्राप्त होता है। इसे ही **केवल ज्ञान** भी कहते हैं।[१४] बाधकाभाच्च (१.१.१७) सूत्र के माध्यम से केवल ज्ञान के अबाध ाक होने को बतलाया है। **अवधिपर्याय ज्ञान** वह है जिसमें मनुष्य अपने कर्म को अंशतः नष्ट करके ऐसी शक्ति प्राप्त करता है जिसके द्वारा वह अत्यन्त दूरस्थ तथा अस्पष्ट द्रव्यों को भी जान सकता है। इसके द्वारा सीमित वस्तु का ज्ञान होता है। **मनःपर्याय ज्ञान** में मानव रोग द्वेष आदि मानसिक बाधाओं को विजित कर अन्य व्यक्तियों के वर्तमान, भूत, भविष्य तथा विचारों को जान सकता है। इसके द्वारा दूसरे के मन में प्रवेश किया जा सकता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष से आशय उस ज्ञान से है जिसके इन्द्रिय तथा मन निमित्त कारण हैं, अवग्रह, आवाय तथा धारणा के माध्यम से आत्मा जिसे ग्रहण करती है।[१५] षड्विद सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में **इन्द्रिय प्रत्यक्ष** प्रथम है। इन्द्र पद का अर्थ जैन दर्शन में जीव या आत्मा माना जाता है। अतः जैनाचार्य हेमचन्द्र का मानना है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु तथा श्रौत्र ये इन्द्रियाधिष्ठान हैं, इन्द्रियाँ नहीं। इन्द्रियाँ तो उन आकारों में स्थित अतीन्द्रिय वस्तुरूप हैं। इन्द्रियाँ द्रव्य तथा भाव भेद से दो प्रकार की हैं।[१६] पौद्गलिक अधिष्ठानों द्रव्येन्द्रियाँ कहा जाता है तथा भावेन्द्रियाँ वे हैं जो भौतिक या जड़ द्रव्य न होकर चेतनशक्तिविशेषरूप तथा अतीन्द्रिय हैं।[१७]

संपूर्ण प्रकार के अर्थ (विषयों) की प्राप्ति में बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियाँ असमर्थ हैं, अतः ऐसे सर्व विषयों को ग्रहण करने वाला मन होता है।[१८] द्रव्यमय तथा भावमय भेद से मन दो प्रकार का है। द्रव्यमन मन पौद्गलिक है जो एक विशेष प्रकार के सूक्ष्मतम मनोवर्णनात्मक जड़ द्रव्यों से उत्पन्न होता है और प्रतिक्षण शरीर की तरह परिवर्तन भी प्राप्त करता है। भावमय मन आत्मा है जो ज्ञानशक्ति तथा ज्ञानरूप होने से चेतनद्रव्यजन्य है।

जैन की प्रत्यक्ष प्रक्रिया में पहले इन्द्रिय संवेदन होता है। इसके पश्चात् अर्थ का ग्रहण ही **अवग्रह** है।[१९] यह मानसिक विकल्प नहीं है। अवग्रह में केवल विषय का ग्रहण होता है जबकि **ईहा** में विशेष आकांक्षा का ज्ञान होता है।[२०] ईहा के बाद निश्चयात्मक ज्ञान की स्थिति **आवाय** है।[२१] स्मृति का कारण संस्कार ही **धारणा** है।[२२]

परोक्ष प्रमाण -

आचार्य हेमचन्द्र ने परोक्ष का लक्षण प्रत्यक्ष के विपरीत किया है। अविशदः परोक्षम् (१. २.१) सूत्र के माध्यम से सर्वज्ञ द्वारा अकथित तथा आत्मा से इतर इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान को ही परोक्ष माना है।[२३] जैन मतानुसार केवल तथा मनःपर्याय ज्ञान दोषरहित है। अन्य परोक्ष तथा अवधि ज्ञान में दोष ही संभावना रहती है।

परोक्ष ज्ञान के पाँच भेद स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, ऊह, अनुमान तथा आगम हेमचन्द्र ने स्वीकार किये हैं।[२४] प्राचीन जैनाचार्यो ने मति एवं श्रुत भेद से दो प्रकार का परोक्ष स्वीकार किया था। इन्द्रिय तथा मन के द्वारा प्राप्त ज्ञान मति तथा सर्वज्ञ तीर्थंकरों का उपदेश सर्वश्रेष्ठ श्रुत ज्ञान कहलाता है। हेमचन्द्र ने आगम को श्रुत तथा शेष को मति ज्ञान में ही अन्तर्निष्ठ माना है।

स्मृति अनुभव पर आधारित वह ज्ञान है जो संस्कार रूप में विद्यमान वस्तु के आकार का बोध कराती है।[२५] प्रत्यभिज्ञा इन्द्रिय जन्य तथा स्मरण के अनन्तर उत्पन्न होने वाला एक संकलनात्मक विजातीय मानस ज्ञान है। यह संकलन सादृश्य भाव, उससे विलक्षणता तथा प्रतियोगी का होता है।[२६] यथा- 'यह वही घट है' का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। सर्वप्रथम कोई व्यक्ति घट को देखता है। तब पूर्व में देखे गये घट का स्मरण आने के बाद सादृश्य ज्ञान होता है। तदनन्तर पूर्व में देखे गये घट से पार्थक्य विलक्षणता के आधार पर दिखाई देता है। अन्त में उसका अभाव तथा प्रकृत घट का ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है।

प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणों से प्राप्त व अप्राप्त व्याप्तिज्ञान ही ऊह है।[२७] व्यापक तथा व्याप्य के बीच का धर्म व्याप्ति है। व्यापक (अग्नि) के धर्म (पर्वत) में अर्थात् पर्वतौ वन्हिमान कहने पर, जब धर्म में व्याप्य (धूम) भी होता है। अतः व्यापकवन्हिव्याप्यधूमवानयं धर्मीपर्वतः ही व्याप्ति कहलाती है।[२८] ऊह तथा ईहा में सूक्ष्म अंतर है। जहाँ ईहा में वस्तु क्या है? की विशेष आकांक्षा होती है वहीं ऊह में व्याप्ति संबन्ध का ज्ञान होता है।

साधन से साध्य का विशिष्ट ज्ञान अनुमान है। यह दो प्रकार का है- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान।[२९] जब मानव निजी ज्ञान के लिये अनुमान करता है, वह स्वार्थानुमान कहलता है। इस प्रक्रिया में साध्य जो स्वयं के द्वारा निश्चित किया गया है, अविनाभाव संबन्ध से ही जाना जा सकता है।[३०] क्रमभाव व क्रमभावनियम में तथा सहभाव व सहभावनियम में साध्य-साधन का संबन्ध अविनाभाव है।[३१] यथा- शिंशपात्व-वृक्षत्व (सहभाव व सहभावनियम) तथा धूम-धूमध्वज (क्रमभाव व क्रमभावनियम) ऊह से अविनाभाव का निश्चय होता है।[३२]

स्वयं निश्चित किये गये अविनाभाव के ज्ञान को दूसरे के लिये कहना ही परार्थानुसार कहलाता है। इसे वचन भी कहते हैं। इसके दो प्रकार उपपत्ति तथा अनुपपत्ति हैं।[३३] साध्य में साधन के होने पर प्रथम (अग्निमानयं पर्वतः तथैव धूमवत्वोपपत्तेः) तथा साध्याभाव होने पर द्वितीय (अग्निमानयं पर्वतः तथैव धूमवत्वानुपपत्तेर्वा) परार्थानुमान होता है। दोनों के तात्पर्य में भेद नहीं होने से, दोनों का प्रयोग नहीं होता।[३४]

किसी को अनुमान का ज्ञान करवाने के लिए परार्थानुमान में **पञ्चावयव वाक्यों** को स्वीकार किया जाता है। जो हैं- प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन।[३५] साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है। हेतु से आशय साधनत्व की अभिव्यंजक विभक्ति अन्त वाले साधनवचन से है। दृष्टान्त वचन को उदाहरण कहते हैं। धर्मी में साधन के उपसंहार को उपनय कहते हैं। साध्य का निष्कर्ष ही निगमन है।[३६] जैसे 'पर्वतो वन्हिमान्' प्रतिज्ञा वाक्य में 'धूमवत्त्वात्' हेतु के कारण 'यो यो धूमवान् स स वन्हिमान्' उदाहरण से 'तथा चायम्' का उपनय होते हुए अंत में 'तस्मात्तथा' का निगमन हो परार्थानुमान सिद्ध होता है।

अनुमान प्रमाण में सर्वाधिक दोष हेतु के कारण होते हैं। अतः जो वास्तव में हेतु न हो किन्तु हेतु जैसा प्रतीत हो, वह हेत्वाभास कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक तीन प्रकार का हेत्वाभास माना है।[३७] हेतु का प्रयोग साध्य को सिद्ध करने के लिये होता है। जिस हेतु का सत्त्व अर्थात् साध्य निश्चित न हो, जो हेतु अविद्यमान अथवा अन्यथा अनुपपन्न हो तथा साध्य से असिद्ध या संदेह होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है।[३८] यथा 'अनित्य शब्दाश्चाक्षुषत्वात्, घटवत्' । इस उदाहरण में शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह चक्षु से ग्रहण करने योग्य है (हेतु), घट के समान (उदाहरण) चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण किया जाना हेतु है किन्तु वह शब्द में नहीं है क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है। अतः यहाँ हेतु साध्य में निश्चित न होने तथा साध्य के असिद्ध होने पर असिद्ध हेत्त्वाभास है।

जब हेतु साध्य को सिद्ध न करके उसके विरोधी को ही सिद्ध कर दे, तो विरुद्ध हेत्त्वाभास होता है।[३९] 'नित्यः शब्दः कार्यत्वात्, आत्मावत्' इस उदाहरण में शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वह कार्य है (हेतु), आत्मा के समान (उदाहरण)। जैनदर्शन में कार्य अनित्य है, नित्य नहीं। अतः शब्द भी अनित्य है। इस प्रकार साध्य को सिद्ध न करके हेतु उसके विरोधी को ही सिद्ध करने के कारण रुद्ध हेत्वाभास है।

अविनाभाव के असिद्ध या संदेह होने पर अन्यथा उपपद्यमान अनैकान्तिक है।[४०] सरल शब्दों में अविनाभाव संबन्ध में कभी हेतु का संबन्ध साध्य से रहता है कभी साध्येतर वस्तु से। यथा 'सन्देहे यथा असर्वज्ञः कश्चिद् रागादिमान् वा वक्तृत्वात्'। संदेह मात्र से रागयुक्त तथा वक्ता होने के कारण महावीर को असर्वज्ञ नहीं माना जा सकता।

परोक्ष का पाँचवा भेद आगम है। हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा पाण्डुलिपि में आगम का वर्णन अप्राप्त है। इसे जैन दर्शन में शब्द प्रमाण के रूप में दर्शाया गया है। आगम को श्रुत ज्ञान के नाम से भी जाना जाता है। आप्त वचनों को सुने तथा प्रामाणिक आगम ग्रंथों को देखे बिना श्रुत ज्ञान नहीं हो सकता। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। श्रुत अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक भेद से दो प्रकार का है। मानव मात्र के लिखित तथा उच्चरित भाषा को अक्षरात्मक तथा द्वीन्द्रिय, मूक तथा बाल की भाषा अनक्षरात्मक होती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जब भारत में बौद्ध न्याय तथा नैयायिक न्याय अपना स्थान बना चुके थे, ऐसे समय में आचार्य हेमचन्द्र ने जैन प्रमाणमीमांसा को सुव्यवस्थित ढंग से व्याख्यायित कर इसे प्रतिस्थापित किया। उनके पूर्ववर्ती जैनाचार्य यथा अकलंक, कुन्दकुन्द, हरिभ्रद, सिद्धसेन, समन्तभद्र इत्यादि के प्रमाणविषयक चिंतन को भी, उन्होंने अपने ग्रंथ तथा प्रमाण व्याख्या में यथास्थान महत्त्व दिया है। जैन प्रमाण परम्परा में आत्मविषयक ज्ञान का महत्त्व अधिक है जो इसे अन्य भारतीय दर्शनों से पृथक् करता है। इसकी शब्दावली भी थोड़ी अलग है जैसे यक्ष का आशय आत्मा से लेना इत्यादि। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र का प्रमाणविषयक चिंतन सारयुक्त तथा स्पष्ट है।

संदर्भ :

१. माता चाहिणी तथा पिता चच्च की संतान चंगदेव २१ वर्ष की अवस्था में सूरि का पद को प्राप्त करके, वे हेमचन्द्र सूरि कहलाये। इन्होंने द्वयाश्रय काव्य, सिद्धहेम की प्रशस्ति,

त्रिशष्टिश्रलांपुरुषचरित, शब्दानुशासन, अनेकार्थसंग्रह, अभिधानचिंतामणि, देशीनाममाला, छंदोनुशासाना्, वीतरागस्तोत्र और अप्रमाणमीमांसा इत्यादि ग्रंथ लिखे।

३. शास्त्रैकदेशस्य प्रक्रिया प्रकरणम्। राजशेखर, काव्यमीमांसा, प्रकाश-हिन्दी व्याख्याकार, डॉ. गंगासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, २०००, पृ.१०

४. हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, पं. सुखलाल कृत भाषाटिप्पणी सहित, सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९९७, पृष्ठ १

५. प्रमाणमीमांसा, १.१.२

६. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। (न्यायासवतार-सिद्धसेन), प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षत्वात्। (अष्टशतीअकलंकदेव), स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् (परीक्षामुख-माणिक्यनंदी), प्रमाणं स्वार्थ निर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्। (सन्मति टीका अभयदेव)

७. प्र. मी., १.१.३ ८. प्र. मी., १.१.४ ९. प्र. मी., १.१.८

१०. प्र. मी., १.१.९-१०

११. हेमचन्द्र, प्रमाणमीमांसा, पं.सुखलाल कृत सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद, १९९७, पृष्ठ १

१२. प्र. मी., १.१.१४

१३. सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्रैलोक्यपूजितः। यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन्परमेश्वरः।। माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, डॉ. उमा शंकर शर्मा ऋषि (हि. अनु.) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००६, पृ. १०३

१४. प्र. मी., १.१.१५ १५. प्र. मी., १.१.२०

१६. प्र. मी., १.१.२१ १७. भावेन्द्रियं लब्ध्युपयोगौ। प्र. मी., १.१.२२-२३

१८. प्र. मी., १.१.२४ १९. प्र. मी., १.१.२६ २०. प्र. मी., १.१.२७

२१. प्र. मी., १.१.२८ २२. प्र. मी., १.१.२९

२३. अक्षेभ्यः परतो वर्तत इति परेणेन्द्रियादिना चोक्ष्यत इति परोक्षं वक्ष्यमाणलक्षमेव। यद्विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकं न भवति न तत् प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षमिति व्यतिरेकी।

२४. प्र. मी., १.२.२ २५. प्र. मी., १.२.३ २६. प्र. मी., १.२.४

२७. प्र. मी., १.२.५ २८. प्र. मी., १.२.६ २९. प्र. मी., १.२.७-'

३०. प्र. मी., १.२.९ ३१. प्र. मी., १.२.१० ३२. प्र. मी., १.२.११

३३. प्र. मी., २.१-४ ३४. प्र. मी., २.१.५'६ ३५. प्र. मी., २.१.१०

३६. प्र. मी., २.१.११-१५ ३७. प्र. मी., २.१.१६ ३८. प्र. मी., २.१.१७

३९. प्र. मी., २.१.२० ४०. प्र. मी., २.१.२१

- शोधार्थी

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जे. एन. यू., नई दिल्ली-११००६७

Jainism, Quantum Physics and Evolving Spiritualism

- Dr. M. B. Modi

1. Introduction

I am a senior retired DRDO scientist presently engaged in research on Jain Agams**.** Our research is unique and different from others. We are searching science in Jain Agams. We believe Mahavir's spirituality is not about religion, God or rituals but it is about Truth and oneness of the universe. He preferred education to devotion and knowledge to faith. Jainism is more relevant to the modern times because Jainism is not a religion or philosophy in the conventional sense. The goal in life of a Jain monk is not to search heavenly abode or proximity to God but to achieve Godliness through knowledge or ***Kewal Gyan***.

Jain ***Shramans*** followed radically different path, the path of education and knowledge.They believed that correct understanding of the universe, self and body is very essential for liberation. ***Samyag Drasti***, ***Samyag Gyan* and *Samyag Achar***[1]or '**Right Vision, Right Knowledge** and **Right Conduct**' can only lead to eternal peace and bliss. A person with right vision and right knowledge can differentiate between Absolute Truth (***Sat)***, Relative Truth or Reality (***Asat***), and falsehood or ***Mithyatwa,*** emphasized Mahavira. Absolute truth is eternal while the relative truth varies with frame of reference and therefore truth may have different meaning for different people. ***Kewal Gyan*** or knowledge of absolute and relative truth is the state of Nirvana or liberation.

Unlike Buddha Bhagwan Mahavir made scientific statement that Truth is 'Absolute' as well as Relative. Absolute Truth is known only to the universal observer. The human beings know truthonly relative to Space, Time, Mass and Phase. Hence according to the frame of reference, Truth may have different meaning for different people. About 2500 years later, Einstein came out with similar statement which made him the greatest scientist of the world but Mahavir remained in oblivion.

Like modern scientists Mahavir also believed that the Atom is the ultimate particle of matter and beyond matter is pure consciousness or pure energy. Max Plank repeated Mahavir's sentiments- "I regard consciousness as

fundamental and matter as derivative from consciousness. Everything that we see and talk about as existing postulates existence of consciousness." Several cosmologists now believe that Consciousness in the form of'Awareness' is also fundamental to the universe.

We have been able to establish conclusively that the Jains had deep understanding of the universe, the conservation laws, quantum and continuous nature of matter and anthropomorphic consciousness. Our research findings reveal that important modern discoveries like Space-Time Continuum, Theory of Relativity, Dual Nature of Matter, Uncertainty Principle, Bohr's Quantum Atom, Unified Field Theory, Atomic Quantum Jumps, Radiation Emission and Selection Rules etc. find their origin in Mahavir's Teachings.

Mahavir also developed the first 'Theory of Everything' that describes every particle and force which constitute this universe and provided answer to the question, why I am here?He proposed existence of atomic size space element ***AkashPradesh*** which is equivalent to what the scientists today call as ***Plank's Length*** over which all the forces weak or strong are unified to produce the God Particle or Higgs Boson. According to Jain belief the atom is a particle yet it is equivalent to one ***Akash Pradesh.*** Thus atom exhibits dual nature- particle as well as space like features. The importance of dual nature of matter can be appreciated from the fact that De Broglie, a French scientist was awarded Nobel Prize for rediscovery of this principle in 1935. Spiritually it means ***Akas Pradesh*** is the basic space element that constitutes the universe.

Jains believe in ***Dwaitvad*** as well as ***Adwiatvad***. Eternal existence of two element- Atom and Consciousness constitutes Jain ***Dwiatwad*** whereas the ***Astikaya*** nature of the universe or the ***Pradesh*** form of atoms and consciousness constitute Jain ***Adwiatwad.***The universe is a body of ***Asankhyat Pradesh*** and the cosmic space is body of ***Anant pradesh***.

Regarding consciousness, Mahavir says consciousness has been present from the very beginning of the universe but its emergence needed the eventual development to an appropriate minimum level found in ***EkendriyaJeeva***. The purpose of the life is to evolve from this first raw level to enlightened state. This is a very slow process lasting over millions of years. As a result of evolution most simple ***EkendriyaNigodh***(single sense micro organism) is likely to be converted to most complex ***PanchendriyaJeeva***(organism with five senses). The evolution is carried over long 'Birth-Death' cyclic path rather than a straight path. There are fourteen levels of development and at the last level the ***jeeva*** becomes Godlike. Most great thinkers and masters who have divine matrices reach levels of 9 to 10. Evolution is also considered as one of the greatest discoveries of modern time for which

credit is given to Darwin and proponent of Evolutionary Spiritualism. But mostly people are not aware of Jain contributions.

Mahavir and other Jain Tirthankars never claimed that they were founders of a religion. They were seekers of truth and eternal peace and bliss. They developed scientific principles to explain 'Creation' of the universe and did not usephilosophical arguments and mythical God as used by other religious preachers. Mahavir discovered basic natural laws that govern the creation. He was Kewalgyani and a Tirthankar for the Jains but for others he is like a multidisciplinary scientist who laid the foundation of Space Science, Atomic physics, Chemical Science, Life Science and other related subjects.

Details of our research work arebeing published in the book- "Jain Agam Me Vigyan' which is in press. However a brief account of the same is being presented in this article. Emphasis is being placed on ***Akasha*** as space-time quantum field and achievement of godliness through evolving spiritualism.

2. Mahavir's Concept of 'Knowledge Based Religion

Religion is an empirical science which is not concerned with knowing the Truth of the Universe or the Nature but only focuses on finding solutions to human problems and sufferings through faith, devotion and rituals. Religious leaders all over the world were enlightened people but they never forced enlightenment on their followers. They developed simple concepts and rituals like meditation, complete surrender to unknown forces, devotion, prayers, animal sacrifices etc. which were easily understood and accepted without asking any questions by their followers.

Bhagwan Mahavira did not preach blind faith as religion. At the time when contemporary religions were advocating mitigation of human sufferings through rituals, faith and unconditional surrender to God, to prophet, messiah or anybody whosoever claimed to be the representative of God, He was researching and discovering the science of the universe and purpose of human birth. He believed that we encounter sufferings by false apprehension of reality and happiness. True knowledge about the universe and selfhelps to reduce sufferings and improves conditions of living. If one has coherent understanding of the universe, natural laws and processes governing physical reality then one need not look for reward or punishment at the hands of external authority like God. Any living being can make its own fate without worrying about pre-destiny.

Centuries ago, Bhagwan Mahavir made the first scientific statement about Truth which is of utmost importance. He said the universe is neither created by God nor it is an illusion. The simple fact thatforself –awareness, there ought to be an external object to be aware of, God cannot be called the 'designer and creator'. The universe is eternal reality and therefore it

must contain eternal components. First of alllike the present day scientist, Mahavir classified all the materials, objects and substances found in the universe in two groups namely Living and Nonliving. All living things are conscious of their existence while all nonliving things lack the consciousness. Therefore consciousness ought to be fundamental to the universe. He referred nonliving objects as ***Pudgala***andsaid they can be divided into smallest particles' He called the last indivisible ***Pudgal***particle as ***Parmanu*** having the same properties as atom. Thus Mahavir said the universe is not the creation of God but it is a creation of atoms and consciousness or ***atman*.** Two or more atoms unite to form ***Skandh*** (Molecule) and ***Skandhs*** unite to form all types of Physical forms. The living objects are created by mutual co-operation of atoms and consciousness.

Thus Bhagwan Mahavir discoversd the science of creation based on the union of atoms and consciousness. These two eternal components of the universe combine to form all types of living and nonliving objects according to the conservation law-'***Upneiva, Vigneiva, Dhruveiva***[2]'**,** which the scientists call as the law of conservation of mass and energy**.** In the process of creation and destruction, neither the atom nor the soul is created or destroyed. Eternal existence of Atoms and Consciousness is the universal truth or Absolute Truth ***(Sat)*** known only to the universal observer free of motion. Human beings know the truth only with respect to ***Draya*** (matter), ***Kshetra*** (Space), ***Kal*** (Time) and ***Bhav***[3](mode or state). This is Relative Truth ***(Asat)*** what Buddha called as Reality. Einstein, the greatest scientist of the world simply repeated what Mahavir said. He formulated a set of equations to prove mathematicallyMahavir'sconcepts of Space, Time and Truth.

What did Mahavir preach- Religion, Philosophy or Science? It is really a very difficult question to answer because ***Mahavir*** gavediscourse on religion, philosophy, logics and basics of space science, atomic science, life science etc. People with religious bent of mind may call Jainism as Spiritual science but our in depth study of Jain Agams clearly establishes that Jainismis in fact 'Science of Creation' and 'Science of Spiritual Evolution'.

Mahavir was not discovering a new religion but merely stating that the purpose of the human birth is to evolve and cultivate the soul to the level of fourteenth ***Gunsthana***', Evolution is a very slow process and cannot be completed in one or two births but over a cycle of deaths and births. Death means the release of the immortal soul from the confines of the mortal body and rejuvenation by acquiring new body. But it is not liberation. The cycle of birth, death and rebirth is an unending process until the soul evolves to fourteenth Gunsthana**.**

3. Jain Agams as Ancient Science Books

Jain Agams are religious books but their contents look very differently from the conventional philosophy and mythology books. Any reader having some knowledge about science will immediately notice that majority of the subjects dealt in the Agams are related to the universe, life science, physical and chemical science, psychology, genomics etc. Some learned peopledescribe Jain science as Meta Physics[4] which according to us is a complete misnomer. Because of old and difficult script, misunderstanding of Agams' science is not surprising. But Mahavir, by any definition cannot be called a Meta physicist because Metaphysics is a science of mysticism and Jainism is science of 'Creation' and Spiritual Evolution' which are akin to modern concepts. Jain Agams narrate vividly Mahavir's scientific contributions. Mahavir was ***Kewal Gyani*** and could have not spoken ***Mithayatwa.***Whatever he spoke was from spiritual point of view and therefore any deviations from modern science simply illustratehis indifferent attitude towards the physical world.

Mahavir who rejected the idea of 'Creation and Creator God', had to develop various scientific principles to explain all types of creations and natural phenomena including life on the earth. For ***Kewalgyani*** Mahavir, the physical forms of objects were ***Asat*** and only the eternal flow of consciousness and atoms constituted the universe which is ***sat***. ***Servagya*****Mahavir**said that atoms and consciousness and not God created the universe observing the conservation law-'***Upneiva, Vigneiva, Dhruveiva'.*** It is said thatafter learning this conservation law and knowing the Relative and Absolute Truth, ***Ganadhara***, the disciples of Mahavir wrote ***Fourteen Purvas*** containing ***Mahavir's*** teaching which are now extinct. But Mahavir.s preaching is partly preserved in the form of Agams.

Jain Agams describe in details how two or more atoms combine to produce a molecule and how molecules unite to form infinite varieties of living and nonliving objects which constitute the universe. Rules governing formation of ***Visrasa Parinat Skand***(Inorganic compounds) by atoms and formation of ***Prayog ParinatSkandh*** (Organic Molecules) by atoms and catalytic action of ***Atman*** are clearly mentioned in the Agams. It may also be noted that according to Jain concept only those molecules which form the body and body organs are organic compounds. All other are ***Visrasa Parinat Pudgal*** or inorganic compounds. Nails, hair, teeth etc. are placed in a special category called ***Misra Parint Skandha***because they aredetachable from the body.

Desire, Greed and Ego are the basic causes of unhappiness. Jains call them as ***Karma*** which has quantum or atomic nature and abilitytoform subtle body or ***Karman Sharira.*** Consciousness should get rid of this subtle

body in order to get freedom from birth and death. Jain Agams describe how this subtle body is acquired and how it acts as a blue print of birth and body structure. Jain Agams also narrates in great details natural way of conception through sexual union of male and female, artificial methods of conceptions, formation of zygote, weakly development of embryo and finally different ways of deliveries. Does any religion book describe the human birth in minute details like this?

How male sperms mix with female eggs resulting in fertilization? how does this grow into a baby? How do the fetes take ***Ahar*** (food) in mother's womb? Who tells the embryo to grow into a human baby or in a plant or in an animal? Who decides the number of arms, legs, eyes and other body organs and how? Where are the seeds of personality? All these questions are meticulously answered in the Agams as functions of subtle ***Karman and TejasSharira***. 'The ***Karman Sharira*** is in fact a diary of previous birth and a guide for subsequent births.' say the Agams. Modern scientists call this as Genomes which throw light on the history of the evolution of a single cell into complex organism.

Mahavir. through the process of meditation and 'Thought Experiment' developed various scientific principles to govern the creation of life and ***pudgal dravya*** on earth. He also said that during ***Maha Pralaya*** or on Dooms Day, the seeds of the universe will continue to exist as consciousness and ***parmanu.*** The eternity of the universe is further ensured by the nonzero velocity of Atom. Today scientists repeat his statement by saying that atomic motion cannot be made zero and therefore the universe cannot be annihilated completely. Agams contains several scientific statements confirming thereby that Mahavir was ***sarvgya or omniscient.*** Jain Agams in particular ***Bhagavati Sutra, Uttradhyayan Sutra, Tatwart Sutra*** and ***Dravyanuyog*** have scientific contents.

4. Jain Concepts of Truth & Reality verses Einstein's Relativity

Centuries ago, Bhagwan Mahavir declared that the universe is not an illusion but an eternal reality created by mutual co-operation of atoms and consciousness according to the conservation law-'***Upneiva, Vigneiva, Dhruveiva'***.Because of the ever continuing process of creation and destruction, the universe appears as an illusion. The eternal existence of the universe is Absolute Truth while its changing face is Relative Truth.The body is formed by the atoms and the consciousness endows it with life. Since both atoms and consciousness are conserved, it is said that neither the birth is the beginning nor is death the end of life. Birth and death are just biological events.The soul has no form and physical dimensions and therefore the soul is beyond the confines of time.

Religion and philosophers hardly differentiate between Truth and Reality. But scientists draw a fine line of separation between Truth and Reality, so did Mahavir historically known as founder of Jain religion. Mahavir coined three terms-***Sat, Asat*** and ***Mithaytwa*** respectively corresponding to three scientific terms-Absolute Truth, Relative Truth and Falsehood. ***Sat*** (Absolute Truth) is eternal but ***Asat*** (Reality) is neither opposite of ***Sat*** nor is ***Mithyatwa***. Reality is ***Asat*** which is not eternal but varies according to system of reference, vision, individual opinion, sensing organs, place and time of observations etc. If it is day time in India it is night in USA at the same time. A woman may appear beautiful to our eyes but for those with eyes sensitive to X rays, the beautiful woman looks a fearful skeleton of bones. The sky is not blue though it appears blue.Reality is an illusion of this type.

If Reality is represented by a single letter **R** then according to Bhagwan Mahavir**, R is a function of *Dravya* (Mass), *Ksetra* (Space), *Kaal* (Time) and *Bhav* (Phase).** Scientists reduce the four variables to two variables – Space and Time, the other two variables being derivatives of space and time, and express the Realityby **R(x, y, z, t)** where **(x, y, z)** represent the three co-ordinates of space and (**t**) isthe time co-ordinate. The variables x, y, z, and t are constants in case of consciousness and therefore the soul is ***Sat*** or Absolute Truth. The body is an illusion which on death may disintegrate in to atoms. Therefore the body is a function **R(x, y, z, t)** and a reality or ***Asat***. Identifying self with body or name is ***Mithyatwa.*** Science agrees with Jain concepts of Truth and Reality. But Buddha disagreed and said there is nothing absolute in the universe. ‘Nothing can exist without cause. Everything in the universe is relative and nothing is eternal’ said Buddha

Einstein.in 1905 proposed the “Theory of Relativity’ which is simple formulation of Mahavir’s concept of absolute and relative truth in terms of four dimensional space or a mathematical function **R(x, y , z ,t),** the geometricalshape of which is an open ended plane. “Absolute truth is known only to the universal observer (***sarvgya***). We know only relative truth. All laws of physics are relative to inertial frame of reference” said Einstein confirming what Mahavir said centuries ago. Einstein also presented The General Theory of Relativity’ considering the cosmic space as infinite gravitational field which gets curved due to presence of other ***dravya.*** The curvature of the space opens the possibility of traveling into the past. It is obvious that Einstein was merely repeating Jain concept of ***Astikaya Akash*** which represents an eternal Space-Time Quantum Field. In this field a ***Kewalgyani***can see ***drayva***and its past, present and future ***Paryays*** (All states of existence). Einstein called this as ‘walk in the past and future’.

According to Jain Agams liberated souls reside in ***Siddhasheela,*** a place outside the inertial frame of reference which is free of motion and

time. The liberated souls therefore know the Absolute Truth. Human habitats are not stationary and are also constrained by time.Therefore humans cannot sense absolute truth and so did Buddha who declared that everything in the universe is impermanent and necessarily relative.

5. Jain Concepts of Being, Non-being Permanence and Impermanence

The notion of 'being' is opposite of the notion 'non-being. This is the concept of Buddha and others about reality. They think that Being and nonbeing cannot have existence at the same time. The belief that the 'self is there before I was born and will continue after I die' is a belief in permanence, which is not acceptable to Buddha. 'Everything is impermanent and necessarily relative, conditional, finite, dependent and subject to birth, death and decay' says Lord Buddha. Every phenomenon hangs between reality and nothingness. A butter fly is borne out of the egg. The egg turns into caterpillar, the caterpillar grows in size, sheds its last skin and grows a tough, flexible shell and from this shell emerges a fully grown butterfly. In few days the butterfly may also die. Buddha says all the forms of egg, caterpillar and butterfly are impermanent and each one dies giving birth to its successor. There is no element of permanency involved at any stage.

On the contrary Mahavir and the modern science say death of butterfly is not the end of the story. On death, the butterfly decays into atoms and realign again as molecules of manure used by plants as food. A young butterfly feeds on the plants, takes the nectar from the flowers, turns it into protein and lays the eggs and the life cycle of the butterfly continues. The different physical forms of egg, caterpillar, and butterfly are impermanent but there ought to be something permanent which is acquiring these forms. Mahavir calls this permanent element ***Atman*** and science calls it energy quanta which can also take solid forms.Jains believe that at the time of death, the old body being incapable of sustaining the life process any longer perishes along with senses and intellect leaving soul and ***Karman Sharira*** intact to space. ***Karman Sharira*** stores all karmas and memoire of previous birth like a computer hard disc. This ***soul-karman Sharira*** combination then enters a new embryonic body, the matrix of which is determined by the ***Karman Sharira***.

Bhagwan Mahavir says 'being' and 'nonbeing' both exist simultaneously and appear as facts or reality. Being and nonbeing are two sides of the same coin. They are not opposite word but they are relative words". Thus ***Sat*** is not opposite of ***Asat***, ***Lok*** is notopposite of ***Alok, Jeev*** is not opposite of ***Ajeev, Dharm*** is not opposite of ***Adharm,*** They all have independent existence. They all are ***dravyas*** with ***Guna*** and ***Paryay.*** Depending on the level of our knowledge, perception and vision, a thing which is illusionary and non-being appear existing and 'being'.

Reality is not self-explanatory and has to be analyzed by theories. Mahavir says the analyst should first of all develop ***Anekant*** Vision or have an open mind. Next the reality should be analyzed with reference to ***dravya, khetra, kaal*** and ***Bhav***. If more than one solution is possible, then use ***Saptabhangi*** which is a science of P**ermutation and Combination** to arrive at absolute and relative truth**.** Scientists approve this Jain method of analysis of truth. Vow! This is certainly a big tribute to Mahavir from the science community. Jains should feel proud that Mahavir was giving sermons on present day science at the time when most of the humans were still living in caves.

6. Jain Concepts of Sat, Akas (Cosmic Space) and Universe

In Jainism anything that has existence is called ***dravya*** (matter) or **sat**[5]**.** Very much like the present day scientist, Jains identify a ***dravya*** by its characteristic ***Guna or*** properties. 'A ***dravya*** cannot exist without ***Guna*** and ***Guna*** cannot exist without ***dravya***[6]**.** This type of statement can only be attributed to a scientist and none else. The scientist Mahavir declared - '***Upneiva, Vigneiva, Dhruveiva'***isthe principle property of all ***dravya***. 'Another most important property of the ***dravya***is their ***Astikaya*** nature' said Mahavir. ***Kaal*** (Time) is also a ***dravya*** but it is not ***Astikaya***.

There are six eternal ***dravya*** namely ***Akash*** (Cosmic Space), ***Dharm*** (State of Motion), ***Adharm*** (State Of Rest)***, Jeev*** (Consciuosness)***, Pudgala*** (Mass and Energy) and ***Kaal*** (Time) which together constitute the universe. Out of these six ***dravya*** only ***Pudgala*** has shape and physical form. All other ***dravya*** are colourless and formless. Each of these ***dravya*** has common properties and characteristic properties by which they can be identified.

Akas (Cosmic Space)is a ***dravya*** which is ***sat*** and eternal. Giving ***Avagahan***[7] (shelter} to other ***dravya*** is special property of ***Akas***. It is boundless, infinite and ***Astikaya***. It means it is infinite single body or field. A miniscule area of ***Akas*** is visible and contains above five ***eternal drava.*** This visible ***Akas*** is called **Visible*Lok***[8] or '***Lokkadse Loyye'*.** It is also called***Panchastikaya*** i.e. a single body (field) formed by five eternal ***Astikay dravyas*** namely ***Akas, Dharm, Adharm, Jeev*** and ***Pudgal.*** Time is not universal. Liberated souls and ***Parmanu*** live in ***Mokha Sthala*** where time has no existence.

Despite presence of five **dravya,** infinite ***Akas*** is empty and contains no other ***dravya***. This empty ***Akas*** is called ***Alok***[9].The concept of ***Alok*** is unique and fundamental concept of Jainism. No other religion or philosophy could ever conceive the existence of empty space except modern science. 'Existence of ***Alok***.is essential for the existence of ***Lok'***, saidBhagwan Mahavir, It is interesting to note that ***Lok*** and ***Alok*** are neither opposite nor

two different parts of ***Akas***but represent respectively visible and invisible ***Akas***. Co-existence of ***lok*** and ***Alok is*** absolute truth which outwardly appears to violet laws of physics according to which empty space or vacuum cannot coexist with matter because matter gets sucked in by the vacuum. Mahavir solved this puzzle by saying ***Alok*** is not empty or vacuum but contains ***Akas Dravya.*** Modern Cosmologists boast that existence of empty space is one of the most exciting discoveries of modern times.

Jain Agams[10] also describe that ***Lok*** cannot become ***Alok*** and ***Alok*** cannot become ***lok. F***rom the scientific point of view this is one of the most significant statements. This means ***lok*** with finite dimensions cannot become infinite ***Alok*** i.e. universe cannot expand to touch the boundaries of ***Akas*** or cosmic space. In modern science this is called Theorem of Expanding Universe according to which the universe is expanding continuously ever since it was born. But it cannot fill the cosmic space.

The post Agamic Jain Acharyas[11,12] however interprets the above Agam-statement in a different way. They believe that Akas is divided into ***lok*** and ***alok*** by ***Dharm dravya.*** There is no***Dharm dravya*** in ***Alok*** and therefore l***ok*** cannot enter ***Alok***. This view does not appear to be logical because ***Akas*** is infinite and it is not possible to divide an infinite ***arupi dravya*** by another ***arupi dravya*** like ***Dharm dravya.*** It is also not possible to know the exact position of ***Lok*** in the infinite ***Akas***. Since there is no boundary between ***Lok*** and ***Alok,*** it is meaningless to talk of ***lok*** being forbidden from entering into ***Alok.***

In our view the Agamic statement that '***Lok***cannot become ***Aloka***' and vice versa expresses infinite and finite dimensions of the two and also reflects upon the modern concept of Expanding Universe.

Dharm and ***Adharm***are othertwo important ***dravya***which find no mention in any religious and philosophical work. Mahavir knew that 'creation' would have not been possible without the existence of these two vital dravya. Jain Agams[13]describes ***Dharm*** as dynamic property and ***Adharm*** as static property of matter. These two ***dravya***bring atoms and Atman close so that creation can take place But in post Agam-period, perception about ***Dharm*** and ***Adharmdravya*** changed respectively to medium of propagation and medium of rest[14, 15]**.** Accordingly ***Dharmdravya***helps in motion of living and nonliving ***drvya***and ***Adharmdravya***helps in bringing the moving objects to rest. Science also does not support this perception. It supports Agams views which states that ***Dharm dravya***.is natural state of motion and ***Adharm dravya***.is natural state of rest and not medium of motion or medium of rest as perceived by some Jain Acharyas.

The Jain concept of ***kaal*** or time is similar to modern scientific concept. Time[16, 17] is indicative of change and it is not ***Astikaya*** like all other ***dravya.***

This simply means time does not exist as independent ***dravya*** everywhere in the universe***.Kaal*** has independent existence only in ***Adhaii Dweep***[18] i.e.in human habitats which indicates that time is creation of human mind. Time is not absolute and only indicates change, what the Agams call as ***Vartana***. It is obvious that according to Mahavir time is created by human mind and consciousness is in the timeless realm. According to modern science time is a concept dependent upon the physical world.

The ***Astikay*** nature of ***dravya*** isalso an important concept of quantum physics in which a particle is considered as a quanta arising from field continuum. Scientifically speaking the ***Astikaya*** nature of the ***drayvas*** represents Quantum Fields or Potential Fields. The five quantum fields produce five perceptible quanta. The quantum particle of ***Akashastikaya*** is ***Akas Predesha***, (Gravity quanta), that of ***Dharmastikaya*** is ***dharm dravya*** (motion or kinetic energy quanta). ***Adharmastikaya*** gives rise to ***adharm dravya*** (potential energy quanta), ***Jeevastikaya*** give rise to ***Jeev*** (electromagnetic energy quanta which has information acquisition and transmission capability similar to ***Upayog*** **Guna)** and ***Pudgalastikaya*** generates ***parmanu*** or atom which is a mass quanta.

Modern cosmology owns its existence to Einstein who proposed the theory of cosmic space in 1905 which has many similarities with Mahavir's ***Akas dravya.*** Like Mahavir, Einstein also said cosmic space is infinite gravitation field which contains small amount of matter and energy. What Jains call as ***Lok***, Einstein called it visible space or universe. What Mahavir called as ***Alok***, Einstein called infinite empty space. Since physics does not allow existence of empty space, Einstein suggested that the so called empty space contained dark matter and dark Energy. Mahavir on the other hand suggested that ***Alok*** is not empty but contains ***Akas Dravya*** which is closure to reality than dark energy and dark matter. Now physicists say ***Alok*** is the most dynamic seat of nature and is the source of creation of the universe where vibrating quantum fields produce fundamental particles, yet it remains unchanged on an average. Scientists are not yet clear about dark matter and dark energy and therefore they echo the words of Mahavir calling Cosmic Space as infinite gravitation field having quantum nature as well.

Lord Mahavir is perhaps world's first scientist who said ***Alokakas,***the empty cosmic space is not empty or vacuum but contains gravitational field or a subtle material substance out of which perceivable matter is formed. ***Akas*** is made of infinite numbers of ***Pradesh***[19], field element of the size of an atom. However the ***pradeshas*** cannot be separated from the parent body. In the ***Astikaya*** state ***Kaal*** (time) and ***Ksetra*** (Space) do not have useful meaning rather space and time merge to form Space-Time as observed by Einstein.Jain Agams say that every ***Akas Pradesha*** is associated with a ***kaalanu.***

Mahavir's discovery of ***Akashastikaya*** is unknown to the world but Einstein's discovery of Space-Time captured all attention making him the world's greatest scientist ever borne. Einstein throughout his life time never agreed on quantum nature of the space. He had heated arguments with other Nobel Laureates like Neil Bohr whom he said "God does not play dice" meaning probability theorem cannot be applied to cosmic space. **Unlike Einstein, Mahavir said *Akas* is *Astikaya* as well as an ensemble of *Pradesha*.Thus Mahavir announced that space has dual nature-continuum and quantum**. Einstein did not accept quantum nature of space. Twenty First century proved him wrong. Now physicists know that the empty space is not empty it is a quantum energy field fluctuating at all points in space in an unpredictable way, yet on an average they have remained the same everywhere, at all time. The vacuum fluctuations give rise to virtual particles that continuously arise out of nowhere only to disappear into nowhere again.

BhagvanMahavir says the primary elements of reality are atoms and consciousness but their underlying *Astikaya (Field) nature* isthe universal permanence, He said ***Lok*** is ***Astikaya*** and so is ***Alok*.** Universe is a closed system in which the totalnumbers of atoms and soul are conserved.The universe is continuously evolving and in the process takes different forms –galaxies, stars, planets, animals, plants and humans. All form arises from the universe and dissolve into it. Thus quantum physics is completely in agreemen*t* with Jain Concepts ofbeing and nonbeing by accepting existence of vacuum quantum fields.

The Jain quantum concept is also established by the fact that all the six ***dravyas*** are integral multiple of a ***Pradesh***[20]or an atom. The smallest unit of all ***Astikaya*** is ***Pradesh***. Fraction of ***Pradesh*** does not exist. If a ***draya*** is divisible then its smallest unit is ***parmanu.*** Fraction of ***parmanu*** does not exist. The unit of Time is ***samaya*** which cannot be fractioned. This clearly indicates that Jain science is digital. ***Pradesh, parmanu*** and ***samay*** are all integers and cannot take fractional value.All the forms of ***Jeev*** and ***Ajeev*** are integral multiple of these three basic units. This is in fact beginning if computer science.

7. Jainism and 'Theory of Everything

Mahavira discovered millennia ago that ***Atman*** (pure consciousness) and ***Parmanu*** (atom), the two components of nature, have to be understood in terms of Cosmic Field Elements what he called atomic size ***Pradesha*** similar to what the scientist call as **Plank Length.**He said ***Parmanu*** is equivalent to one *A**kas Pradesh***, ***Jeev*** is equivalent to ***Sankhyat Pradesh*** and ***Akas*** which contains ***'Something'*** as well as ***'Nothing'*** is equivalent to ***Asankhyat Pradesh.***Both '***Something'***and ***'Nothing'***have characteristic

properties and together constitute the nature and form natural laws for self-governess.

'*Nothing'*according to Jain Agams is ***Alokakash*** which is really not empty but contains a ***Dravya*** (matter) having the property of Gravitation and ***Astikaya*** (oneness**).*Alokakash*** is an infinite gravitational field having no beginning and no end, yet it has Space-Time characteristics. '***Something'*** is limited in dimensions and is visible to naked eyes. He called it as ***lok*** or universe in which the total quantity of its contents remains constant.The universe is constantly evolving and in the process new forms are produced and absorbed in the universe. All these forms are temporary in nature. Only the material atom and formless consciousness are eternal.

How can ***'nothing'*** create ***'something***?' If you start peeling an onion to reach its core, you end up with ***'nothing'***. How is ***'nothing'*** sustaining the onion? The onion peels and the empty space together make the onion because the empty space has the binding force. Exactly the same way ***Akas*** is vacuum still it sustains all ***dravyastikaya.*** This is the science of universe which Mahavir narrated to his disciples hundreds of years ago. Physicist such as Sheldon, Glashow, Weinsburg and Abdus Salam won Nobel Prize in 1960 for theoretical formulation of how universe emerged from ***nothing*** about 13.7 billions years ago.

Physicists are now echoing the Jain concept of ***Panchastikaya*** which is union of ***Akashastikaya, Dharmastikaya, Adharmstikaya, Jeevastikaya and Pdgalastikaya*** by saying that the empty space is never really empty but filled with fluctuating quantum fields. According to Heisenberg's uncertainty principle, the quantum fields are always active and creating virtual particles in an unpredictable manner. Therefore in the quantum field theory, the primary elements of reality are not individual particles but the underlying quantum fields.

The Nobel Prize in Physics in the year 2004 was awarded to Frank Wilczek for 'Theory of Everything' according to which everything physical in the universe comes from a single source –The Cosmic Space.**Mahavir said nature's fundamental unit is *Predesha* and Wilczek said Nature's fundamental unit is Plank's Length**. Over this length, the weakest gravity force equals the other strong forces like Nuclear and Electromagnetic Forces. Thus at the scale of Plank Length, all quantum fields with their separate identities permeate every point in space. What Wilczeck is telling in the twenty first century, Mahavir told the same to **GuatamGanadhar i**n 560 B.C. Jain Agams refers universe as ***panchastikay***. But in post agamic period, the word ***lok*** containing six eternal ***dravya*** also came in use.

Einstein saw the universe as a smooth curved Space-Time surface in four dimensions. Quantum physicists see the space as quantum field. Both

these theories are proven success. But together they are out of joint. Wilczek and others found that both the quantum and continuum nature of space is in unison over Plank Lenth. They are simply confirming Mahavir's concepts of ***astikay*** and ***Pradesha***. It is very difficult to say if the scientists got any inspiration from the Jain Agams or not, but the factremains that Mahavir announced existence of ***Pradesh*** hundreds of years before the scientists could postulate existence of Plank Length.Mahavir said ***Lok*** cannot be there without ***Alok.*** Scientists are now repeating his word by saying the empty space is source of everything.

8. Origin And Evolution of Life - Jain & Scientific Perceptions

How and when life appeared in the universe? According to Agams life is present in the universe as ***Siddh*** (Soul without body) and ***Sansari Atman*** (Soul with body). ***Siddha*** does not incarnate and ***Sansarijeev*** pass through cycles of birth and death. It is not known when the soul acquired the body. Seeds of ***Jeev*** are present from the very beginning. The lowest form of ***Jeev*** is ***Ekendriya Jeev*** having one sense organ. ***Pachendriya Jeev*** is developed specimen with five sense organs. As human being we havean evolved mind and an evolved intellect. We also have five senses, and an ability to know ourselves and the world around us. All humans are born the same but we have different levels of evolution. Mahavira called these levels as ***Gunsthana***. A form of algaecalled ***Nigodh*** having first level of ***Gunsthana*** could evolve to higher forms up to human being by self-efforts. The human being can evolve to fourteenth ***Gunsthana*** by right conduct and become ***Sidhatman*** or ***Parmatman***after attaining ***Kewalgyan***, a condition in which the soul does not see the physical forms but perceive only flow of consciousness and atoms.

The main purpose of the human birth is to evolve and cultivate the soul to the level of fourteenth ***Gunsthana.*** According to Jain spiritualism, the consciousness is eternal part of the universe and it has to evolve through millions of different life forms before attaining the level of ***permatman***[21]. Among thousands of different types of species in the world to gain a human birth is extremely rare[22]**.** According to Jain concept ***Ekendriya Jeev*** known as ***Abhavya Jeeva*** cannot evolve to higher levels. But accidently some ***Nigodh***, a kind of algae evolved to higher levels of consciousness. This Jain concept is akin to 'Theory of Accident' in life science.

Evolution from microorganism to complex human being is considered as one of the greatest discoveries of modern times and the credit of the discovery goes to a British scientist named Darwin. Some Western philosophers like Andrews Cohen have come out with a theory called Evolutionary Spiritualism according to which universe is continuously evolving. The cosmic energy has evolved to human being and the process of evolution

is still continuing. These philosophers feel that human beings can evolve to superhuman or God through this natural process of evolution. BhagwanMahavir says “No! It requires additional efforts from the conscious soul”. Only human beings can do this, not even ***devata***or celestial spirits.

Perhaps the proponents of this modern philosophy are not aware that the foundation of Jainism is laid on the principal of evolution of consciousness to the stage of ***Nirwana*** and independent evolution of body from single cell microorganism to complex organism. Evolution of body and evolution of consciousness are two different phenomena and cannot be clubbed into one as Cohen and others have done. According to Jain Concept soul also evolves to higher levels along with evolution of body from microorganism to complex system. But it is limited by the human body and unless consciousness sheds the ***Karman Sharira,*** the highest level of fourteenth Gunsthanathat is ***Nirwana*** is just not possible.

According to modern theory of spiritual evolution, subatomic particles or Higgs Bosons were formed by vacuum quantum fields. The subatomic particles so created united to form atoms. Atoms unite to form molecules and the molecules unite to form cells. Cells form living organism. Inwords of Drian Swimme[24], the story of evolution of the universe is very simple – ’13.7 million years ago the universe burst as hot gas of elementary particles which took three hundred thousand years to cool enough to form hydrogen atoms. When the universe was a billion year old, galaxies started to form. Thus hydrogen transformed into helium and helium transformed into carbon, so on and so forth. Eventually around three and half billions years ago, life began to form. Thus according to these philosophers‘if you take hydrogen Gas and leave it alone, it turns into roses, bushes, giraffes and humans’.

Jainview is similar to the modern thinking that the cosmic energy is the source behind the creative process. But Maahavir puts a rider and says ‘Hydrogen a dead material, colouless, odourless stuff can turn into a body cellbut cannot turn into living cell’,According to Agams the universe is constantly evolving’ and greater complexities may emerge from simple one in the form of ***Paryay***.But consciousness cannot emerge from dead matter because consciousness is fundamentally a different kind of material. **Therefore consciousness does not emerge from cosmic space but it is a constituent of cosmic space.**

Mahavir said our body is made of the same dead atoms as the stars, planets, the sun and moon. All these objects do not have consciousness and in the absence of consciousness these celestial bodies are as good as dead. Atoms can bind with consciousness to produce ***Karman Sharira*** or subtle body which is living and grows into complex organisms like a living cell. Jain

Agams describe how a single cell algae develop into full human over a period of millions of years.

All types of motionsare called as ***Karma*** in Jainism**.**The karmic energy can bind with the consciousness and form ***Karman Sharira***. According to Jain concept motion or ***karma is basically atomic in nature*** what the scientists call as quantum nature. Mahavir says Consciousness' does not have natural motion. **It moves only with the help of an atom or *Karman Sharira*** which is like the DNA molecule. The basic life element DNA is in fact a dead chemical but when encased into permeable cell body it becomes alive. Obviously Life did not emerge in the DNA molecule by conversion of food molecules permeated through the cell body. **The cell body only provided environment conducive for the built in consciousness to emerge into perceptible form**. Thus evolution of of dead DNA molecule into living cell is similar to evolution of Karman Sharira into full living body. The modern proponents of evolutionary spiritualism need to understand the science of consciousness in a mode different from the atomic mode which they are propounding. Centuries ago ***Kewal Gyani Mahavir*** presented the science of emergence and evolution of soul and body as two independent evolutions.

Mahavir postulated existence of soul and atom as two independent but perceptible forms of cosmic energy. Today the quantum physicists agree that consciousness is built in the cosmic energy in the form of awareness which can develops into perceptible quanta like gravity develops into perceptible material quanta what we call as atom. Andrews Cohen, one of the proponents of modern philosophy of Evolutionary Spiritualism questions why Moksha? He says we are evolving into something greater and far better than what we are today, so why to talk of Moksha? Mahavir says our body may evolve into a better one but that does not ensure that our soul will also evolve to perfection. The final level of perfection is Nirwana which is not possible unless you accept existence of soul and cultivate it by right conduct. Hydrogen atom may evolve into human body but cannot evolve into ***Permatman*** or God. Only consciousness can evolve into ***Kewal Gyani*** or God or ***Permatman.***

9. Jain Parmanu, Quantum Atom not Dalton's Classical Atom

Ancient philosophers from India, Greece, China etc. describe atom as the smallest material particle beyond which matter does not exist. But for Mahavir the Atom is not only the smallest indivisible material particle but is also the 'Creator' of the universe. The atom has special properties which are essential for creation and Jain Agams describe these atomic properties which are similar to those of Quantum Atom or Vector Atom discovered by

Nobel laureate Niels Bohr in 1913 and subsequently upgraded by several Nobel Prize winning scientists between 1913 and 1930.

'Dalton's Atomic Theory' is considered as the pioneer work in science that led to scientific understanding of formation of chemical compounds. Dalton said atoms have chemical affinity and two or more atoms unite chemically to produce varieties of chemical compounds. In a chemical or physical process atoms are neither created nor destroyed nor subdivided. Atoms are conserved. Jain Agams[25] describes in details the process by which two or more atoms combine to form di-atomic, triatomic, and multi atomic molecules. Agams[26] also mentions that atoms execute different types of motions which results in emission[27]of light, heat, darkness, brightness, sound etc. Bohr and other scientists confirmed this fact and received Nobel Prize for prediction of atomic motion and energy emission by quantum jumps. Jain Agams cites the following properties of atoms which were rediscovered by scientists which opened new branches of Quantum Spectroscopy, Atomic physics, Molecular Physics etc.

1. ***Parmanu*** (Atom) is dimensionless, formless and indivisible particle of ***Pudgal dravya***. It has no length, no height and no thickness[28].
2. ***Parmanu*** is unit of ***Pudgala.***Matter and energy cannot exist in quantityless than a ***parmanuanu***. Since ***parmanuanu*** is also a measure of ***Pudgala*** which is ***rupi*** and ***murth***, ***Parmanu*** is expected to have one unit of colour(monochromatic), two units of ***sparsha*** (Two types of charges), one unit of smell (olfactory) and one unit of taste. taste. This does not mean at all that ***Jain Parmanu*** has colour, odour and taste. It simply means all thase properties of matter and energyare measured in units of Parmanu. ***In other words Jain Parmanu is not simply an atom but a Qunta of modern science.***
3. ***Permanu*** is always in motion. It executes translatory, vibratory, rotatory and several other types of motion[29].
4. ***Parmanu*** has cold or hot ***Sparsha***[30] (Ground and Excited Energy States), and ***Ruksha*** or ***Snigdha Sparsha***[31] (Positive or Negative Charge).
5. ***Parmanu*** is a particle having no dimensions yet it occupies an area equal to one ***Akash Pradesha***[32]**.**This statement is equivalent to saying that ***Parmanu*** has particle as well as field nature.
6. Two ormore ***Parmanu*** unite to form diatomic, triatomic, etc. molecules. The ***Ruksha*** or ***Snigdha Sparsha*** binds the atoms into molecules[32]. The ***sparsha*** can take only integral values like 1, 2, .3 etc. Agams describe in details the selection rules for chemical combination of atoms[33].

7. Based on the permutation and combination of 5 colours, 5 tastes, 2 smell and 4 touches, Jain Agams describe 5 × 5 × 2 × 4 = 200 types of ***Parmanu***[34]. Modern science claims to have discovered 104 varieties. All heavy atoms unstable and radioactive.
8. Sound, light, heat etc. are ***upkar*** of ***parmanu***.
   Jain Agams[35] describe four types of ***Parmanu***-
   i. ***DravyaParmanu*** (Atom)
   ii. ***KshetraParmanu*** (Pradesh)
   iii. ***KaalParmanu*** (Samaya) and
   iv. ***BhavParmanu*** (Karman Parmanu)

The last type represents what scientists call as phonons or mechanical energy quanta .In agamic language it is called ***karma*** which can bind with ***Atman.*** The binding force depends on the intensity of anger, emotions, psychological reactions etc Therefore. Mahavir, emphasizes on non-attachment and renunciation. One should live in a family and in the society with a feeling of oneness.

10. Conclusion

Even a casual look at Jain Agams reveals that Jainism is not a religion or philosophy in the conventional sense, but it is science of 'Creation and Evolution'. BhagwanMahavir established a new order of spiritualism in whichGod has no place and the evolution of living beings including humans up to the level of Nirvana is possible through the path of knowledge and right conduct.

Bhagwan Mahavirsaid Universe is not created by God. Universe has no beginning and no end. It is material part of theeternal gravitation field called ***Akas*** or Cosmic space. The perceptible manifestation of ***Akas*** appears as atoms and consciousness. All living and nonliving objects found in the universe are created by atoms and consciousness. The fundamental governing principle of creation is **- *'Upneiva, Vigneiva, Dhruveiva'*** which is known as law of conservation of mass and energy in modern science. In the creation infinite varieties of substances are formed but in this process Atoms and soul are conserved. No new atom is created and no new soul is borne. One type of ***Dravya*** cannot be produced from another ***dravya***. In other words ***Jeev*** is produced by ***Jeev*** and ***Ajeev*** is produced by ***ajeev.***This is the second principle of creation. Biologists call the second principle as Biogenesis of life in which life is produced only by existing life.

The most significant statement of Mahavir is about the dual nature of matter what the Agams call as ***Bheda-bhed*** (Dual Nature) characteristics of all d***ravya*** whether ***Rupi***or ***Arupi.*** Thus by ***Bhed dristi*** the ***dravya*** is either made of ***parmanu*** (atoms) or ***pradesha*** (Field Elements). By ***Abhed dristi*** except ***Kaal*** (Time), all other ***dravya***are ***Astikaya,*** i.e. they are

Quantum Fields. Accoding to Jain Agams '***Parmanu'*** or an atom is equal to one ***Pradesha*** and all other ***dravya*** are made of finite or infinite number of ***Pradesha.*** In other words the smallest unit of matter including energy is one ***Parmanu' or*** one ***Pradesha'.*** All substances are integral multiple of this unit. This quantum nature of matter which was so obvious to Bhagvan Mahavir, proved to be a very big challenge to Noble Laureates like Einstein, Heisenberg,and Schrodinger and many others. They were at loss to explain how particles behave wavelike simultaneously.

According to science atoms do not remain located at some particular place in space. Rather at any given time itsmere existence is like a probability of where it could be. But science must observe it, in order to prove its existence. This means a very large numbers of observations have to be made to see the atom at a place because most of the time it is not there. Therefore scientists describe wave function or minimum space volume within which the atom is likely to be present. Lord Mahavir designates this volume as one ***Akas Pradesh.***

Jain Agams contain several revolutionary scientific concepts, principles and postulates which are briefly listed in this article. The readers can find their details in the book Jain Agams me Vigyan co-authored with Jain SadhaviDrSaritaji.

References

1. Uttaradhyayan Sutra, 11/28
2. Tatwartha Sutra, 30/5
3. Uttaradhyayan Sutra, 3/36
4. Jain DarshanAurVighyan, Muni Mahendra Kumar&Jethalal S. Zavery,1992.
5. Tatwartha Sutra, 29/5
6. Uttaradhyayan Sutra, 6/28
7. Tatwartha Sutra, 12/5
8. Uttaradhyayan Sutra7/28
9. Uttaradhyayan Sutra2/36
10. Sthanang Sutra10/6,8,10
11. AcharyDevendra Muni, Jain DarshanSwarupAurVislation,1975, page 134-5
12. AcharyMahapracgya, jainDarshan- Manan and Mimansa, fifth edition .
13. Uttaradhyayan Sutra, 9/28
14. Tatwartha Sutra 17/5
15. Jain Darshan , Manan&Mimansa, AcharyaMahapragya
16. Uttaradhyayan Sutra, 10/28
17. Tatwartha Sutra, 22/5
18. Bhagwati Sutra, 25/4/374
19. Tatwartha Sutra, 9/28
20. Sthanang Sutra, 4/3/334
21. Uttaradhyayan Sutra, 3/7

22. Uttaradhyayan Sutra, 1,2/3
23. Uttaradhyayan Sutra, 49/36
24. Milky Ways 200,000.000.000 Galaxies, Brian Swimme
25. Tatwartha Sutra, 32-37/5
26. Bhagvati Sutra, 16/8
27. Uttaradhyayan Sutra, 12/28
28. Samaysar, gatha 29
29. Bhagvati Sutra,3/3/153
30. Rajvartik, 5/25/13,14
31. Tatwartha Sutra,33/5
32. Tatwartha Sutra, 11/5
33. Pragyapana Sutra, 21-22/13
34. Dravyanuyog, 564
35. Bhagvati Sutra 25/4

- DRDO scientist (Retd.)
B5/24, Ist Floor, Sector-15, Rohini,
Delhi - 110 085

आचार्य वट्टकेर विरचित 'मूलाचार' और प्रायश्चित्त व्यवस्था

- डॉ. कमलेशकुमार जैन

जाने-अनजाने में हुई भूल का परिमार्जन करने एवं भविष्य में उस भूल की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए जो अपराध शोधन क्रिया की जाती है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। मनुष्य, चाहे वह गृहस्थ हो या सन्यासी, के द्वारा पग-पग पर भूल, दोष या अपराध होता है अथवा भूल, दोष या अपराध होने की संभावना रहती है। अतः इन सब अपराधों के शोधन के लिए प्रायश्चित्तों का विधान भी शास्त्रों में पाया जाता है। इन प्रायश्चित्तों की चर्चा न्यूनाधिक रूप से भारतीय सभी धार्मिक परम्पराओं में पायी जाती है।

वैदिक परम्परा में प्रायश्चित्त विधान करने वाला विपुल साहित्य लिखा गया है। यहाँ पर प्रायश्चित्त को धर्मशास्त्र के अंतर्गत रखा गया है। विशेषकर स्मृतियों में इसकी विस्तार से चर्चा की गई है। याज्ञवल्क्य-स्मृति के तीन विभाग हैं[१] - आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त नामक तृतीय अध्याय में, ३३४ श्लोकों में मात्र प्रायश्चित्तों का विधान पाया जाता है।[२]

जैन धर्म में प्रायश्चित्त एक तप माना गया है। इसकी गणना आभ्यन्तर तपों में की गई है। प्रायश्चित्तादि छह तपों की क्रियाएं अन्तः में चलने वाली प्रक्रियाएं हैं, अतः इनका प्रवृत्त्यंश या फल बाहर से दिखाई नहीं देता है। इन तपों के द्वारा मन को एकाग्र, शुद्ध और निर्मल बनाया जाता है।

प्रस्तुत निबंध में आचार्य वट्टकेर रचित मूलाचार में प्रतिपादित प्रायश्चित्त विधान विषयक विवरण के आलोक में प्रायश्चित्त व्यवस्था का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मूलाचार के पंचाचार अधिकार में तपों का विवेचन करते समय प्रायश्चित्त के विषय में मात्र तीन गाथाएँ आयीं हैं। पहली गाथा में प्रायश्चित्त का स्वरूप, दूसरी गाथा में प्रायश्चित्त के भेद एवं तीसरी गाथा में अन्य नाम बताए गए हैं। बाह्य तप का प्रयोजन बताते हुए यहाँ कहा गया है कि बाह्य तपों से मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता, तपों से श्रद्धा-शुभ अनुराग-पैदा होता है और योग अर्थात् मूल गुणों की हानि भी नहीं होती। यहाँ पर बाह्य तपों के जो छह प्रकार बताए हैं, उनके नाम व क्रम इस प्रकार हैं - अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्या, कायपरिताप और विविक्तशयनाशन। तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाओं आदि में 'कायपरिताप' नामक तप के स्थान पर 'कायक्लेश' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। तत्त्वार्थसूत्र से इसके स्वरूप एवं क्रम में भी अंतर पाया जाता है। प्रस्तुत निबंध में मूलाचार में प्रतिपादित प्रायश्चित्त तप के विवरण के साथ-साथ जैन परम्परा में स्वीकृत प्रायश्चित्त का स्वरूप एवं विधान संकेतित किया गया है।

प्रायश्चित (पायच्छित्त) एक अंतरंग तप -

अन्तरंग तप के छह भेद हैं - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान।[३] इन्हें आभ्यंतर तप कहने का कारण बताते हुए अकलंकदेव ने कहा कि ये प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते, अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं तथा अन्य मतानुयायियों द्वारा अनभ्यस्त और अप्राप्त होते हैं, इसलिए आभ्यन्तर कहे जाते हैं।[४] प्रायश्चित को आभ्यन्तर तपों में क्यों स्थान दिया गया है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए पूज्यपाद देवनन्दि ने लिखा है कि मन का नियमन करने वाला होने से इसे आभ्यन्तर तप कहते है[५] - कथमस्याभ्यन्तरत्वम्। मनोनियमनार्थत्वात्। तपों के इन भेदों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता होती जाती है।

प्रायश्चित तप एवं प्रयोजन :- कर्मक्षय के लिए जो तपा जाय वह तप है - कर्मक्षयार्थं तप्यत इति तपः।[६] तप के द्वारा कर्मक्षय करने के लिए शरीर और इन्द्रियों को तपाया जाता है। तपः कर्मक्षयार्थं तप्यन्ते शरीरेन्द्रियाणि तपः।[७]

लोक में सन्तान प्राप्ति के लिए, यश-प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु एवं धन-संपदा आदि की प्राप्ति के लिए तपों का आचरण किया जाता है। परन्तु जैन धर्म में तप का प्रयोजन आत्मा का शुद्धिकरण है। पुनर्जन्म एवं वृद्धावस्था को त्यागने के लिए है[८] -

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समघीरवारुणत्।।
(स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक ४९)

अर्थात् कुछ तपस्वी अपत्य (पुत्र), धन या उत्तरलोक (परलोक या इहलोक) के सुखों की आकांक्षा से कर्म (तपादि संयम) धारण करते हैं। परन्तु आपने जन्म जरा और मृत्यु नाश करने के लिए मन, वचन, काय को रोका है।

तपाचरण से देहाध्यास नष्ट होता है। देह के प्रति आसक्ति आत्मसाधना में प्रमुख विघ्न है। शरीर की आसक्ति से विलासिता और प्रमाद उत्पन्न होता है। तप के द्वारा कर्मो/ पुद्गलों को आत्मा से अलग-थलक करके आत्मा का विशुद्ध रूप प्रकट किया जाता है। इसलिए तप को आत्म परिशोधन की प्रक्रिया माना गया है। इससे आबद्ध कर्मो का क्षय हो जाता है। जैसे कि तपा करके स्वर्ण को विशुद्ध किया जाता है।

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ -

प्रायश्चित्त शब्द दो शब्द के मेल से बना है- प्रायः+चित्त। प्रायः शब्द का अर्थ है - साधुलोक या साधुसमाज। साधुओं का जिस कर्म में चित्त हो, वह प्रायश्चित्त कहलाता है। अथवा, 'प्रायः' शब्द का अर्थ है - अपराध। और 'चित्त' शब्द का अर्थ है - शुद्धि। इस तरह प्रायः + चित्त शब्द का सम्मिलित अर्थ है- अपराध से शुद्धि। ''प्रायः साधुलोकः प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्।'' अथवा, अपराधो वा प्रायः चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चितम्, अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।[९]

वैदिक ग्रन्थों में (हिन्दू-धर्म-कोश के अनुसार) 'प्रायश्चित्ति' और 'प्रायश्चित्त', इन दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में पाया जाता है। इनसे पापमुक्ति के लिए धार्मिक क्रियाएं अथवा तप करने का बोध होता है। परवर्ती साहित्य में प्रायश्चित्त शब्द का ही अधिक प्रयोग पाया जाता है। इस शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ की गई हैं। शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त का अर्थ प्रायः (तप), चित्त (दृढ़संकल्प) अर्थात् तप करने का दृढ़ संकल्प किया है।[१०] याज्ञवल्क्यस्मृति की बालभट्टी टीका में उद्धृत श्लोकार्ध के अनुसार इस शब्द का व्युत्पत्ति प्रायः पाप, चित्त, शुद्धि, अर्थात् पाप से शुद्धि की गई है[११] - प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्त तस्य विशोधनम्। पाराशरमाधवीय ने किसी स्मृति के आधार पर एक अन्य तरह से भी प्रायश्चित्त की व्याख्या की है[१२] - ''प्रायश्चित्त वह क्रिया है जिसके द्वारा अनुताप करने वाले पापी का चित्त मानसिक असंतुलन से (प्रायशः) मुक्त किया जाता है। प्रायश्चित्त नैमित्तिकीय कृत्य है किन्तु इसमें पाप मोचन की कामना कर्त्ता में होती है, जिससे वह काम्य भी कहा जा सकता है।''

प्रायश्चित्त के पर्यायवाची नाम -

मूलाचार में प्रायश्चित्त शब्द के आठ पर्यायवाची नाम गिनाए गये हैं- १. पूर्वकर्मक्षपण, क्षेपण, निर्जरण, शोधन, धावन, पुञ्छन, उत्क्षेपण और छेदन। मूल गाथा इस प्रकार है[१३] -

पोराणकम्मखवणं खिवणं णिज्जरणं सोधणं धुवणं।
पुंछणमुच्छिवणं छिदणं ति पायच्छित्तस्स णामाइं।।

उपर्युक्त नामों की अपनी सार्थकता है।

प्रायश्चित्त का प्रयोजन -

प्रायश्चित्त क्यों किया जाताह। इस प्रश्न का समाधान करते हुए अकलंकदेव कहते हैं - प्रमाददोषव्युदास (दुःख), भाव प्रसाद (प्रसन्नता) निःशल्यत्व, अनवस्था निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता एवं आराधना आदि की सिद्धि के लिए प्रायश्चित्त किया जाता है- किमर्थमिदमुच्यते ? प्रमाददोषव्युदासभावप्रसादनैःशल्यानवस्थाव्यावृत्तिमर्यादात्यागसंयमदाढ्र्याराधनादिसिद्धयर्थं प्रायश्चित्तम्।[१४]

प्रायश्चित्त परिभाषा -

मूलाचार के अनुसार, जिस क्रिया के द्वारा पहले किये गये पापों का शोधन होता है और आत्मा विशुद्ध होता है वह प्रायश्चित्त तप कहलाता है[१५] - प्रायश्चित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं। यद्यपि तपाचरण गृहस्थ और मुनि, दोनों अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार करते हैं, परन्तु यहां पर मुनि अवस्था का ही प्रसंग है और इस अवस्था में प्रायश्चित्तादि तप व्रत जैसा रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि दोष या भूल शोधन के जितने भी प्रकार हो सकते हैं, वे सभी प्रायश्चित के अंतर्गत आ जाते हैं। तथापि मुनि धर्म की अपेक्षा से, धारण किये हुए व्रत में प्रमाद से उत्पन्न दोषों का शोधन करना प्रायश्चित्त तप कहलाता है।

हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार, पाप दो प्रकार के होते हैं - ऐच्छिक और अनैच्छिक। इसलिए धर्मशास्त्र में इस बात पर विचार किया गया है कि दोनों प्रकार के पापों में प्रायश्चित्त करना आवश्यक है या नहीं। एक मत है कि केवल अनैच्छिक पाप प्रायश्चित्त से दूर होते हैं और उन्हीं को दूर करने के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए, ऐच्छिक पापों का फल तो भोगना

ही पड़ता है, उनका मोचन प्रायश्चित्त से नहीं होता।[१६] दूसरे मत के अनुसार, दोनों प्रकार के पापों के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए, भले ही पारलौकिक फलभोग (नरकादि) मनुष्य को अपने दुष्कर्म के कारण भोगना पड़े। प्रायश्चित्त के द्वारा वह सामाजिक संपर्क के योग्य हो जाता है।[१७]

बहुत से ऐसे अपराध हैं कि जिनके लिए राजदण्ड और प्रायश्चित्त दोनों का विधान धर्मशास्त्रों में पाया जाता है। जैसे - हत्या, चोरी, सपिण्ड से योनि संबन्ध, धोखा आदि। इसका कारण यह है कि राजदण्ड से मनुष्य के शारीरिक कार्यों पर नियंत्रण होता है, किन्तु उसकी मानसिक शुद्धि नहीं होती और वह सामाजिक संपर्क के योग्य नहीं बनता। अतः धर्मशास्त्र में प्रायश्चित्त भी आवश्यक बतलाया है। प्रायश्चित्त का विधान करते समय इस बात पर विचार किया गया है कि पाप अथवा अपराध कामतः (इच्छा से) किया गया है अथवा अनिच्छा से (अकामतः), प्रथम अपराध है या पुनरावृत्त। साथ ही परिस्थिति, समय, स्थान, वर्ण वय, शक्ति, विद्या, धन आदि पर भी विचार किया गया है।[१८]

प्रायश्चित्त के भेद -

मूलाचार के अनुसार, प्रायश्चित्त के दस भेद हैं१८ - १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. परिहार और १०. श्रद्धान। जैसा कि कहा गया है[२०] -

आलोयण पडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा।।

स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र, जीतकल्पसूत्र एवं व्यवहारसूत्र आदि में भी प्रायश्चित्तादि तपों की चर्चा पायी जाती है। प्रत्येक प्रायश्चित्त किन-किन और कैसे-कैसे दोषों पर लागू होता है। इसका विशेष विवरण भी इन ग्रन्थों में पाया जाता है।[२१] स्थानांगसूत्र, भगवतीसूत्र एवं ध ावला-टीका में नवम प्रायश्चित्त का नाम अनवस्थाप्य (तपस्यापूर्वक पुनर्दीक्षा) बताया गया है और दशम का नाम पारांचिक या पारंचिक (भर्त्सना और अवहेलना पूर्वक पुनर्दीक्षा)। बाकी आठ नाम मूलाचार की ही तरह हैं।[२२]

तत्त्वार्थसूत्र एवं इसके टीका ग्रन्थों में प्रायश्चित्त के नौ ही भेद बताये गये हैं[२३] - १. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. परिहार, और ९. उपस्थापन। इनमें 'मूल' व 'श्रुद्धान' की गणना नहीं की गई है और नवम प्रायश्चित्त का नाम उपस्थापना बताया गया है। इस का स्वरूप मूलाचारगत 'मूल' नामक प्रायश्चित्त की तरह है।[२४]

१. **आलोचना (आलोयण) -** मूलाचार-वृत्तिकार के अनुसार, अपने गुरू के समक्ष सरल भाव से आत्मनिंदापूर्वक दोषों का प्रकट करना आलोचना है।[२५] अकलंकदेव ने कहा है कि एकांत में विराजमान प्रसन्नचित्त गुरु के समक्ष देशकालज्ञ शिष्य द्वारा की जाती है, जिसमें शिष्य सरलबुद्धि बालक की तरह सविनय आत्म दोषों का निवेदन करता है। विशेष बात यह है कि यह आलोचन दश दोषों से रहित होनी चाहिए।[२६] ये दस दोष इस प्रकार हैं[२७] -

१. आकम्पित, २. अनुमानित, ३. यद्दृष्ट, ४. बादर, ५. सूक्ष्म, ६. छन्न, ७. शब्दाकुलित, ८. बहुजन, ९. अव्यक्त, १०. तत्सेवी। इन १० दोषों के नाम, स्वरूप एवं क्रम के विषय में शास्त्रकारों में अंतर भी देखने में आता है।[२८] आलोचना के बिना बड़े से बड़े तप भी संवर के साथ होने वाली निर्जरा को नहीं कर पाते हैं। जैसे कि संचित मल का विरेचन किये बिना औषधि पेट के लिए गुणकारी नहीं होती है।[२९]

२. **प्रतिक्रमण (पडिकमण) –** यह प्रायश्चित्त तप का दूसरा भेद है। कर्मवश अथवा प्रमादजन्य दोषों का 'मिथ्या में दुष्कृतम्' (मिच्छामि (मिच्छा मे) दुक्कडं) अर्थात् मेरा दुष्कृत (दोष) मिथ्या हो, ऐसा मानसिक पश्चाताप करना प्रतिक्रमण है।[३०]

३. **तदुभय –** कुछ दोष आलोचना से शुद्ध होते हैं, कुछ प्रतिक्रमण से एवं कुछ दोष आलोचना और प्रतिक्रमण, दोनों से शुद्ध होते हैं यह तदुभय तप कहलाता है।

सभी प्रतिक्रमण नियम से आलोचना पूर्वक होते हैं। जो कि गुरु की आज्ञा से किये जाते है। जहां केवल प्रतिक्रमण से दोष शुद्धि होती है वहां वह स्वयं गुरु के द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि गुरु स्वयं किसी दूसरे से आलोचना नहीं करता।

४. **विवेक (विवेगो) –** जिस वस्तु के त्याग से दोष की विशुद्धि हो अर्थात् प्राप्त अन्न, पान एवं उपकरण आदि का त्याग विवेक प्रायश्चित्त है।

५. **व्युत्सर्ग (विउस्सग्गो) –** काल का नियम करके कायोत्सर्ग आदि करना अर्थात् शरीर के व्यापार रोककर एकाग्र होकर ध्येय वस्तु में उपयोग लगाना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है।

६. **तप –** अनशन, अवमौदर्य आदि का आचरण तप प्रायश्चित्त है।

७. **छेद** – चिर प्रव्रजित साधु की अमुक दिन, पक्ष और माह आदि के लिए दीक्षा का छेद करना छेद प्रायश्चित्त है। इस छेद का निर्णय दोष की लघुता एवं गुरुता के आधार पर किया जाता है।

८. **मूल** – विपरीत आचरण से उत्पन्न दोषों की शुद्धि के लिए चारित्र पर्याय को सर्वथा छेदकर नई दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त कहलाता है।

९. **परिहार** – दोषी साधक को उसके दोषानुसार, पक्ष, महीना, वर्ष आदि के लिए संघ से दूर रखना तथा उससे किसी प्रकार संसर्ग नहीं रखना परिहार प्रायश्चित्त है।

१०. **श्रद्धान (सद्दहणा)** – तत्त्वों में रुचि रखना श्रद्धान है। मानसिक दोष के होने पर उसके परिमार्जन के लिए मेरा दोष मिथ्या हो – ऐसा कथन करना श्रद्धान प्रायश्चित्त कहा गया है।[३१]

उपर्युक्त आलोचना आदि प्रायश्चित्त तप के भेद हैं। अकलंकदेव का कथन है कि साधक को देश, काल, शक्ति और संयम आदि के अविरोध रूप से अपराध के अनुसार दोषों के निवारण हेतु प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि जीव के परिणाम (भाव) असंख्य लोक के बराबर होते हैं और जितने परिणाम होते हैं उतने अपराध (दोष) भी होते हैं, परन्तु प्रायश्चित्त तो उतने हो नहीं सकते। अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से प्रायश्चित्तों का वर्गीकरण किया गया है।[३२]

निष्कर्षतः प्रायश्चित्त दोषों को दूर करने का एक उत्तम उपाय है। इस तप में अपने द्वारा किये गये कर्मों का पश्चाताप तथा भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न हो, इस भावना का विकास

होता है। इस तप का आचरण करने के लिए साधक को विनम्र, सरल, निष्कपट एवं सद्भावों से युक्त होना चाहिये। जिस प्रकार किसी रोगी को उपचार (चिकित्सा) का उद्देश्य रोगी को कष्ट या दुख देना नहीं होता है, अपितु उसका कष्ट या दुःख दूर करना होता है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त तप का उद्देश्य साधक की साधना को निर्दोष करना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परंपरा में वासनाओं को कमजोर करने एवं समुचित आध्यात्मिक विकास की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय और मन को तपाया जाना तप कहा गया है। इनमें बाह्य तप तो शारीरिक क्रिया की प्रधानता के कारण और बाह्य द्रव्यों के आलम्बन की अपेक्षा रखते हैं और दूसरों को दिखाई भी देते हैं, परन्तु प्रायश्चित्तादि आभ्यन्तर तपों में मानसिक क्रिया की ही प्रधानता होती है, इनमें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नही होती, इसलिए दूसरों के द्वारा दिखाई भी नहीं देते। इस प्रकार बाह्य तपों का स्थूल स्वरूप तथा अन्य लोगों के द्वारा जानने योग्य होने पर भी इन तपों का आभ्यन्तर तप की पुष्टि में उपयोगी एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक ग्रन्थों में भी प्रायश्चित्त का बहुतायत से विधान पाया जाता है। यहाँ पर प्रायश्चित्त पद के अनेक अर्थ पाये जाते हैं। इनमें तप करने का दृढ़ संकल्प, पापशुद्धि, पाप मोजन के लिए धार्मिक क्रिया आदि अर्थ प्रमुख हैं। वैदिकपरंपरा के धर्मशास्त्र में प्रायश्चित्त को आवश्यक बताया गया है। इसलिये स्मृति साहित्य में प्रमुखता से इनका विधान मिलता है।

प्रायश्चित्त विषयक विवरण को देखने से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन परंपरा में प्रायश्चित्त विषयक विवेचन दो रूपों में प्राप्त होता है- प्राकृत ग्रंथों के आधार पर एवं तत्त्वार्थसूत्रादि संस्कृत ग्रंथों के आधार पर। संख्या, नाम एवं क्रम में भेद होने पर भी मूलतः इनके स्वरूपादि में विशेष अन्तर नहीं है।

संदर्भ :

१. याज्ञवल्क्यस्मृति मिताक्षरा टीकोपेता, संपादक डॉ. गंगा सागर राय, चौखम्बा, संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण १९९९

२. वही, अध्याय ३

३. मूलाचार, गाथा ३६०, ज्ञानपीठमूर्तिदेवी ग्रंथमाला, प्राकृत ग्रंथांक १९, द्वितीय संस्करण, १९९२

४. तत्त्वार्थवार्तिक ९.२०, मूर्ति देवी जैन ग्रंथमाला, संस्कृत ग्रंथ संख्या २०, पृ. संस्करण, २००१

५. सर्वार्थसिद्धि ९.२०, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्, १९९५

६. तत्त्वार्थवार्तिक ९.१६.१७

७. मूलाचार वृत्ति ११.५

८. स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ४९, समन्तभद्रग्रंथावली, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, १९८९

९. तत्त्वार्थवार्तिक ९.२२.१

१०. हिन्दू धर्मकोष-राजबली पाण्डेय, हिन्दी समिति प्रभाग ग्रंथमाला-२४८, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, १९८८ पृ.४३०

११. वही, पृष्ठ ४३०

१२. पाराशरमाधवीय २.१.३ द्रष्टव्य-हिन्दू धर्मकोष, पृष्ठ-४३०

१३. मूलाचार पंचाचाराधिकार, गाथा ३६३
१४. तत्त्वार्थवार्तिक ९.२२.१
१५. मूलाचार पंचाचाराधिकार, गाथा ३६१
१६. याज्ञवल्क्य स्मृति ३.२२६,
१७. गौतम स्मृति १९.७.१
१८. हिन्दूधर्म कोश, पृष्ठ-४३०
१९. पायच्छितं पत्तोति तेण वुत्तं दसविहं तु। मूलाचार, पंचाचाराधिकार, गाथा ३६१ २०. वही, गाथा ३६२
२१. तत्त्वार्थसूत्र, सुखलाल संघवी कृत विवेचना, जैन संस्कृति संरक्षक मण्डल, वाराणसी १९५२, टिप्पणी।
२२. स्थानांग (ठाणं) १०.७३, भगवतीसूत्र २५.७.९, धवला टीका १३.५.४, २६.६३.१, द्रष्टव्य-मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रंथमाला ४०, प्रथम संस्करण, १९८७, पृष्ठ १८८
२३. तत्त्वार्थसूत्र ९.२२
२४. तुलनीय, मूलाचार गाथा ३६२ एवं तत्त्वार्थसूत्र ९.२२
२५. मूलाचार वृत्ति गाथा ३६२
२६. तत्त्वार्थवार्तिक ९.२२.२
२७. आकंपिय अणुमाणिय जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च। छण्णं सद्दाउलियं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी।। मूलाचार वृत्ति गाथा ३६२, सर्वार्थसिद्धि ९.२२ पर उद्धृत।
२८. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. १८९-१९०
२९. दशधर्म पृष्ठ-१३६
३०. मूलाचार वृत्ति गाथा ३६२
३१. वही गाथा ३६०
३२. तत्त्वार्थवार्तिक ९.२२.१०

- जयपुर
(राजस्थान)

णवकार-मंत्र माहात्म्य

- डॉ. उदयचन्द्र जैन

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।[१]

सब अरिहंतों, सब सिद्धों, सभी आचार्यों, उपाध्यायों और सभी साधुओं के लिए नमन है। यह मंगलसूत्र है देशामर्शक होने से मंगल, निमित्त हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता का भी बोधक है।[२] अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांचों मंगलमय है।

अरिहंत -	अ	
सिद्ध -	अशरीर	- अ
आचाय -	आ	
उपाध्याय -	उ	
साधु-मुनि-म-म	(ं)	

ये अ,अ,आ,उ और म् (ं) मंगलाक्षर हैं। इनका अपना अपना महत्त्व है। अरिहंत केवलज्ञान युक्त विशुद्धात्मक रूप धातियाँ कर्म को क्षय करके प्राप्त होते हैं। अरिहंत - अरिहंता, अरहंत - अरहंता - प्रथमा बहुवचन का रूप है। धवला में 'अरिहंता' बहुवचनांत रूप में दिया है। देवदा णमोक्कार सूत्र में यह भी कथन किया है कि कर्म नाश करने वाले अरिहंत है। जो शुक्लध्यान से अरिहंत पद प्राप्त करते हैं।[३] मूलाचार में सिद्धिगमन की योग्यता वाले अर्हन्त है। वे सातिशयं पूजा के योग्य होने से अर्हन्त है।

सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण उच्चंते।[४]

अर्ह् शब्द पूजा, महान एवं उत्तम आदि अर्थ में होता है। शब्द कोश में अर्ह, का अर्थ योग्य, पूज्य, सम्माननीय, उपयुक्त, उचित, श्रेष्ठ, पूजा योग्य, अधिकार योग्य, शक्य एवं समर्थ[५] विशेषण रूप में दिए हैं। इसी में पुल्लिंग शब्द के आधार पर भगवंत, सुरोत्तम, इन्द्र, घातिकर्म रहित, वंदन, नमन, पूजन, उत्तम गुरु एवं तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगी नाम भी दिया है।[६]

णवकार मंत्र- माहात्म्य की प्रथम गाथा में लिखा है- घण-घाइ- कम्म-मुक्का अरहंता[७] - संपूर्ण घातिकर्म मुक्त अरहंत (अर्हन्त) होते हैं। अरहंत (अर्हन्त) में अर्ह+न्त - अर्हन्त है। प्राकृत में अर्ह में 'अ' आगम होने से अरह शब्द बन जाता है। अर्ह में शतृ प्रत्यय होने पर अर्हन्त और प्राकृत अरहंत बन जाता है। अरहंता प्रथमा विभक्ति के बहुवचन का रूप है। वे अर्हन्त नमन योग्य तभी होते हैं जब उनमें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनन्तवीर्य, अनंतविरति, क्षायिक, सम्यक्त्व, क्षायिक दान, लाभ, भोग और उपभोग गुण प्राप्त होते हैं। वे स्फटिक मणि की तरह देदीप्यमान, निरामय, निरंजन एवं दोषों से रहित होते हैं।[८]

अरहंत माहात्म्य के साथ सिद्ध का कथन भी किया है। वे भी पूर्ण कर्मों से रहित, धाति कर्मों से मुक्त होते हैं। जो पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित एवं कृतकृत्य हैं वे सिद्ध हैं अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अनन्तराय इन चार घाति कर्म मुक्त, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं वेद की समाप्ति पर सिद्ध होते हैं।

सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।

भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः।।[९]

सिद्ध सम्यक् पुरुषार्थ से मुक्त सभी कर्मों से तीर्ण चैतन्य एवं अचल स्वरूप को प्राप्त करते हैं। वे कृतकृत्य होते हैं। आचार्य - पञ्चविध आचार का पालन करते हैं, वे चतुर्दशविद्यास्थान में पारंगत, एकादशांगधर, स्व-समय-परसमय के पारक, मेरु की तरह निश्चल सहिष्णु आदि होते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु जैसे भव्य तो लोगों को भव्य बनाते हैं।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच गुणों के धारक संसार में संसरण नहीं करते हैं।

भवियाण होइ सरणं -

भव्यों के लिए पांचों के गुण शरण भूत हैं। ये पांचों ही संसरण को समाप्त करते हैं। इस भुवन में सुखों का कारण जिन नवकार है, जो इन्हें निरंतर सूत्र में स्थित होकर पढ़ते हैं वे ही दुःख दूर कर पाते हैं और वे सुख जन्य कारण को प्राप्त होते हैं। यह नवकार संजीवनी है घन कर्म राशि समूह नाश करने वाला है। जो भक्त इनको स्मरण करता है वह इनकी शरण को प्राप्त हो जाता है।

पाव-विसं णासए -

यह नवकार मंत्र है, यह मंत्र गारुणिक के मंत्र से भी अधिक प्रभावशाली है। चिंतामणि रत्न है एवं कल्पद्रुम भी है। जो महामंत्र नवकार शुद्धिपूर्वक स्मरण करता है, उससे भव्य जीव शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है। यह सभी कालों में प्रभावशाली रहा है। अतीत में जिन जीवों ने मुक्ति पाई है वर्तमान में पा रहे हैं, पांच भरत एवं पांच ऐरावत क्षेत्र से भविष्यत् काल में भी मुक्ति पायेंगे।[१०] यह शाश्वत् सुख देने वाला है।[११]

जस्स मणे णवयारो[१२] -

जिसके मन में यह नवकार है उसका संसार क्या कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता है। यह जिनशासन का सार है। इसे चौदह पूर्वधारियों ने भी स्मरण किया, जिसके परिणाम स्वरूप वे भी आत्मा के विशुद्ध ज्ञान की ओर अग्रसर हुए। भव्य जीव सदैव इसका स्मरण करते हैं, इससे इच्छित कार्य की सिद्धि भी पाते हैं। संग्राम, समुद्र, सिंह भुजंग, दुःसाध यरोग, अग्नि, शत्रु, बन्ध, चोर ग्रहबाधा, डाकिनी-शाकिनी आदि सभी प्रकार के भय दूर हो जाते हैं। यह महासमुद्र को पार कराने में समर्थ है।

गुटके रूप में प्राप्त यह णवकार - माहात्म्य-**तव-संजम-णियम-रहो**-तप, संयम एवं नियम का रथ है। पांचों पद सारथी है। इसको ले जाने वाला ज्ञान रूपी तुरंग वास्तव में परमनिर्वाण के मार्ग

का करण है। यह अनादि निधन मंत्रराज जिनशासन का सार है। यह जगत् के जीवों को पवित्र करने में समर्थ है। इसका एक सौ आठ बार चिंतन करने से एक उपवास का फल प्राप्त होता है।

सग्गपवग्गाण दायरो[१३] -

चिंतामणि रत्न एवं कल्पतरु तो एक जन्म के सुख के कारण हैं, परन्तु नवकार स्वर्ग और अपवर्ग दोनों देने वाला है। इससे परमतत्त्व रूचि और परमपद भी प्राप्त होता है। क्योंकि परम योगियों द्वारा इसे ध्याया गया, उससे उन्हें तीर्थंकर नाम गोत्र का कारण भी प्राप्त हुआ होगा इसमें किसी तरह का संदेह नहीं।

नवकार मन्त्र - माहात्म्य का अर्थ-

(णवकार-मंत्र-माहात्म्य की- प्राकृत भाषा की २५ गाथाएँ अनेकान्त- अंक ६५/१ जनवरी-मार्च २०१२ में प्रकाशित है। मूल गाथाएं उक्त अंक से देख लें, जिनका अनुवाद हिन्दी भाषा में प्रस्तुत आलेख में दिया जा रहा है - संपादक)

१. सभी घाति कर्म मुक्त अरहंत तथा सभी सिद्ध हैं। आचार्य, उपाध्याय भी उत्कृष्ट हैं एवं सभी साधुओं का मार्ग श्रेष्ठ है।
२. इन पांचों, पांच लक्षणधारी भव्यों के संसार में संसरण करते हुए शरण भूत है।
३. ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् लोक में जिन नवकार प्रधानता से इस भुवन में नर, सुर, शिव सुखों के कारण हैं।
४. उससे यह चिन्ता नित्य ही सूत्र स्थित जनों के द्वारा निरंतर पढ़ा जाता है। यह भव्य लोक के लिए दुःख दलन वाला है और सुख जनक ही होता है।
५. जिनके द्वारा जिस समय पढ़ा जाता है, वह उस समय फलवृद्धि वाला होता है। अवसान (एकान्त) में जिनके द्वारा पढ़ा जाता है, उसे सुगति उत्पन्न होती है।
६. यदि इसे विपत्तियों में पढ़ा गया तो सैकड़ों विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। यदि इसे विधिपूर्वक पढ़ा जाता है तो इसके कारण विस्तार प्राप्त होता है।
७. इससे नर एवं सुर होते हैं। सुर वरिंदों के विद्याधर आदि अनेक रूप प्राप्त होते हैं। यह नवकार हार ही तरह कंठ में स्थित करें अर्थात् इसे सदैव स्मरण करें।
८. जैसे सर्प से डंस युक्त व्यक्ति गारुडमंत विष नाश करता है। वैसे ही नवकार मंत्र संपूर्ण पाप विष नाश कर देता है।
९. यह महारत्न चिंतामणि की तरह एवं कल्पद्रुम की तरह नहीं है क्या? नवकार तो इससे भी अधिक दुःख दूर नहीं करता क्या ? अर्थात् अवश्य करता है।
१०. चिंतामणि रत्न आदि तथा कल्पतरु तो एक जन्म के सुख के कारण हैं। परन्तु नवकार स्वर्ग-अपवर्ग (मोक्ष) देने वाला है।
११. जो कुछ भी परमतत्त्व एवं परम पद कारण है वह इसमें है। क्योंकि परम योगियों द्वारा यह नवकार ध्याया जाता है।
१२. जो पूजा विधि से जिन नमस्कार एक लाख बार गिनता है वह तीर्थंकर नाम गोत्र को बांधता है। इसमें संदेह नहीं।
१३. छह सौ विजय प्रमुखों के शाश्वत काल नहीं है वहाँ भी परम पुरुषों द्वारा जिन नवकार पढ़ा जाता है।
१४. पांच ऐरावत एवं पांच भरत क्षेत्रों में यह पढ़ा जाता है। क्योंकि यह जिन नवकार शाश्वत शिव सुख देने वाला है।

१५. यह नवकार जैन पुर के कृतार्थ से अर्थात् जैनकुल में जन्म लेने से प्राप्त हुआ है। वह देवलोक जाने के लिए समर्थ होता है उसे भी परमपद प्राप्त होता है।

१६. यह अनादि काल, अनादि जीव एवं अनादि जिनधर्म है जब से है तब से यह जिन नमस्कार पढ़ा जाता है। जो पढ़ते वे ही परम पद प्राप्त करते हैं।

१७. जो कोई भी मोक्ष गए, मोक्ष जाते हैं वे सभी जिन नवकार के भाव से संपूर्ण कर्मों के क्षय से मुक्त हुए हैं।

१८. इस प्रकार यह नवकार सुर, सिद्ध, एवं खेचर विद्याधर आदि से भक्ति युक्त पढ़ा गया, जो पढ़ता है वही तो शाश्वत स्थान पाता है।

१९. अटवि, गिरिराज के मध्य में भय नष्ट करता है। चित्त शांत करता है। जैसे माता पुत्र एवं शिशु की रक्षा करती है वैसे ही यह अनेक भव्यों की रक्षा करता है।

२०. चिंतन मात्र से जिन नमस्कार जल एवं ज्वलन को हटाता है। अरि, चोर, मारि, रावल, एवं घोर उपसर्ग को नाश करता है।

२१. डाकिनी, बेताल, राक्षस, मारि आदि भय जो कुछ भी है या नहीं है वे नवकार के प्रभाव से समग्र पाप नाश कर देते हैं।

२२. सकल भय, व्याधि, तस्कर, हरि, करि, संग्राम, विषधर आदि के भय जिन नवकार तत्क्षण प्रभाव से नाश कर देते हैं।

२३. जिसके हृदय गुफा में नवकार केशरी नित्य स्थित होता वे अष्ट कर्म रूप ग्रंथी गत घंटिकाओं की ध्वनियों को नष्ट कर देते हैं।

२४. तप, संयम, नियम रूपी रथ है, पंच नमस्कार सारथी कहा गया। यह ज्ञान तुरंग युक्त है। जिससे परम निर्वाण शीघ्र प्राप्त होता है।

२५. जो जिनशासन का सार एवं चौदह पूर्व समुद्धार है। जिसके मन में यह नवकार है उसका संसार क्या कर सकता है ?

संदर्भ :

१. (क) छक्खंडागम- १/१ (ख) धवला १/१/१६.८

२. (क) मूलाचार- ११२३ (ख) कल्पसूत्र - ८५५

३. धवला १/१/ पृ.४४

४. मूलाचार - १३५८

५. संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी एवं अंग्रेजी शब्दकोश १/पृ. १९४५

६. वही पृष्ठ- १९५

७. णवकार मंत्र माहात्म्य - गाथा-१

८. (क) भगवती आराधना (ख) धवला - १/१ पृष्ठ ४६

९. पुरुषार्थ सिद्धियुपाय -१

१०. सर्वोपयोगि श्लोक संग्रह - पृ. १४-१५

११. नवकार मंत्र - माहात्म्य गाथा १३-१४

१२. वही - गाथा-२५

१३. वही - ९-१२

- ८६१, अरविंदनगर,

उदयपुर (राजस्थान)

'वीर सेवा मंदिर' - में आयोजित :-
श्रुत पंचमी पर्व पर राष्ट्रीय व्याख्यानमाला

वीर सेवा मन्दिर जैनदर्शन शोध संस्थान, दरियागंज, नई दिल्ली-२ अपने समृद्ध पुस्तकालय और अनेकान्त शोध त्रैमासिकी के माध्यम से भारत वर्ष का एक विशिष्ट शोध संस्थान है जिसकी नींव आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार सा० ने सन् १९५४-२८ जुलाई को विधिवत् रजिस्टर्ड करा कर रखी। जिसका उद्देश्य जैन साहित्य, इतिहास और तत्व विषयक खोज तथा लोक सेवा है उक्त शोध संस्थान के तत्त्वावधान में श्रुतपंचमी के पावन प्रसंग पर ''जैनदर्शन का विभिन्न दर्शनों से तुलनात्मक विवेचन '' विषय पर राष्ट्रीय व्याख्यानमाला २७ मई, २०१२ को आयोजित की गई, जिसमें देश के कई ख्यातिप्राप्त विद्वानों ने एकमत से स्वीकार किया कि सभी धर्मों में अनेक समानताएँ समाहित हैं। हमें सामंजस्य स्थापित करते हुए सर्वधर्म समभाव को उजागर करना चाहिये जिससे समाज और देश का विकास होगा।

इस अवसर पर प्रो. धर्मचन्द्र जैन, जोधपुर ने कहा कि जैनधर्म के २४वें तीर्थंकर और बुद्ध दोनों ने ही दूषित कर्मकाण्ड का विरोध किया। दोनों ने दुःख, दुख के कारण, दुःख समुदाय और दुःख का निवारण आदि का उपदेश देते हुए मुक्ति का मार्ग बतलाया। जैनधर्म व्यावहारिक और पारमार्थिक है, जबकि बौद्धधर्म में आध्यात्मिकता अधिक है। जैनों में पांच महाव्रत होते हैं और बौद्धों में पांच शील हैं, जैनों के चार शरण हैं तो बौद्धों में बुद्धं शरणं गच्छामि बताया है। डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर ने बताया कि नौवीं शताब्दी में अनेक जैन मुनि मुस्लिम देशों में गये। वहां कलन्दर संप्रदाय उत्पन्न हुआ जो अहिंसा का कट्टरता से पालन करता था। कुरान में सभी जीवों को जिंदा रहने का हक दिया गया है।

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर ने कहा कि जैन एवं वैदिक संस्कृति ने परस्पर विचारों में आदान-प्रदान किया है। दोनों में अहिंसा की मूल भावनाएं समाहित हैं। व्यसनों के त्याग की बात दोनों में कही गई है। दोनों को एक-दूसरे की अच्छाईयों को स्वीकार करना चाहिये। डॉ. वीरसागर जैन, दिल्ली ने कहा कि ईसा मसीह बचपन से ही सद्भावना से युक्त, दया, करुणा, प्रेम एवं कोमल हृदय थे। उनमें और जैनों में आडम्बर का विरोध, पुनर्जन्म की मान्यता, मैत्री-क्षमा गुण प्रचुरता से मिलते हैं। ईसा के ३३ वर्ष के जीवनकाल में ६ माह का अज्ञातवास लिखा है जिसे विद्वानों ने भारत प्रवास सिद्ध किया है और कहा है कि इन छह महीनों में वे भारत में जैन मुनियों के संपर्क में रहे। अतः उन पर जैनों के आचार-विचार का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने आत्मज्ञान पर भी सर्वाधिक जोर दिया।

मुख्य अतिथि डॉ. सी. देव कुमार जैन, वैज्ञानिक सहायक महानिदेशक (शिक्षा योजना एवं विकास) ने दक्षिण भारत में जैनधर्म के प्रभाव पर प्रकाश डाला। व्याख्यानमाला की अध्यक्षता कर रहे प्रो. डॉ. राजाराम जैन ने कहा कि जैनधर्म और साहित्य बहुआयामी है, यह

केवल जैनों के लिये नहीं है। भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने आये विदेशी कई पाण्डुलिपियाँ अपने साथ ले गये। इस तरह विदेशों में लाखों पाण्डुलिपियाँ हैं, जिनका अध्ययन होना ही चाहिए।

कार्यक्रम का संचालन पं. निहालचंद जैन, निदेशक- वीर सेवा मंदिर ने किया। मंगलाचरण एवं भजनों की प्रस्तुति युवा संगीतकार श्री सिद्धार्थ जैन ने की। पं. आलोक कुमार जैन उपनिदेशक- वीर सेवा मंदिर ने तीर्थंकरों और जिनवाणी को अर्घ्य समर्पण कराया। चित्र अनावरण, दीपप्रज्वलन और ध्वजारोहण मंचस्थ विभूतियों और कार्यकारिणी के सदस्यों ने किया। संस्था के अध्यक्ष श्री सुभाष जैन ने संस्था की स्थापना और उद्देश्यों पर प्रकाश डाला और महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन ने स्वागत भाषण प्रस्तुत किया। कार्यक्रम के अन्त में मंत्री श्री योगेश जैन ने उपस्थित सभी महानुभावों का आभार व्यक्त किया और संस्था के वरिष्ठ सदस्य श्री रूपचंद कटारिया द्वारा जिनवाणी स्तुति के साथ कार्यक्रम संपन्न हुआ।

उक्त महोत्सव कार्यक्रम में देश के गण्यमान्य विद्वान, वीर सेवा मंदिर के पदाधिकारीगण एवं प्रबुद्ध समाज श्रेष्ठी पधारे जिनमें प्रमुख हैं सर्व श्री भारत भूषण जैन एडवोकेट (शाकाहार) एवं वरिष्ठ उपाध्यक्ष वीर सेवा मंदिर, प्रो० एम० एल० जैन-सदस्य सम्पादक मण्डल अनेकान्त शोध त्रैमासिकी एंव वरिष्ठ सलाहकार, वीरेन्द्र कुमार जैन कोषाध्यक्ष वीर सेवा मंदिर, दिनेश जैन संयुक्त मंत्री वीर से मंदिर, प्रो० डा० सुदीप जैन, डा० फूलचंद प्रेमी- निदेशक बी. एल.इन्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डोलॉजी दिल्ली, आचार्य गोपी लाल अमर, डा० सुरेन्द्र भारती बुरहानपुर- महामंत्री अ० भा० दि० जैन विव्दत्परिषद, डा० कमलेश कुमार जैन जयपुर, प्रो० वी० पी० जैन, प्रो० डा० जय कुमार उपाध्ये-रा० संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली, डा० नरेन्द्र कुमार जैन गजियाबाद, डा० सुरेश कुमार जैन, जैन समाज दिल्ली के अध्यक्ष चक्रेश कुमार जैन, पूर्व महासचिव लोकसभा-चक्रेश जैन, धनपाल सिंह जैन अध्यक्ष नैतिक शिक्षा समिति दिल्ली, डा० सविता जैन दिल्ली, डा० रजनीश शुक्ल, डा० कुलदीप कुमार, धर्मभूषण जैन सी० ए०, विमल प्रसाद जैन, मदन लाल जैन, अनिल जैन,(काठमाण्डू) दीपचंद जैन स्वराज जैन, प्रो० एम० मोदी दिल्ली विश्व विद्यालय एवं रमेश जैन (नवभारत टाइम्स) आदि उपस्थित रहे।

- योगेश जैन
मंत्री

- विनोद कुमार जैन
महामंत्री

नोट :- श्रुतपंचमी महोत्सव की चित्रमय झलकियाँ कवर पृष्ठ २ एवं ३ पर देखें।

भेद रत्नत्रय - अभेद रत्नत्रय
तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार के परिप्रेक्ष्य में

- डॉ. आनंद कुमार जैन

प्राणी मात्र के लिए साक्षात् मोक्ष का कारण रत्नत्रय है। भेद तथा अभेद इसके दो प्रकार हैं। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु द्वारा कहे गये जीवादि द्रव्यों, तत्त्वों एवं पदार्थादि को जानकर श्रद्धान करना एवं तदनुकूल आचरण करना भेद रत्नत्रय है, जिसे व्यवहार रत्नत्रय भी कहते हैं तथा उससे भिन्न पर-पदार्थों के चिन्तन को त्यागकर मात्र आत्म-स्वरूप का श्रद्धानकर, ज्ञानकर आत्मावलोकन, रत्नत्रय आत्मानुपालन करना अभेद रत्नत्रय है, जिसे निश्चय रत्नत्रय कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने सर्वप्रथम पंचास्तिकाय एवं समयसार, प्रवचनसार में रत्नत्रय के भेदाभेद रूप विभाजन का कथन किया है जिसपर परवर्ती अनेक आचार्यों ने विस्तृत स्पष्टीकरण दिया है। इसी कड़ी में तत्त्वार्थसूत्र के परम्परागत भाष्यकार आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के पहले ही सूत्र में रत्नत्रय का वर्णन किया है।

प्रथम शताब्दी से लेकर आचार्य विद्यानन्द के काल के मध्य में लगभग सात, आठ शताब्दी का अन्तर है। प्रश्न है क्या इस काल में कोई दर्शन की दृष्टि से विकास दृष्टिगत होता है? और प्रायः यह प्रश्न भी उभरता है कि भारतीय दर्शन का विकास विगत तीन सौ वर्षों से अवरूद्ध हो गया है अतः इसमें विस्तार की आवश्यकता है। किन्तु पाश्चात्य मनुष्यों का यह चिन्तन इस अपेक्षा से तो उचित है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन को आधुनिक उद्धरणों एवं भाषाओं के माध्यम से विश्व में प्रस्तुत किया जाना चाहिए किन्तु यह कहना सर्वथा अनुचित है कि चिन्तन धारा अवरूद्ध हो चुकी है क्योंकि विकास की सम्भावना विकासशील में सम्भव होती है, विकसित में नहीं।

जैनदर्शन स्वयं में पूर्ण विकसित दर्शन है जिसने तत्त्व में निहित समस्त रहस्यों से पर्दा उठा दिया है। उक्त तथ्य को आधार करके यही कहना प्रासंगिक होगा कि आचार्य कुन्दकुन्द का कथन जिनेन्द्र देव, सर्वज्ञ भगवान् द्वारा कथित वचन है जो स्वयं में पूर्ण है अतः परवर्ती साहित्यकारों द्वारा उस पर कुछ भी कहना मात्र विषय का पिष्टपेषण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने जिस रत्नत्रय के विषय को सूत्र रूप में, संक्षेप में प्रस्तुत किया है उसे बाद के रचनाकारों ने भाषा परिवर्तन द्वारा, विस्तार से अन्य उदाहरणों से समझाया है।

निश्चय रत्नत्रय का अपरनाम निश्चय मोक्षमार्ग है जिसे शुद्धात्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप, परमनिजस्वरूप, सिद्ध, निरञ्जनरूप, निर्मलस्वरूप, स्वसंवेदनज्ञान, परमतत्त्वज्ञान आदि नामों से भी जाना जाता है।

जहाँ तक भेद तथा अभेद के मध्य सम्बन्ध का प्रश्न है तो भेद रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय का कारण है और अभेद रत्नत्रय, मोक्ष का कारण है अर्थात भेद रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय का साधन है तथा अभेद रत्नत्रय, मोक्ष का साधन है और मोक्ष स्वयं में साध्य है।

जैनदर्शन ने मोक्ष का हेतु रत्नत्रय माना है वहीं अन्य दर्शनों का उल्लेख करते हुए आचार्य विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि अन्य दर्शनकारों ने पृथक्-पृथक् रूप अर्थात् मात्र श्रद्धान को, मात्र ज्ञान को या मात्र चारित्र को मुक्ति का कारण माना है ऐसी स्थिती में तद्-तद् विचारों का मन्थनपूर्वक आचार्य विद्यानन्द ने निराकरण किया है तथा इस तथ्य का पूर्णतया समर्थन किया है कि रत्नत्रय समग्र रूप में ही मुक्ति का कारण है।

कपिल ने मात्र संप्रज्ञात योगावस्था को मुक्ति का हेतु मानने पर बल दिया है। किन्तु उन्हीं के मत में आयु नामक संस्कार की उपस्थिति में मुक्ति को असम्भव मान्य किया है। उन्हीं की मान्यता को आधार बनाकर दोष देते हुए आ. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं जिस संप्रज्ञात योग का क्षय प्रकृति के ज्ञान अथवा अज्ञान रूप समाधि परिणाम से क्षय होना स्वीकार है उसके उत्तरोत्तर नाश करने पर अनवस्था दोष उत्पन्न होगा एतत् आपकी मान्यता या धारणा गलत है।

इसी प्रश्नोत्तर के क्रम में आचार्य विद्यानन्द मोक्ष के अपर तथा पर रूप दो भेद करते हुए कहते हैं कि जहाँ आयु के संस्कार का क्षय नहीं होने के कारण कुछ काल तक सर्वज्ञ-अवस्था में जीव संसार में रहता हैं उसे अपर मोक्ष कहते हैं और जहाँ अन्त में असंप्रज्ञात अर्थात् अयोगावस्था में योग अर्थात् परमसमाधि में जीव संस्कारों का क्षय करता है वह पर-मोक्ष अन्त में आचार्य विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि स्वयं ही वाकजाल में फँसकर सांख्य दर्शन आर्हत् मत का ही अनुमोदन कर रहा है। अतः हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

रत्नत्रय को आधार करके आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने और नैयायिक की अवधारणा का भी निराकरण किया है जो आत्मा के साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। नैयायिकों की दृष्टि से द्रव्य के प्रत्येक प्रदेश में गुण का अस्तित्व होना, समवाय सम्बन्ध है। किन्तु यदि सामान्य से ज्ञान के साथ आत्मा का सम्बन्ध है तो आकाशादि से भी इसका सम्बन्ध बनता है और विशेष तत्त्व की कल्पना सांख्य को विकार है। अतः दोनों ही अवस्था में आत्मा और ज्ञान का तादात्म्य सम्बन्ध संस्थापित नहीं होता है। इस कारण कपिल स्वयं अज्ञानी सिद्ध होते हैं एवं नैयायिक की ज्ञान सहित ईश्वर की अवधारणा भी धूमिल होती है।

वस्तुतः इस प्रकार की सांख्य की मान्यता द्रव्य के द्रव्यस्व को प्रभावित करता है क्योंकि जो ज्ञान प्रकृति अर्थात् अचेतन का गुण है अर्थात् पुरूष भिन्न द्रव्य का विशिष्ट गुण है वह भिन्न द्रव्य अर्थात जीव का लक्षण कैसे बन सकता है ऐसे में ज्ञान गुण अतिव्याप्ति दोष युक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार सांख्य की मूलभूत धारणा ही ध्वस्त हो जाती है जो कि सर्वथा अनुचित है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से आचार्य विद्यानन्द स्वामी की एक विशेषता का ज्ञान होता है और आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज की दूरदर्शिता का भी ज्ञान हो जाता है। आचार्य श्री ने

ब्रह्मचारी विद्याधर को जैनधर्म का गहन अध्ययन करने के उपरान्त अन्य दर्शन के ग्रन्थों का अध्ययन करने का आदेश दिया था और ब्रह्मचारी विद्याधर की शंका को भाँपते हुए कहते हैं कि अन्य दर्शन के अध्ययन से तद्जन्य अव्यवस्थाओं का ज्ञान होता है और इसी के फलस्वरूप वर्तमान में जब भी ज्ञान की महिमा का मण्डन किया जाता है आचार्य विद्यासागर जी महाराज का अध्यवसाय निश्चित रूप से जैन ग्रन्थों के अध्ययन से ही बना होगा क्योंकि आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने भी कपिलमत का खण्डन करने के लिए नैयायिकों का तर्क दिया है जो कि अन्य दर्शन के अध्यवसाय से ही सम्भव है। यह परम्परा तत्त्वार्थराजवर्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार से होते हुए वर्तमान में भी अत्यन्त उपयोगी है।

उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त सांख्य, वैशेषिक, योग, बौद्ध, मीमांसक, चार्वाक, नैयायिक आदि के मन्तव्यों का तत्परतापूर्वक मनन एवं चिन्तन कर आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने प्रत्युत्तर दिया है तथा आर्हत् मत का मण्डन किया है, रत्नत्रय का वर्णन प्रथम अध्याय के प्रथमसूत्र के अन्तर्गत शताधिक पृष्ठों में है किन्तु सामान्य रत्नत्रय उसके भेद तथा अभेद रूप दो विभाजन, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र, सम्यक् पद की उपयोगिता आदि सामान्य चर्चाओं को अनुल्लेखित किया है।

१. पंचास्तिकाय, १६० गा.
धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।।
चेट्ठा तवं हि चारिया ववहारों मोक्खमग्गो त्ति ।।१६० ।।
२. समयसार, गा. १५५
३. प्रवचनसार, २४० गा.
४. न स्थिरज्ञानात्मकः संप्रज्ञातों योगः संस्कारक्षयकारणभिष्यते यतस्तस्य प्रधान धर्मत्वात्तत्क्षयान्मुक्तिः स्यात्।
सो'पि च तत्क्षायों ज्ञानादज्ञानाद्वा समाधेरिति
पर्यनुयोगस्य समानत्वादनवस्थानमाशक्यते। पृ. ८९
५. मिथ्यार्थाभिनिवेशे मिथ्याज्ञानेन वर्जितम।।
यत्पुंरूपमुदासीनं तच्चेद्ध्यानं मतं तव ।। ६२ ।।
दृतं रत्नत्रयं किं न ततः परमिहेष्यते।।
यतो न तन्निमित्तत्वं मुक्तेरास्थीयते त्वया ।। ६३ ।।
६. समवायों हिसर्वत्र न विशेषकृदेककः।।
कथं खादीनि संत्यज्य पुंसिज्ञानं नियोजयेत् - पृष्ठ-९५
७. प्रधानाक्षयि विज्ञानं न पुंसो ज्ञत्वसाधनम् ।।
यदि भिन्नं कथं पुंसस्तत्तथेष्टं जडात्मभिः ।। ६८ ।। पृष्ठ-९४

- राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
५६-५७, इंस्ट्टीयूशनल एरिया, जनकपुरी, डी-ब्लाक
नई दिल्ली-११००५८

श्रुत-पंचमी-पर्व : श्रुत-साधना का प्रेरक-स्रोत

- डॉ. राजाराम जैन

पिछली लगभग दो सहस्राब्दियों से प्रत्येक वर्ष की ज्येष्ठ-शुक्ला-पंचमी का पुण्य-दिवस जैन-परम्परा में श्रुत-पंचमी-पर्व के रूप में विख्यात है। दूसरे शब्दों में यदि कहना चाहें, तो आगम-संरक्षक-दिवस अथवा जैनागम-साहित्य के इतिहास-लेखन का मंगलाचरण-पर्व भी कह सकते हैं। क्योंकि आज से कुछ अधिक लगभग २००० वर्ष पूर्व दो महामहिम कठोर तपस्वी आचार्यों - आचार्य **भूतबली** एवं **पुष्पदंत** ने आज ही के दिन **छक्खंडागम-सुत्त** नाम के आगम-ग्रन्थ के लेखक-कार्य को समाप्त किया था और उसकी आराधना-पूजा कर सर्वप्राणिहिताय-सर्वप्राणिसुखाय उसे लोकार्पित किया था। इस आदर्श-कार्य की सुखद-स्मृति को स्थायी बनाये रखने के लिए ही आचार्यों ने उस महान् ऐतिहासिक दिवस को **श्रुतपंचमी-पर्व** के नाम से घोषित किया था और उसी समय से समग्र जैन-जगत् मानव-मूल्यों के संदेश-वाहक उस महान् पर्व को विविध समारोहों पूर्वक मनाता चला आ रहा है।

कल्पना कीजिये उस समय की जब लेखनोपकरण-सामग्री ॅ;तपजपदह डंजमतपंसद्ध का विकास नहीं हुआ था। आज तो हम आवश्यकता पड़ते ही दौड़कर बाजार से कागज, कॉपी, पेन, पेंसिल, कार्बन-पेपर आदि खरीदकर ले आते हैं और तीव्रगति से अपना लेखन-कार्य संपन्न करते रहते हैं। किन्तु उन वनवासी-आचार्यों के समय में तो इन सुकर-संसाधनों की कल्पना भी नहीं की जा सकी होगी। अतः उनके सम्मुख सचमुच ही लेखन-सामग्री संबन्धी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित रही होंगी।

नन्द-मौर्यकाल में **लेखनोपकरण-सामग्री** के रूप में केवल पत्थर एवं छैनी-हथौड़ी थे। उस समय पत्थरों पर छैनी-हथौड़ी से समकालीन लोकप्रिय जन-भाषा-प्राकृत में ब्राह्मी एवं खरोष्ठी-लिपि में राज्यादेशों या नैतिक-संदेशों को टंकित कराकर प्रचारित किया जाता था। यही स्थिति कलिंगाधिपति सम्राट खारवेलकालीन (ईसा-पूर्व दूसरी-सदी) भी थी। किन्तु इन कर्कश-संसाधनों का उपयोग तो सम्राट जैसे साधन-संपन्न लोग ही कर सकते थे। अपरिग्रही, महाव्रती एवं वनवासी केवल पिच्छी-कमण्डलु धारी जैनाचार्यों के लिये तो वह बिल्कुल संभव ही नहीं था।

अतः उसे सरल बनाने के लिये वानस्पतिक लेखनोपकरण-सामग्रियों का सहारा लिया गया, जिसमें भोजपत्र, मृदुल-काष्ठ-कुंचिका एवं वनस्पतियों के रंग आदि प्रमुख थे। यही सामग्री कुछ भक्त-श्रावकों द्वारा उक्त दोनों आचार्यों को उपलब्ध कराई गई होगी और उन्होंने भी उसी का उपयोग कर अपने गुरु वयोवृद्ध आचार्य धरसेन द्वारा कण्ठ-परंपरा से प्राप्त उस श्रुतांश को सूत्र-शैली में लिपिबद्ध किया होगा।

अब यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि उक्त श्रुतांश-राशि को सूत्र-शैली में ही क्यों लिपिबद्ध किया गया, भाष्य-शैली में क्यों नहीं ? मेरी दृष्टि से उसके प्रमुख कारण निम्न प्रकार रहे थे -

१. समकालीन लेखनोपकरण-सामग्री सीमित, कष्टसाध्य एवं दुर्लभ थी और जो निर्दोष स्पष्ट लेखन-कार्य, समयसाध्य, धैर्यसाध्य, श्रमसाध्य, जटिल तथा एकाग्रता-सापेक्ष थी, तथा-

२. उक्त दोनों भूतबलि एवं पुष्पदन्त- लेखकाचार्यों की वृद्धावस्था सन्निकट थी जबकि उन्होंने अपने आयुष्यकाल में ही उक्त श्रुतांश के प्रामाणिक निर्दोष लेखन-कार्य की समाप्ति को अनिवार्य समझा होगा, अन्यथा उसके लुप्त-विलुप्त हो जाने की उन्हें भी आशंका रही होगी।

संभवतः यही कारण रहा होगा कि उन्होंने उस श्रुतांश को गणित के फार्मूलों की पद्धति से अर्थात् अर्थगर्भित सूत्र-शैली में उसे लिपिबद्ध किया।

आचार्य भूतबलि एवं पुष्पदन्त-काल में जिज्ञासु भक्तगण प्रतिभा-संपन्न थे। अतः आगम-सूत्रों में अन्तर्गर्भित सैद्धान्तिक रहस्यों को वे सरलतापूर्वक समझ लेते थे। किन्तु आगामी विषम-परिस्थितियों एवं नवीन पीढ़ियों की कठिनाईयों का ध्यान कर दूरदृष्टि-संपन्न परवर्ती पांच आचार्यों ने उन सूत्रों पर विस्तृत टीकाएँ लिखीं। ऐसे कृपालु आचार्यों में :-

१. आचार्य **पद्मनन्दि** ने षट्खण्डागम के आदि के तीन खण्डों पर १२००० गाथा-प्रमाण "**परिकर्म**" नाम की टीका लिखी। तत्पश्चात् -

२. आचार्य **शामकुण्ड** ने षटखं. तथा कसाय. (दोनों) पर १२००० गाथा-प्रमाण सं. प्रा. एवं कन्नड मिश्रित "**पद्धति**" नाम की टीका लिखी।

३. आचार्य **तुम्बुलुर** ने भी षट्खं. एवं कसाय. (दोनों) पर ८४००० गाथा-प्रमाण कन्नड में "**चूडामणि**" नाम की टीका तथा **महाबन्ध** पर ७००० गाथा-प्रमाण "**पंजिका**" टीका लिखी।

४. वृद्ध-तार्किक-सूर्य-विरुदधारी आचार्य **समन्तभद्र** ने-षट्खं. के प्रथम पांच खण्डों पर ४८००० श्लोक प्रमाण मृदुल संस्कृत-भाषा में लिखी (संभवतः "**जीवसिद्धि** नामकी टीका) और जब उन्होंने कसाय. पर टीका लिखने की तैयारी की तब द्रव्यादि-शुद्धि के अभाव के कारण उनके एक सहधर्मी ने उन्हें रोक दिया (दे. श्रुतावतार.-१७०)-(द्रव्यादिशुद्धिकरण प्रयत्न-विरहात्प्रतिनिषिद्धम्) तत्पश्चात्-

५. आचार्य **वप्पदेव** ने महाबन्ध पर ८००५ गाथा-प्रमाण टीका तथा कसाय. पर ६०००० गाथा-प्रमाण टीका लिखी।

इस प्रकार श्रुताराधक उक्त पद्मनन्दी आदि पंचाचार्यो ने लगभग छठवीं-सातवीं सदी तक क्रमशः कुल मिलाकर २३१००५ पद्य-प्रमाण समकालीन लोकप्रिय भाषाओं एवं शैलियों में विस्तृत टीकाएं लिखकर न केवल जैन-विद्या, अपितु, प्राच्य भारतीय-विद्या को भी गौरवान्वित कर उसे सुसमृद्ध बनाने का अथक प्रयत्न किया था। किन्तु दुर्भाग्य से किन्हीं अदृश्य कारणों से वह समग्र टीका-साहित्य लुप्त हो गया और इस कारण उसमें समाहित ज्ञान-विज्ञान एवं मनोविज्ञान का अपार भण्डार विस्मृत अथवा लुप्त-विलुप्त हो गया।

अभी कुछ समय पूर्व मुझे विदेशों में सुरक्षित पाण्डुलिपियों के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई थी, जिसके अनुसार विभिन्न देशों के प्राच्य शास्त्र-भण्डारों में १२७००० के लगभग भारतीय पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं, मेरी दृष्टि से उनमें अनेक जैन पाण्डुलिपियाँ अवश्य होंगी।

यहाँ मैं चीन एवं रूस के मध्य में स्थित **मंगोलिया** की पाण्डुलिपियों के विषय में संक्षिप्त चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ। इसकी राजधानी **उलान्वातार** के राजकीय ग्रन्थागार में सहस्रों भारतीय पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं, जिनमें से अभी तक की खोज में पंचतंत्र, शमनगीत (श्रमण-गीत), सुभाषितरत्न-निधि, अमरकोष, मेघदूत, चाणक्य-अर्थशास्त्र एवं कथासागर के मंगोल-अनुवाद मिले हैं किन्तु इनमें से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, वहाँ के **कंजूर-तंजूर** नाम के धर्मग्रन्थ।

''**कंजूर**'' शब्द मंगोलियाइ-भाषा का है, जिसका अर्थ है- ''**भगवान् के मुख से निकले हुए प्रवचन**'' तथा '**तंजूर**' का अर्थ है- ''**उन प्रवचनों पर लिखित टीकाएँ**''।

मेरी दृष्टि से कहीं ऐसा तो नहीं है कि पद्मनन्दि आदि पंचाचार्यों द्वारा लिखित जिस टीका-साहित्य को लुप्त-विलुप्त समझ लिया गया, वह समग्र या आंशिक रूप में कहीं **मंगोलिया** के ग्रंथागारों में तो सुरक्षित नहीं है? क्योंकि यह तो सर्वविदित ही है कि चीनी-पर्यटक **फाहियान, ह्यूनत्सांग, इत्सिंग** आदि भारतीय संस्कृति का अध्ययन करने भारत आये थे और भारत-भ्रमण के बाद जाते समय यहां से अनेक पाण्डुलिपियाँ भी अपने साथ लेते गये थे।

इस प्रसंग में यहाँ यह विचारणीय है कि उक्त पर्यटकों के आने-जाने का समय प्रायः वही है, जो उक्त टीका-साहित्य के लेखन-काल का। वे पर्यटक पांचवी-सदी के प्रारंभ से आठवीं सदी तक भारत-भ्रमण करते रहे। उन्होंने प्रायः समस्त भारत का भ्रमण किया था। इसका तो स्पष्ट उल्लेख ही मिलता है कि **ह्यूनत्सांग** स्वयं अकेले ही ६५० पाण्डुलिपियाँ अपने साथ लेकर **चीन** लौटा था।(दे. मेहता-प्राचीन भारत पृ.२५१)। लोकप्रिय होने के कारण इन पाण्डुलिपियों की संभवतः प्रतिलिपियों का वितरण भी होता रहा होगा, जो **मंगोलिया** तथा अन्य आसपास के देशों में भी पहुँची होंगी। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि भ्रमवश जैन-पाण्डुलिपियों को बौद्ध-पाण्डुलिपियाँ भी मान लिया गया। कुछ समीक्षकों के अनुसार **ह्यूत्सांग ने पाटलिपुत्र** में एक जैन-रथयात्रा को देखकर भ्रमवश उसे बौद्ध-रथयात्रा कह दिया था क्योंकि उसका ज्ञान एकांगी था।

स्थिति कुछ भी हो, आवश्यकता इस बात की है कि जैन-विद्या के विशेषज्ञों को मंगोलिया आदि देशों में जाकर स्वयं वस्तु स्थिति का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिये। मुझे विश्वास है कि लुप्त-विलुप्त घोषित हमारी कुछ पाण्डुलिपियाँ वहाँ तथा अन्यत्र विदेशों में सुरक्षित हैं और खोजने से मिल भी सकती हैं।

नवमीं-सदी के प्रथम चरण में महामति आचार्य वीरसेन-स्वामी को जब उक्त टीका-साहित्य के लुप्त हो जाने की जानकारी हुई तो वे अत्यन्त चिंतित हो उठे और सोचने लगे कि **छक्खंडागम-सुत्त** आदि पर लिखित विस्तृत टीकाएं नष्ट हो जाने के कारण स्वाध्याशील सामान्य जिज्ञासुओं के लिए उक्त आगम-सूत्रों में अन्तर्गर्भित सैद्धान्तिक रहस्यों को समझ

पाना कठिन हो गया है। तब उन्होंने **चित्रकूट (वर्त्तमान चितौड़-राजस्थान)** में विराजमान **गुरु ऐलाचार्य** के पास जाकर उनसे भाषा एवं सिद्धान्त-शास्त्र का गहन अध्ययन किया और छक्खंडागम तथा **कसायपाहुड-सुत्त** पर **धवला, महाधवला** एवं **जयधवला** नामकी विस्तृत टीकाएं अपने शिष्य जिनसेनाचार्य के सहयोग से लिखकर उसकी क्षतिपूर्ति करने का सफल प्रयत्न किया। विद्वानों ने गद्य-पद्य मिश्रित इन टीकाओं को १३२००० पद्य-प्रमाण बतलाकर उसे **मणि-प्रवाल न्याय-शैली** में लिखित कहकर उसकी अपूर्वता की भूरि-भिरि प्रशंसा की है।

आचार्य **वीरसेन-स्वामी** के जीवन परिचय की खोज के लिए विद्वानों ने अथक प्रयत्न किये किन्तु उन्हें निराशा ही हाथ लगी है। मेरी दृष्टि से उनका असली परिचय तो उक्त टीकात्रयी में विद्यमान् उनकी अगाध विद्वत्ता ही है और वही है उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण। उनकी धवला आदि टीकाएं, अपने वर्ण्य-विषय, भाषा, समकालीन संस्कृति एवं इतिहास तथा लोकजीवन संबन्धी का अपूर्व भण्डार मानी गई है। फिर भी उन टीकाओं के लेखक के जीवन-वृत्त से साहित्य-जगत् को अपरिचित ही रहना पड़ रहा है। यह दुखद आश्चर्य है।

फिर भी, उनके परम-शिष्य आद्य-पुराणकार **आचार्य जिनसेन** ने उनकी अगाध-विद्वत्ता के प्रति अपने भाव-भरित उद्‌गार व्यक्त किये हैं, जिनसे उनके महनीय व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। जिनसेन ने उनके विषय में स्पष्ट लिखा है-

यस्य नैसर्गिकीं प्रज्ञां दृष्टवा सर्वार्थगामिनीम्।
जाता सर्वज्ञ सद्‌भावे निरारेका मनस्विनः।।

अर्थात् (गुरु-) वीरसेन-स्वामी की स्वाभाविक सर्वार्थगामिनी प्रज्ञा को देखकर विद्वज्जन सर्वज्ञ के सद्‌भाव के विषय में संदेहरहित हो जाते हैं।

आचार्य जिनसेन के लिये भी इतना लिख देने मात्र से संतोष न हुआ। अतः पुनः लिखा- ''आचार्य वीरसेन-स्वामी निराशा के गर्त्त में डूबे आसन्न-भव्यों का उत्साहवर्धन करने में उसी प्रकार समर्थ हुए, जिस प्रकार पूर्णमासी का चन्द्रमा कुमुद-समूह को प्रसन्न कर देने में समर्थ होता है। वे साक्षात् केवलि-भगवान् के समान इन्द्रिय-अगोचर एवं विश्व के पारदृष्टा ऋषिपुंगव थे।''

''उनकी समस्त विषयों को आक्रान्त करने वाली भारती, सरस्वती के सदृश षट्खण्डागम की अर्थ-प्ररूपणा में कहीं भी स्खलित नहीं हुई, इसीलिए विद्वज्जन उन्हें ज्ञान की रश्मियों का प्रसार करने वाला सूर्य, श्रुतकेवली और श्रेष्ठ प्रज्ञाश्रमण कहते आये हैं।''

''प्रसिद्धि और सिद्ध-सिद्धान्त रूपी समुद्र-जल से धुलकर उनकी प्रतिभा ऐसी फेनोज्ज्वल हो गई है कि वे बुद्धि-संपन्न प्रत्येकबुद्धों के साथ भी स्पर्धा करते हैं।''

''उन्होंने चिरकालीन पोथियों अथवा आगमग्रन्थों को अपनी टीका द्वारा गौरवशाली बनाकर पूर्वकालीन समस्त पोथी-शिष्यों अथवा आगम-पाठियों से अधिक अतिशय प्राप्त किया।''

''अपने ज्ञानोपदेश द्वारा भव्यों को संबोधित करते हुए वे '**पंचस्तूपान्वय**' में ऐसे दैदीप्यमान हैं, जैसे अपनी प्रकाश-किरणों द्वारा कमलों को प्रफुल्लित करता हुआ आकाश में सूर्य। इस **आर्यनन्दी** के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य **आचार्य वीरसेन** ने अपने गुणों द्वारा अपने कुल

एवं परंपरा को निश्चय ही उज्जवल बना दिया है।''इस प्रकार दैवी-प्रतिभा-सम्पन्न वीरसेन-स्वामी के प्रति महाप्रज्ञावान् शिष्य-आचार्य **जिनसेन** की विचारोत्तेजक अभिव्यक्ति उनके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने संबन्धी हमारी जिज्ञासा को भी व्याकुल बना देती है, किन्तु विवश हैं हम, कल्पना-सागर में गोता लगाने के लिये कि उनका (वीरसेन स्वामी का) बचपन कैसा रहा होगा ? माता-पिता कैसे रहे होंगे और उनके दीक्षित होते समय उनकी माता ने पुत्र-विछोह के कारण कितना करुण-क्रन्दन किया होगा और आँसूओं के कितने पनारे बहाए होंगे ?

धवला-टीका की अंतिम प्रशस्ति इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि उसमें वीरसेन स्वामी ने स्वयं अपनी गुरु-परंपरा, अपने समकालीन नरेशों तथा धवला-टीका-समाप्ति के काल का सांकेतिक परिचय प्रस्तुत किया है। उन्होंने सर्वप्रथम अपने गुरु **एलाचार्य** का विनम्र स्मरण करते हुए कहा कि- ''एलाचार्य गुरु के महाप्रसाद से प्रस्तुत सिद्धान्त-ग्रन्थ (धवला-टीका) की रचना की गई है''। तत्पश्चात् उन्होंने अपने **पंचस्तूपान्वय** एवं अपने गुरु **आचार्य आर्यनन्दी** तथा दादागुरु-**आचार्य चन्द्रसेन** का स्मरण करते हुए बताया है के प्रस्तुत धवला-टीका सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण-शास्त्र में निपुण **वीरसेन-भट्टारक** ने लिखी है। तत्पश्चात् उन्होंने धवला-टीका की समाप्ति के समय का भी उल्लेख किया है।

किन्तु दुर्भाग्य से समय-सूचक उस अंश के अनेक अक्षरों का क्षरण हो जाने के कारण, उसका सवंत् तथा वर्ष-निर्देश और नक्षत्रों आदि के उल्लेखों का अध्ययन कर पाना कठिन हो गया था। फिर भी, छक्खंडागम सुत्त-धवला-टीका के प्रधान संपादक **प्रो. डॉ. हीरालाल जैन** ने एक विश्वस्थ ज्योतिषी की सहायता से ज्योतिष-गणना के आधार पर उस पाठ का संशोधन कराने का प्रयत्न किया था। तदनुसार वह काल-निर्देश शंक सं. ७३८ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी सिद्ध होता है (अर्थात् ८ अक्टूबर सन् ८१६ ई.)।

वह **जयत्तुंगदेव-नरेश** का शासन-काल था, जो इतिहासकारों की गवेषणा के अनुसार राष्ट्रकूट-नरेश गोविन्द-तृतीय का अपरनाम था और जिसका काल ताम्रपट्ट-लेखों के अनुसार ७९६ से ८१६ के मध्य सिद्ध होता है। अतः यही काल धवला-टीका का रचनाकाल भी सिद्ध होता है।

मूल वर्ण्य-विषय की दृष्टि से तो धवला-टीका का अपना ऐतिहासिक महत्व है, लोक-चित्रण की दृष्टि से भी उसका विशेष महत्व है। मानव-जीवन में **वास्तु-विद्या** का विशेष महत्व है। उसके सुख-दुःख, पारिवारिक सौहार्द, सामाजिक सौमनस्य, असफलता एवं रुग्णता-निरोगता आदि का सीधा संबन्ध वास्तु-विद्या से बतलाया जाता है। भवन-निर्माण के समय वास्तु-विद्या के नियमों का ध्यान रखना प्रसन्नता, प्रगति एवं स्वस्थ दीर्घायुष्य की दृष्टि से उसे आवश्यक माना गया है।

आचार्य वीरसेन ने वास्तु-विद्या की परिभाषा में बतलाया है कि- ''वास्तु-विद्या उस स्थल का (जिस पर भवन-निर्माण करना है-) तथा वास्तु-निर्माण-विधि आदि से संबन्धित विधियों के शुभाशुभ के कारणों का वर्णन करती है। शुभाशुभ का तथा भूमि-शोधन का विचार किये बिना ही भवन का निर्माण जीवन में अनर्थकारी सिद्ध हो सकता है।

आचार्य वीरसेन के अनुसार वास्तु-विद्या की दृष्टि से जिनगृहादि भवन की सुरक्षा हेतु उसके लिये चहार-दीवारी बनवाना तथा मुख्य द्वार पर तोरण एवं वन्दनवार की सज्जा को शुभकारक माना जाता है। धवला-टीका में लिखा है- "**जिणगिहादीणं रक्खणट्ठप्पासेसु ठविदं ओलित्तीओ पागार णाम**" अर्थात् जिनमंदिर आदि भवनों की रक्षा के लिए उसके चारों ओर जो परिक्रमा बनाई जाती है, उसे प्राकार अथवा परकोटा कहते हैं। तथा- "**बंदणमालवंदणट्ठं पुरदो दु ठविदरुक्खविसेसो तोरणां णाम**" अर्थात् बन्दनवार बांधने के लिये मुख्य द्वार के दोनों ओर जो वृक्ष-विशेष लगाये जाते हैं, उन्हें तोरण कहते हैं।

इसी प्रकार वास्तु-विद्या का पर्यावरण से संबन्ध, मानव-जीवन पर उसके शुभाशुभ का प्रभाव आदि की भी प्रासंगिक चर्चाएँ की गई हैं।

वर्तमान काल में विविध कारणों से विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रहीं है। उनके मूल कारण स्वास्थ्य-विरुद्ध खान-पान, लोभ-लालच की बढ़ती प्रवृत्ति एवं समन्वय-वृत्ति का अभाव आदि बतलाए जा रहे हैं। दूरदृष्टि-संपन्न आचार्य वीरसेन ने क्रमशः बदलते सामाजिक परिवेश के आधार पर दुःखद-भविष्य की कल्पना कर सच्चा नागरिक बनने के लिये निम्न छह सूत्र निर्धारित किये थे-

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।।
धवला-टीका १/९९

अर्थात् मानव को चाहिए कि वह यत्नपूर्वक (सावधान होकर) गमन करे, सावधानी पूर्वक किसी स्थल पर बैठे, सावधानी पूर्वक ठहरे, किसी के यहां सजग होकर सोवे, सावधानी पूर्वक भोजन करे और सावधानी पूर्वक वार्तालाप करे। इससे विविध पापों अर्थात् कर्मों अथवा वंचनाओं से बचा जा सकता है।

धवला-टीका की यह विशेषता है कि उसमें लुप्त अथवा विस्मृत पूर्व-साहित्य तथा द्वादशांग-वाणी का संक्षिप्त परिचय भी प्रस्तुत किया गया है, जिसके आधार पर सि. च. **आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार** में विस्तृत वर्णन किया है।

धवला-टीका के वेदना-प्रत्यय-विधान के ९०वें सूत्र में कर्म-प्रत्ययों में "**माय**" शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ टीकाकार (वीरसेन) ने '**मेय**' अर्थात् प्रस्थ आदि मान-वाचक किया है। यह '**मेय**' का '**माय**' कैसे हो गया ? उसके उत्तर टीकाकार ने "**ए ए छच्च समाणा**.............." आदि गाथा उद्धृत करते हुए कहा है कि- "**अनेन सूत्रेण प्राकृते एकारस्य अकार-विधानात्।**" इस संदर्भ पर विचार करने से प्रतीत होता है कि टीकाकार को प्राकृत-भाषा संबन्धी कोई गाथाबद्ध व्याकरण-ग्रन्थ भी उपलब्ध था जो वर्तमान में अनुपलब्ध है।

जहाँ तक मुझे जानकारी है, धवला-टीका का सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक दृष्टि से तो पर्याप्त अध्ययन किया जा चुका है किन्तु भाषात्मक, साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं लोक-चित्रण की दृष्टि से उसका अध्ययन नहीं हो सका है। अतः सर्वागीणता की दृष्टि से तथा टीका को सार्वजनीन बनाने की दृष्टि से भी उक्त तथ्यों का अध्ययन एवं शोध-नितान्त आवश्यक है।

युग बदले, परिस्थितयाँ बदली। हिन्दी का युग आ गया। उक्त टीकाओं की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों को बड़ी कठिनाइयों से उपलब्ध किया गया। उनके नागरीकरण संबन्धी कार्यों में स्वनामधन्य पं. गजपति उपाध्ये, विदुषी पं. लक्ष्मीबाई, पं. सीताराम शास्त्री एवं पं. लोकनाथ शास्त्री को लगातार लगभग १५-२० वर्षों तक एकान्तवास में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, उनका अनुभव कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। इन श्रुताराधकों का यह परिश्रम भी किसी टीकाकार के परिश्रम से कम सराहनीय नहीं क्योंकि इन्होंने जीर्ण-शीर्ण प्राच्य पाण्डुलिपियों में उपलब्ध उस दुरूह टीका-साहित्य के हिन्दी-अनुवाद के लिये मूल आधार तैयार किया था।

इस गंभीर-कार्य के लिये सन् १९३४ के आसपास जैनधर्म-दर्शन, कर्म-सिद्धान्त एवं भाषा-विशेषज्ञ विद्वानों का एक संवेदनशील-समूह सम्मुख आया, जिसमें **प्रो. डॉ. हीरालाल जैन (अमरावती), प्रो. डॉ. ए. एन. उपाध्ये (कोल्हापुर), पं. देवकीनन्दन शास्त्री (कारंजा), वाराणसी के पं. फूलचन्द जी सि. शा., पं. कैलाशचन्द्र जी सि. शा., पं. लालबहादुर जी शास्त्री एवं व्यावर-(राजस्थान) के पं. हीरालाल जी शास्त्री तथा सिवनी के पं. सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर,** ने साधनाभावों के बीच भी समर्पित-भाव से जीवन पर्यन्त धवला, महाधवला एवं जयधवला का प्रामाणिक हिन्दी-अनुवाद कर तथा आवश्यक समीक्षाएँ एवं टिप्पणियां लिखकर उसे सार्वजनीन बनाया।

इस भीमकाय सारस्वत-कार्य के प्रकाशन का भारवहन किया, विदिशा के दानवीर श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द जी परिवार एवं अमरावती के सिंघई पन्नालाल जी परिवार ने।

अथ से लेकर इति तक यह समग्र सारस्वत-कार्य सन् १९१४-१५ से लेकर लगभग सन् १९७५-७६ तक लगभग ६० वर्षों तक चला और कुल ३८ खण्डों अर्थात् लगभग २०,००० पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। इन समस्त श्रुत-संरक्षकों, उद्धारकों एवं जिनवाणी-सेवकों ने समर्पित-भाव से अपने यौवन की समस्त ऊर्जाशक्ति इस महान् कार्य में समर्पित कर दी। हम लोग उनके ऋण से उऋण तो कभी हो ही नहीं सकते। किन्तु श्रुतपंचमी के इस पावन-पर्व पर उन्हें सविनय प्रणाम कर यह प्रतिज्ञा अवश्य कर सकते हैं कि प्रतिदिन इन आगम-ग्रंथों का स्वाध याय कर तथा उन्हें खरीदकर अगली पीढ़ी को सुसंस्कृत बनाने हेतु अपने भवन में एक छोटा सा ग्रंथागार अवश्य बनावेंगे।

इधर कुछ संस्थाओं की यह भी भावना हुई है कि उक्त टीका-साहित्य का कन्नड़ एवं अंग्रेजी अनुवाद करा कर इक्कीसवीं सदी को भी सार्थक बनाया जाय, जिससे अहिन्दी भाषा-भाषी देश-विदेश के जिज्ञासु विद्वानों को भी उनके अध्ययन का सुअवसर मिल सके। इस दृष्टि से दि. जैन मठ श्रवणवेलगोला, सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री फाउन्डेशन रुड़की तथा श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान वाराणसी के प्रयत्न सराहनीय हैं, जिनके संकल्प साकार भी होने लगे हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में भी यदि उनके अनुवाद कराये जा सकें तो या प्रसन्नता का विषय होगा।

श्रुतसेवा संबन्धी उक्त रोमांचकारी एवं प्रमोदकारी तथ्यों का स्मरण कर उनमें वर्णित नैतिक आदर्शों को अपने जीवन में उतारना तथा समाजहित में उनका सर्वत्र प्रचार करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस महान् पर्व के उपलक्ष में यदि प्रत्येक ग्राम, नगर एवं शहर वासी प्रत्येक वर्ष में एक-एक जीर्ण-शीर्ण पाण्डुलिपि का उद्धार एवं प्रकाशन कर जिनवाणी की सुरक्षा की प्रतिज्ञा करे, तो वह एक प्रेरक ऐतिहासिक कार्य होगा और उसी से श्रुतपंचमी पर्व के मनाये जाने की सार्थकता भी सिद्ध होगी। किमधिकम्।

*****

-बी-५/४०सी, सेक्टर-३४
धवलगिरि, नोएडा - २०१३०७ (उ.प्र.)

संस्मरण -

- आत्म कल्याण और श्रद्धा -

मुझे याद आता है कि जब सबसे पहले सन् १९८५ में तीन लोगों को आचार्य श्री (विद्यासागर जी महाराज) ने कहा था कि जाओ धर्म की प्रभावना करने के लिए मेरे से दूर जाना पड़ेगा। हम बहुत रोये थे, बहुत मुश्किल में पड़े थे। मैंने तो कभी सोचा ही नहीं था कि मैंने जहां अपना माथा टेका था, उस जगह से अब हमें अपना माथा उठाने की आवश्यकता पड़ेगी। लेकिन आज आज्ञा सुना दी गई धर्म प्रभावना के लिए। मैंने इन्कार किया अपने जीवन में पहली बार। जहाँ श्रद्धा होती है, वहां इन्कार करने का अधिकार नहीं होता, वहां स्वीकार भर किया जाता है। इन्कार करना पड़ा लेकिन इन्कार भी ऐसा नहीं किया। मैंने कहा कि मैंने तो सोचा भी नहीं कि आपसे दूर जाना पड़ेगा और आप ही मुझे अपने से दूर कर रहे हैं।

उस समय आचार्य श्री ने एक बात कही थी। उन्होंने कहा था कि मैं कहाँ तुम्हें अपने से दूर भेज रहा हूँ। जो शिष्य मेरी आज्ञा मानता है, वह मेरे से दूर रहकर भी मेरे बहुत निकट है और जो मेरी आज्ञा नहीं मानता है, वह मेरे निकट रहकर भी बहुत दूर है। यह तो श्रद्धा के सम्बन्धों की बात है।

(मुनिश्री क्षमासागर महाराज का प्रवचन)

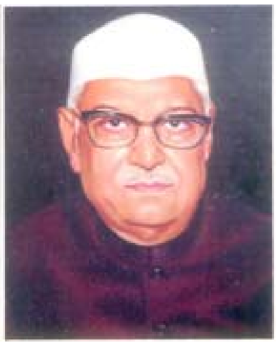

श्रद्धांजलि
ला. शीलचन्द जैन जौहरी

नई दिल्ली। लाला शीलचन्द जैन, ज्वैलर्स की दिनांक २३.४.२०१२ सोमवार को ९२ वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो गया। हमारे लिये यह समाचार बड़ा ही दुःखद है। आपका देहावसान समाधिमरण का उच्चारण करते हुए हो गया। वे धर्मिक और सामाजिक कार्यों में सदैव अग्रसर रहते थे। आप विष्णु एक्सचेंज चैम्बर के चैयरमैन थे। आपने श्रवणवेलगोला के विकास के लिए तन, मन और धन से भरपूर सहयोग दिया। वे आचार्य विद्यानन्द महाराज के विशेष भक्त रहे। वे विगत कई दशकों से "**आल इण्डिया सर्राफा एसोसिएशन**" के अध्यक्ष पद पर भी आसीन रहे। वे श्री दिगम्बर जैन पंचायत के पंच भी रहे। उनकी व्यापार में अत्यधिक प्रतिष्ठा और मान-सम्मान रहा है। उन्होंने एक दशक पूर्व सलावा ग्राम (मेरठ) में, वहाँ के श्री दिगम्बर जैन मंदिर में 'समारोह हॉल' का निर्माण कराने में पर्याप्त सहायता की थी और वहां पर पू. क्षुल्लक लालमन दास का स्टैच्यु लगवाया है। ग्रामवासियों के लाभार्थ पिछले कई दशकों पहले होम्योपैथी डिस्पैंसरी बनवाई।

लाला शीलचन्द जैन, गत कई दशकों से 'वीर सेवा मन्दिर' के माननीय सदस्य रहे हैं। अपने घर के पास भी एक होम्योपैथी डिस्पैंसरी चला रहे थे। वह **'कुन्दकुन्द भारती'** एवं **भगवान् महावीर की जन्म स्थली वासोकुण्ड (वैशाली)** के सम्मानित ट्रस्टी रहे हैं एवं दिगम्बर जैन महासमिति के सम्माननीय अध्यक्ष रहे हैं।

आप मृदुभाषी, नम्र स्वभाव के व्यक्ति रहे हैं। ऐसे व्यक्तित्व का संसार से चले जाना, समाज और धर्म के प्रति बहुत बड़ी हानि है। ऐसे महापुरुष के प्रति **वीर सेवा मंदिर परिवार** अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि प्रेषित करते हुए भावना भाता है कि दिवंगत आत्मा को सद्‌गति प्राप्त हो।

__ग्रन्थ-समीक्षा__

१. वारस अणुवेक्खा- *(भाग-१ एवं भाग-२) - श्रीमद् भगवत्-कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित की सर्वोदया टीका- टीकाकार- श्रीमद्गणाचार्य विरागसागर महाराज, संपादन एवं संस्कृत से हिन्दी भाषा अनुवाद- प्रो. दमोदर शास्त्री, प्रकाशक- भारतीय ज्ञानपीठ-१८, इन्स्ट्टीयूशनल एरिया, लोधी रोड, नई दिल्ली-३, प्रथम संस्करण-२०१२, मूल्य प्रत्येक भाग रु. ४५०/- कुल पृष्ठ-९८४+७६ =१०६०*

बारस अणुवेक्खा पर अभी तक संस्कृत या अन्य भाषा में कोई टीका उपलब्ध नहीं थी। इस कमी को अनुभव करके गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज ने एक विस्तृत संस्कृत टीका 'सर्वोदया' लिखी है, जो गागर में सागर की उक्ति को चरितार्थ करती है। इसमें जैन परम्परा के ३८ महनीय ग्रन्थों का सार समाया हुआ है। प्रकाशक के प्रेरक है- उपाध्याय श्री प्रज्ञसागर जी मुनिराज। यह ग्रन्थ तत्त्वज्ञानियों, मुमुक्षुओं और अध्येताओं के लिए अत्यन्त मननीय व पठनीय है। यह ग्रन्थराज- संसार-शरीर और भोगों के यथार्थ स्वरूप का चित्रण करता हुआ निज स्वरूप से प्रीति कराकर वैराग्य भावना को दृढ़ व पुष्ट करता है।

*****

२. 'समयसार' - *आचार्य कुन्द कुन्द कृत, हिन्दी अनुवाद- डॉ. जयकुमार 'जलज', संपादन- आचार्य कल्याणबोधि, प्रकाशक- हिन्दी ग्रंथ कार्यालय मुम्बई, पृष्ठ सं. १०४, द्वितीय संस्करण-२०१२, मूल्य रु.८०/-*

डॉ. जयकुमार 'जलज' द्वारा किया गया समयसार का यह अनुवाद हमें समयसार की गाथाओं तक पहुंचाने का एक सीधा सरल रास्ता उपलब्ध कराता है और बिना आतंकित किए सिर्फ वहीं तक हमारे साथ चलता है, जहाँ तक जरूरी है। इसका पहला संस्करण छपते ही बिक गया। अनुवादकर्ता 'जलज' की 'प्रास्ताविक' जो सात पृष्ठों में है, मौलिक एवं पठनीय है। डॉ. जलज लिखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द भगवान महावीर के सिद्धान्तों का जिस गहन भावात्मक जुड़ाव के साथ प्रतिपादन करते हैं उनकी कविता और मौलिकता उसी में है। वे मनुष्य की चाहे श्रावक हो या श्रमण, हर कमजोरी को जानते हैं और छल, अज्ञान, अहंकार, मिथ्यात्व आदि से सावधान रहने की अलख जगाते हैं।

समीक्षाकार- प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

Year-65, Volume-4 Oct.- Dec.2012
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

धर्म-दर्शन तुलनात्मक विशेषांक

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)
Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) ⊠ (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक / Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' / **Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'**

सम्पादक मण्डल / Editor

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी / Prof. Phoolchand Jain 'Premi', Varanasi,

प्रो. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी, / Prof. Kamlesh Kumar Jain, Varanasi,

प्रो. उदयचन्द जैन, उदयपुर / Prof. Udaychand Jain, Udaipur,

डॉ. हुकुमचन्द जैन, दिल्ली / Dr. Hukumchand Jain, Delhi,

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली / Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subsercription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondance for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

ऐसा सुमरन कर मेरे भाई

ऐसो सुमरन कर मेरे भाई,
पवन थंभै मन कितहूँ न जाई।।
    परमेसुर सों सांच रहीजै
    लोकरंजना भय तज दीजै।। ऐसो..
जप अरू नेम दोउ विधि धरै,
आसन प्राणायाम संभारै।
    प्रत्याहार धरना कीजै,
    ध्यान समाधि महारस पीजै। ऐसो..
सो तप तपो बहुरि नहिं तपना,
सो जप जपो बहुरिं नहिं जपना।
    सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना
    ऐसे मरो बहुरि नहिं मरना। ऐसो...
पंच परावर्तन लखि कीजै,
पांचों इन्द्रियन को न पतीजै।
    ''द्यानत'' पांचों लच्छि लहीज,
    पंच परम गुरू शरन गहीजै।। ऐसो...

– द्यानतराय

विषयानुक्रमणिका

	विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	वैदिक संस्कृति एवं जैन संस्कृति	डॉ. जयकुमार जैन	07
2.	जैनधर्म और इस्लाम	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	19
3.	ईसाई व जैन धर्म का तुलनात्मक अध्ययन	प्रो. वीर सागर जैन	27
4.	ईसाई व इस्लाम धर्म का उद्गम एवं शिक्षाएं	डॉ. त्रिलोक चंद कोठारी	31
5.	जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म दर्शन एक तुलनात्मक दृष्टि	डॉ. धर्म चन्द्र जैन	35
6.	जैन दर्शन एवं पातञ्जलयोग दर्शन एक तुलनात्मक अनुशोधान	डॉ. अशोक कुमार जैन	46
7.	मीमाँसा दर्शन और जैन धर्म एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. कुलदीप कुमार	53
8.	जैन धर्म एवं पर्यावरण संरक्षण	प्राचार्य पं. निहालचंद जैन	58
9.	जैन धर्म एवं इस्लाम	डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	63

English Version

10.	Anekant an Mutual Tolerance	Prof. M.L. Jain	69
11.	Comparative study of Jain Philo.	Dr. Samani Shashi Projna	72
12.	Jainism and other Religious Tabular Summarised.	Edited. Pt. Nihal chand jain	90
13.	Short list of Reference and Reading on comparative study	Compiled by Prof. M.L. Jain	95

सम्पादकीय

प्राचीन काल में भारत के सभी धार्मिक सम्प्रदाय दो भागों में विभक्त थे - वैदिक और श्रमण। श्रमण सम्प्रदाय भी कालान्तर में दो भागों में विभक्त हो गया- जैन और बौद्ध। वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में जैन संस्कृति की अनेक बातें किंचित् परिवर्तित रूप में दृष्टिगत होती है। फलतः कहा जा सकता है कि जैन साहित्य जैनेतर वैदिक एवं बौद्ध साहित्य से असम्बद्ध नहीं है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ. एम. विन्टरनित्ज ने लिखा है -

" In the sacred texts of the Jainas, a great part of the asectic litrature of ancient India is embodies, which has also left, its traces in Buddhist literature as well in the Epics and Puranas. Jaina literature is therefore closely conected with the other branches of Post-Vedic religions literature.

(Jainas in the literature page 6-7)

जैन साहित्य में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनकी तुलना वैदिक एवं बौद्ध साहित्य से की जा सकती है। अनेक स्थलों पर शब्दसाम्य एवं अर्थसाम्य दृष्टिगोचर होता है। अनेक वर्गों के लोग जब एक साथ रहते हैं तो यह स्वाभाविक ही है कि वे पारस्परिक आदान-प्रदान से प्रभावित हुए हों। किन्तु यह बात असंदिग्ध रूप से नहीं कही जा सकती है कि किसने किससे ग्रहण किया है या किसने किसको प्रदान किया है ? क्योंकि कोई साहित्य पहले लिपिबद्ध हो जाने मात्र से वैचारिक रूप से प्राचीन हो, यह आवश्यक नहीं है।

एक समय था जब प्रत्येक विचारक अपने विचार की संस्थापना के लिए परानुमत विचार का खण्डन करता था। किन्तु अब यह पद्धति समाप्तप्राय है। अद्यावधि सहिष्णुता समाज का एक आवश्यक अंग बन गई है। भारतीय संस्कृति अनादिकाल से अनेक विचारों के अवदान से सतत प्रभावित होती रही है। अतः यह आवश्यक है कि इसके वास्तविक मूल्यांकन के लिए जैन एवं जैनेतर विचारकों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये।

वीर सेवा मन्दिर के पदाधिकारियों की भावना के अनुरूप श्रुतपंचमी महोत्सव के अवसर पर विविध विचारों की तुलना को आधार बनाकर एक

व्याख्यानमाला आयोजित की गई। इसमें डॉ. धर्मचन्द्र जैन जोधपुर ने जैन एवं बौद्ध, डॉ. जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर ने जैन एवं वैदिक, डॉ. वीरसागर जैन दिल्ली ने जैन एवं ईसाई तथा डॉ. रमेशचन्द्र जैन बिजनौर ने जैन एवं इस्लाम पर अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये। इसके अलावा प्रस्तुत विशेषांक में डॉ. त्रिलोकचन्द कोठारी का ईसाई व इस्लाम धर्म का उद्भव एवं शिक्षाएं, जैनदर्शन एवं पातञ्जलयोग दर्शन का तुलनात्मक अनुशीलन (डॉ. अशोक कुमार जैन, बीएचयू) मीमांसा दर्शन और जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन (कुलदीप कुमार जैन), डॉ. अनेकान्त जैन का जैनधर्म और ईस्लाम आदि के तुलनात्मक अध्ययन विषयक महत्त्वपूर्ण आलेख भी समाहित किये गये हैं। प्रस्तुत विशेषांक की कुछ सामग्री जुटाने में प्रो. एम. एल. जैन (संपादक मण्डल सदस्य) का विशेष सहयोग रहा है जिन्होंने स्वयं एक आलेख एवं उससे संबन्धित संदर्भित पाठ्य-सामग्री की सूची प्रदत्त की है। वीर सेवा मन्दिर के निदेशक प्राचार्य निहालचंद जैन ने भी इस अंक को संवारने में अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव एवं सहयोग दिया। इन विद्वानों के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। यद्यपि विचार वैभिन्य के कारण किन्हीं भी दो विचार धाराओं में सर्वथा ऐक्य संभव नहीं है किन्तु उनमें प्रतिपादित कतिपय जीवनमूल्यों में साम्य अवश्य है। मुझे विश्वास है कि इस साम्य के विवेचन से विविध सामाजिक वर्गों में जो सहिष्णुता की भावना वृद्धिंगत होगी, उससे निश्चित ही देश में सौहार्द का वातावरण निर्मित होगा।

अनेकान्त (शोध त्रैमासिकी) के लिए समस्त विद्वान लेखकों का इसी प्रकार सहयोग भविष्य में बना रहेगा, इसी आशा के साथ-

- डॉ. जयकुमार जैन

वैदिक संस्कृति और जैन संस्कृति

- डॉ. जयकुमार जैन

संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। अतः संस्कृति शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- सम्यक् प्रकार से किया गया कार्य। संस्कृति शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यजुर्वेद में दृष्टिगत होता है-

'आच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।'[१] अर्थात् सोम के सवन, पान और प्रदान की प्रक्रिया से विश्व का स्वरूप स्थिर होता है। यह प्रथम संस्कृति है।

तत्पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में संस्कृति का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के विशिष्ट आचार को संस्कृति कहा गया है[२] तो ऐतरेय ब्राह्मण में **'आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि'**[३] कहकर शिल्प सभ्यता या व्यवहार को संस्कृति कहा है। उपर्युक्त से फलित होता है कि मानव के आचार, विचार और व्यवहार का नाम संस्कृति है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विद्वान् प्रो. सत्य प्रकाश शर्मा का कहना है- 'मानव अपने लौकिक या पारलौकिक सर्वविध कल्याण के लिए जिन आचारों एवं विचारों का आश्रय लेता है, वे ही संस्कृति हैं।[४]

जन जीवन पर जिसका सबसे अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है, वह तत्त्व धर्म है। धर्म के द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि के आचार, विचार और व्यवहार की निर्मिति होती है। जीवन के समूचे चक्र को धर्म प्रभावित करता है। अतः वैदिक धर्म से प्रभावित आचार, विचार एवं व्यवहार को वैदिक संस्कृति तथा जैन धर्म से प्रभावित आचार, विचार एवं व्यवहार को जैन संस्कृति नाम दिया गया है।

धर्म में जहाँ कट्टरता की संभावना विद्यमान रहती है, वहाँ संस्कृति में लचीलापन पाया जाता है। किसी भी धर्म का कट्टर अनुयायी एक ऐसा अफीमची हो जाता है, जिसे अपनी धार्मिक रूढ़ियों का गहरा नशा होता है तथा वह सत्य को नहीं समझ पाता है। इसकी झलक पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के **'येषां च विरोधः शाश्वतिकः**[५] सूत्र के उदाहरणों में काकोलूकम्, श्वश्रृगालम् के साथ श्रमणब्राह्मणम् में देखी जा सकती है। संस्कृति ऐसे अवसर पर अन्य धर्मावलम्बी के प्रति सहिष्णुता एवं आचारण की उदारता की राह बताती है। जब-जब यह सहिष्णुता एवं उदारता समाप्त हो जाती है तब-तब दो समुदायों में टकराहट होने लगती है। विचारकों/संस्कृतिज्ञाताओं का कर्तव्य है कि वे डूबने वाले जहाज के छेदों को बन्द करने की राह बतायें, उन छेदों को संस्कृति मानकर बड़ा न होने दें। भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध, नानक, कबीर, दादू या अन्य मानवतावादी महापुरुषों एवं सन्तों ने सच्ची राह दिखाई है, आज भी उसी की आवश्यकता है।

वैदिक और जैन दोनों संस्कृतियाँ अत्यन्त प्राचीन हैं, उन्हें काल की इयत्ता में बांधना संभव नही है। पाणिनीकृत अष्टाध्यायी के 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' सूत्र में

'ब्राह्मणश्रमणम्' उदाहरण इस तथ्य का अकाट्य निदर्शन है। दोनों ही संस्कृतियों में आचार, विचार एवं व्यवहारगत कतिपय समानतायें तथा कतिपय भिन्नता दृष्टिगोचर होती हैं। १९२२ ई. में सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉ. आर. डी. बनर्जी ने मोहनजोदड़ों में तथा रायबहादुर दयाराम साहनी ने हड़प्पा में जो अवशेष प्राप्त किये थे, इस आधार पर जैन संस्कृति भी प्रागैतिहासिक सिद्ध होती है। क्योंकि वहां प्राप्त मुद्राओं पर 'जिन इस्सर' (जिनेश्वर) पढ़ा गया है तथा उन पर अंकित आकृति नग्न योगी की स्वीकार की गई है। वेदों में उल्लिखित शिश्नदेव, दस्यु, दास, पणि कदाचित् सिन्धुघाटी के मूल निवासी थे तथा इनकी आचार, विचार एवं व्यवहार की पद्धति कथंचित् वैदिक संस्कृति से भिन्न थी। प्रो.सत्यदेव मिश्र ने लिखा है कि दोनों (वैदिक और जैन) भारत के सनातन और जीवन्त धर्म हैं और दोनों में देशकाल की इयत्ता के अतिक्रमण का सामर्थ्य है। वे अन्यत्र लिखते हैं- 'सत्यान्वेषण भारतीय दर्शन का प्रमुख वैशिष्ट्य है। .... समन्वयवादी जैन चिंतकों ने सत्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त मानकर द्रव्य तथा पर्याय दोनों की परमार्थ सत्यता का उद्घोष किया है तथा स्वसिद्धान्त को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिष्ठित किया है।[६]

सर्वप्रथम दोनों संस्कृतियों के आचार एवं व्यवहारगत साम्य पर विचार करना अभीष्ट प्रतीत होता है, ताकि यह समझा जा सके कि एक स्थान पर फलने-फूलने वाली दो संस्कृतियाँ कभी भी सहिष्णुता के बिना नहीं रह सकती हैं।

आचार का अर्थ :

आचार शब्द आ उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से धञ् प्रत्यय का निष्पन्न रूप है। कोश के अनुसार आचरण, व्यवहार, चालचलन, कर्तव्य आदि आचार शब्द के अर्थ हैं। 'आचर्यते यः स आचारः' व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक की जाने वाली क्रिया को आचार् कहा जा सकता है किन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार मानव के व्यवहार की उत्कृष्टता का नाम आचार है। प्राणी मात्र में आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन की समानता होने पर भी जो तत्त्व मानव को अन्य प्राणियों से उत्कृष्ट सिद्ध करता है, उसका नाम आचार है।

आचार शब्द में प्रयुक्त चर् धातु व्याकरण में दो अर्थों में प्रयुक्त होती है- गति और भक्षण।[७] इन दोनों अर्थों में जो गति अर्थ है उसके गमन, ज्ञान और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं। फलतः आचार का तात्त्विक अर्थ हुआ जो खाने के लिए गति करता है वह पशु है तथा जो ज्ञान (मुक्ति प्राप्ति) के निमित्त भक्षण करता है, वह मनुष्य है।

वेद में चर् धातु का आचार के सम्बन्ध में प्रयोग करते हुए कहा गया है कि करणीय कर्म का विधान और अकरणीय कर्म का निषेध आचार का विषय है। यथा-

'नकिर्देवा मिमीनसि नकिरा योपयामसि। मन्यश्रुत्यं चरामसि।।[८]

अर्थात् न तो हम हिंसा करते हैं न फूट डालते हैं; हम तो मंत्र के अनुसार आचरण करते हैं।

'स्वस्ति पन्थानमनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताध्नता जानता सं गमेमहि।[९]

हम सूर्य एवं चन्द्रमा के समान कल्याण के पथ का अनुसरण करें, बार-बार दानी, अहिंसक और ज्ञानी के साथ संगति करें।

मनुस्मृति में आचार शब्द को सदाचार का द्योतक मानते हुए कहा गया है कि जिस देश में जो आचार परम्परागत है, उनका वह आचार सदाचार कहलाता है-

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्चते।।[१०]

जैन परम्परा में भी आचार को सदाचार के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया है तथा आचार एवं विचार को अन्योन्याश्रित मानकर आचार के मूल में अहिंसा और विचार के मूल में अनेकान्त को रखा गया है। अन्य भारतीय परंपराओं की तरह जैन परंपरा में भी विचार को दर्शन कहा गया है और दोनों को परस्पर पूरक मानकर दर्शन (विचार) रहित धर्म (आचरण) को अन्धा तथा आचार रहित विचार की पंगु कहा गया है।[११] पं. आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में स्पष्ट रूप से कहा है कि अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल किये गये सम्यग्दर्शन आदि में जो प्रयत्न किया जाता है, उसे आचार कहते हैं।[१२]

आचार का महत्त्व :

वैदिक परंपरा में आचार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए स्पष्ट घोषणा की गई है कि आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं -

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'[१३]

जो आचार नहीं समझता है, वैदिक ऋचा उसका क्या कल्याण कर सकती है- '

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।[१४]

आचार ही परम धर्म है - **'आचारः परमो धर्मः।'**[१५]

आचार के प्रमुख तत्त्व :

आचारवान् व्यक्ति के लिए वैदिक परंपरा में सद्गृहस्थ और जैन परम्परा में श्रावक या उपासक शब्द का प्रायः प्रयोग किया गया है। आचार के प्रमुख तत्त्वों में दोनों ही परम्पराओं में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सर्वसुखकामना) जैसे व्रतों को प्रतिष्ठा मिली है, भले ही दोनों परम्पराओं में व्यावहारिक रूप से पर्याप्त भेद दृष्टिगोचर होता हो एवं शास्त्रीय विवेचना में भी अन्तर हो। व्यसनों के त्याग एवं दान को भी एक सद्गृहस्थ के लिए दोनों परम्परायें आवश्यक मानती हैं।

(क) पञ्चव्रत पालन - प्रवृत्ति एवं निवृत्तिरूप व्रत पाँच हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

१. अहिंसा - किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से पीड़ा न देना अहिंसा है। वेदों में अहिंसा या हिंसाविरति अनेक उल्लेख मिलते हैं। जो व्यक्ति अहिंसा या हिंसाविरति को आचरण में लाता है, वह अहिंसक कहलाता है। कतिपय उल्लेख द्रष्टव्य है -

'यून्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य पापां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे।[१६]

अहिंसक प्रिय मित्र की शरण में रहकर श्रेष्ठ जीवन पाते हैं। मैं भी अहिंसक मित्र के मार्ग पर चलूँ। जीवन में कभी भी हिंसक व्यक्ति के मार्ग पर न चलूँ।

'यो नः कश्चिद् रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः।
स्वै स्व एवै रिरिषीष्टयुर्जनः।।[१७]

जो राक्षसी आदत के कारण हिंसा करना चाहता है, वह अपने कर्मों से स्वयं ही मारा जाता है।

'मा हिंसीस्तन्वाः प्रजाः। मा हिंसीः पुरुषम्। इदं मा हिंसीः द्विपादं पशुम्। अश्वं मा हिंसीः। अविं मा हिंसीः। धृतं दुहानामदितिं जनाय मा हिंसीः।'[१८] अपने शरीर से प्रजा को मत मारो। मनुष्य की हिंसा मत करो। दुपाये मनुष्य और पशु को मत मारो। भेड़ ऊन देती है, उसे मत मारो। घोड़े को मत मारो। लोगों के लिए गाय दूध देती है, उसे मत मारो।

हिंसा के दो कारण हैं- स्वार्थ और विद्वेष। अथर्ववेद में भी स्थान-स्थान पर प्रमाद एवं विद्वेष न करने का कथन किया गया है। यथा-

'मा जीवेभ्यः प्रमदः।'[१९] (जीवों से प्रमाद मत करो।)

'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमाभिदर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[२०]

(मैं तुम्हारे समान ह्रदय, समान प्रतियुक्त मन तथा अविद्वेष भाव को स्थापित करता हूँ, तुम एक दूसरे से ऐसे प्यार करो जैसे गाय नवजात बछड़े को प्यार करती है।)

उपर्युक्त संदर्भो से स्पष्ट है कि वेदों की मूल भावना अहिंसामय सुखशांति की ही है। वहाँ राक्षसों की जो हिंसा का भी कथन किया गया है, वह सुख-शांति की स्थापना के लिए विरोधी हिंसा समझना चाहिए।

जैन संस्कृति की तो आधारशिला ही अहिंसा है। वहाँ अहिंसा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। जैनाचार में प्रमाद के योग से स्वपर के प्राणों के पीडन को हिंसा माना गया है। आचार्य उमास्वामी का कथन है-

प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।'[२१]

आचार्य समन्तभद्र स्वामीने एक सद्गृहस्थ की अहिंसा का वर्णन करते हुए लिखा है-

संकल्पात् कृतकारितमननाद् योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद् विरमणं निपुणः।।'[२२]

मन, वचन, काय के संकल्प से और कृत कारित अनुमोदन से त्रस जीवों को जो नहीं मारता है, वह स्थूल हिंसा से विरक्त होता है। यही अहिंसाणुव्रत या एक सद्गृहस्थ की अहिंसा है।

सागारधर्मामृत में कहा गया है-

'आरंभेऽपि सदा हिंसा सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत्।
ध्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽध्नन्नपि धीवरः।।'[२३]

अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्य आरंभ (गृहस्थी के कार्यो) में भी संकल्पी हिंसा को सदा त्याग दे। क्योंकि बिना संकल्प के जीवों का घात करने वाले किसान से संकल्प करके जीवों का घात न होने पर भी धीवर अधिक पापी है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि हिंसा चार प्रकार की कही गई है- संकल्पी, उद्योगी, आरंभी और विरोधी। एक जैन गृहस्थ चतुर्विध हिंसा में से संकल्पी हिंसा का नियम से त्यागी होती है। शेष हिंसाओं को वह हिंसा रूप तो समझता है, किन्तु उनसे बच नहीं पाता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने हिंसक पुरुष के निष्पृहता, महत्ता, निराशता, दुष्कर तप, कायक्लेश एवं दान आदि सभी धर्मकार्यों को व्यर्थ माना है।[२४] मनुस्मृति में 'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।'[२५] कहकर जहां याज्ञिक हिंसा को पाप नहीं माना है, वहां जैनाचार किसी भी प्रकार की हिंसा को विहित नहीं मानता है।

२. सत्य - सत्य को सभी भारतीय संस्कृतियों में मानव जीवन का प्रशस्यतम गुण माना गया है। सत्य शब्द सत् से निष्पन्न होने के कारण मूलतः सत्ता या वास्तविक अर्थ का वाचक है। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर सत्य का इसी रूप में प्रयोग हुआ है। यथा-

स किलासि सत्यः।[२६] (वह तू वास्तविक है।)
मरुतां महिमा सत्योअस्ति।[२७] (मरुत् देवों की महिमा वास्तविक है।)
तयोर्यत्सत्यम्।[२८] (उन दोनों में जो सच्चा है।)
त्वं सत्य इन्द्र।[२९] (हे इन्द्र ! तुम सत्य हो।)

शताधिक स्थानों पर वेदों में सत्य शब्द का प्रयोग हुआ है, जो सत्य की महत्ता का कथन करने में समर्थ है।

वेदों में सत्य के लिए ऋत शब्द का प्रयोग तथा असत्य के लिए अनृत शब्द का प्रयोग किया गया है। ये प्रयोग जैन आचारविषयक ग्रन्थों में भी उपलब्ध है। वैदिक परंपरा में आचार्य शाकटायन के विचार में सत्य वह है, जो वर्तमान पदार्थ का तात्त्विक बोध कराये।[३०] अर्थात् यास्क के अनुसार 'सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा'[३१] अर्थात् जो सज्जनों में विस्तार को प्राप्त होता है अथवा जो सज्जनों में प्रकट होता है, वह सत्य है। जैनाचार्य पूज्यपाद कहते हैं कि- ' सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुवचनं सत्यामित्युच्यते।[३२] अर्थात् अच्छे पुरुषों के साथ साधुवचन बोलना सत्य है। विदुर महर्षि के अनुसार छल रहित वचन सत्य है।[३३] कुल्लूकभट्ट कहते हैं कि जैसा देखा, जैसा सुना हो वैसा यथार्थ कहना सत्य है- ' यथादृष्टं श्रुतं तत्त्वं ब्रूयात्।[३४] वेदों में सत्य की बहुशः प्रशंसा की गई है। अथर्ववेद में सत्य पर बल देते हुए कहा गया है प्राण सत्यवादी को उत्तम लोक में स्थापित करते हैं।[३५] असत्यवादी को वरुण के पाश में बांध लेते हैं।[३६]

जैनाचार में एक श्रावक या सद्गृहस्थ के सत्य का विवेचन करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं-

स्थूलमलीकं न वदति न परान्वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद् वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम्।।'[३७]

श्रावक स्थूल झूठ न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवावे तथा जिस वचन से विपत्ति आती हो ऐसा वचन यथार्थ भी न कहे। सत्पुरुष इसे गृहस्थ का सत्य कहते हैं। इसमें

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मो सनातनः।।' की भावना यथावत् प्रकटीकृत है।

आचार्य शुभचन्द्र ने सत्य का माहात्म्य बताते हुए कहा है कि सत्य व्रत श्रुत एवं नियमों का स्थान है, विद्या और विनय का भूषण है तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति का कारण है।[३८] ऋग्वेद में **'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः'**[३९] कहकर सत्य को विश्व का रक्षक प्रतिपादित करते हुए उसकी महत्ता का गान किया गया है।

३. अस्तेय या अचौर्य - ऋग्वेद में चोरी के प्रति घृणा का भाव व्यक्त करते हुए चोर को दण्डित करने की अनेकत्र उल्लेख है। कतिपय स्थल द्रष्टव्य है-

उत स्तैन वस्त्रमथिं न तायुमनु कोशन्ति क्षितयो भरेषु।[४०]

(वस्त्र हरण करने वाले के शरीर को देखकर लोग चीत्कार करने लगते हैं।)

स्तेनं बद्धमिवादिते।[४१] (वह चोर को बांधकर दण्ड प्रदान करता है।)

यजुर्वेद में तो स्पष्ट रूप से चोर को हिंसक घोषित करते हुए अग्निदेव से उन्हें नष्ट करने की प्रार्थना की गई है।[४२] विविध स्मृतियों में चोरों को की गई दण्ड व्यवस्था से सहज ही वैदिकाचार में चोरी को पाप एवं अस्तेय या अचौर्य को व्रत मानने की परंपरा का संकेत मिलता है।

जैनाचार में अदत्त वस्तु को ग्रहण करना चोरी कहा गया है- 'अदत्तादानं स्तेयम्।'[४३] इसमें प्रमाद का योग रहता है। चोरी करने के उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, राज्य के नियमों के विरुद्ध कर आदि बचाना, माप-तौल को कमती-बढ़ती रखना और अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाना ये पांच अचौर्य के दोष कहे गये हैं।[४४] इनमें भारतीय दण्ड संहिता की चोरी की सभी धाराओं का प्रायः समावेश हो गया है। भगवती आराधना में तो यहां तक कह दिया गया है कि सुअर का घात करने वाला, मृग आदि को पकड़ने वाला और परस्त्री गमन करने वाला, इनसे भी चोर अधिक पापी है।[४५] अचौर्य व्रत का संयम की वृद्धि में कारण कहा गया है।

४. ब्रह्मचर्य - एक गृहस्थ की पूर्णता वैवाहिक जीवन से होती है। ऋग्वेद के सूर्य सूक्त में वर कन्या का पाणिग्रहण करते हुए कहता है कि मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ। तू मेरे साथ वृद्ध अवस्था को प्राप्त करे। तू गार्हपत्य कर्म अर्थात् धर्मसाधना के लिए प्रदान की गई है।[४६] विवाह संपन्न हो जाने पर उपस्थित जन वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं-

इहैव स्त मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।'[४७]

तुम दोनों यहाँ रहो, कभी वियुक्त न हो, पुत्रों एवं पौत्रों के साथ क्रीडा करते हुए अपने घर में प्रसन्न रहते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करो।

अथर्ववेद में पत्नी की यह हार्दिक इच्छा प्रकट की गई है कि तुम केवल मेरे हो। तुम अन्य स्त्रियों की चर्चा भी मत करो।[४८] इस विवेचन से स्पष्ट है कि स्वपतिसन्तोष या स्वपत्नीसन्तोष को गृहस्थ का एकदेश ब्रह्मचर्य व्रत माना गया है। जैनाचार में भी ब्रह्मचर्याणुव्रत में यही भावना विशदता से अभिव्यक्त होती है।

जैनाचार में अध्यात्म मार्ग में ब्रह्मचर्य को सबसे प्रधान माना गया है। निश्चय से तो ब्रह्म या आमा में रमणता ही ब्रह्मचर्य है, किन्तु व्यवहार में परस्त्रियों के प्रति राग रूप परिणामों का त्याग करना ब्रह्मचर्य है।[४९] गृहस्थ के ब्रह्मचर्याणुव्रत का कथन करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी का कथन है कि जो पाप के भय से न तो स्वयं परस्त्री के प्रति गमन करे न दूसरों को गमन करावे वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।[५०]

स्याद्वादमंजरी में वैदिक परंपरा का एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहा गया है-

'एकरात्रौषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः।
न सा क्रतुसहस्रेणु प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिरः।।'[५१]

अर्थात् एक रात के ब्रह्मचर्य से रहने वाले पुरुष को जो उत्तम गति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करने वालों को भी नहीं मिलती है। यह कथन दोनों परम्पराओं में ब्रह्मचर्य की महत्ता को सिद्ध करने में पर्याप्त है।

५. अपरिग्रह (परिग्रह परिमाण) बनाम सर्वसुखकामना - जैनाचार के अपरिग्रहवाद में जहां साधु की ममत्वरहितता के कारण निर्वाणप्राप्ति का भाव निहित है, वहाँ श्रावक के परिग्रहपरिमाण में सर्वसुख की भावना छिपी हुई है। ऋग्वेद के शिवसंकल्पसूत्र में **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'** (तुम्हारी संगति समान हो, तुम्हारी वाणी में समानता हो, तुम्हारे मन में विचार समान हों) में भी सर्व सुख की भावना दृष्टिगोचर होती है। वेदों में संपूर्ण लोगों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए जरूरत से अधिक वस्तुओं के संग्रह न करने के विधान के संकेत मिलते हैं। जैनाचार में परिग्रह के परिमाण का विधान करते हुए कहा गया है कि लोभ कषाय को कम करके, संतोष रूपी रसायन से संतुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णा का घात करता है और अपनी आवश्यकता को जानकर धन-धान्य, सुवर्ण, क्षेत्र आदि का परिमाण करता है, वह परिग्रह परिमाण अणुव्रत है।[५२]

(ख) सप्तव्यसनत्याग - जो पुरुष को समीचीन मार्ग छोड़कर कुत्सित मार्ग में प्रवृत्ति कराते हैं, उन्हें व्यसन कहा जाता है। व्यसन शब्द यहां बुरी आदत का प्रतीक है। श्री पद्मनन्दी आचार्य ने लिखा है -

'द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपरांगना।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः।।'[५३]

अर्थात् जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यागमन करना, शिकार करना, चोरी करना तथा परस्त्री सेवन करना ये सात व्यसन हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति को इनका त्याग कर देना चाहिए।

१. द्यूत - ऋग्वेद में जुआरी के परिवार का चित्रण करते हुए कहा गया है कि जुआरी के माता-पिता एवं भाई भी उसके विषय में कहते हैं कि इसे बाँधकर ले जाओ।[५४] अक्ष सूक्त में जुआरी की विविध दुर्दशाओं का वर्णन करते हुए अन्त में कहा गया है कि जुआ मत खेलो, खेती करो।[५५]

जैन परम्परा में कहा गया है कि जिस क्रिया में पाँसे आदि डालकर धन की हार-जीत होती है, वह सब जुआ कहलाता है।[५६] विविध श्रावकाचारविषयक ग्रन्थों में जुआ की पर्याप्त निन्दा की गई है। आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार जुआ सब अनर्थों का कारणहै -

'सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्।।'[५७]

अर्थात् सभी व्यसनों में प्रमुख, पवित्रता या संतोष का नाशक, छल-कपट का घर तथा चोरी एवं असत्य का स्थान ऐसे जुआ को दूर से ही त्याग देना चाहिए। पण्डित प्रवर आशाधर जी ने तो जुआ को सभी अनर्थों की जड़ कहा है- **'क्व स्वं न क्षिपति नानर्थे।**[५८]

२. मांस - यजुर्वेद में विध्यात्मक अहिंसा के साथ निषेधात्मक हिंसा के विवेचन से मांसभक्षण को दुर्व्यसन के रूप में मानने का सुस्पष्ट संकेत मिलता है-

अश्वं मा हिंसीः।[५९] मा हिंसीरेकशफं पशुम्।[६०]
अविं मा हिंसीः।[६१] इदमुर्णायुं मा हिंसीः।[६२]
घृतं दुहानामदितिं मा हिंसीः।[६३]

इन कथनों में अश्व, एक खुर वाले पशु, बकरी, भेड़ एवं गाय को मारने के निषेध के कथन स्पष्ट करते हैं कि वेदों में मांस-भक्षण को बुरा एवं त्याज्य माना गया है।

जैन श्रावकाचार के प्रमुख ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि प्राणियों के घात के बिना मांस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए मांसभक्षी को अनिवार्य हिंसा होती है। स्वयं मरे हुए भैंस, बैल आदि जीवों के भक्षण में भी हिंसा है, क्योंकि उनके आश्रित रहने वाले अनन्त निगोदिया (क्षुद्र) जीवों की हिंसा वहां पाई जाती है। कच्ची, अग्नि में पकी या पक रहीं सभी प्रकार की मांसपेशियों में उसी जाति के अनन्त निगोदिया जीव प्रति समय उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए उनको खाने वाला उन करोड़ों जीवों का घात करता है।[६४]

३. सुरापान - ऋग्वेद में सुरा पीने वालों की निंदा करते हुए कहा गया है - "**हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।** ऊधर्न नग्ना जरन्ते।"[६५] अर्थात् सुरा का पान करने वाले मदमस्त होकर लड़ते हैं और नंगे होकर बकते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि मदिरा मन को मोहित करती है। मोहितचित्त व्यक्ति धर्म को भूल जाता है तथा विस्मृतधर्मी व्यक्ति हिंसा का आचरण करता है। मदिरा एकेन्द्रिय आदि जीवों की योनिभूत है। मद्यपायी हिंसा अवश्य करता है। हिंसा के सभी प्रकार मद्य के निकटवर्ती ही हैं।[६६]

४. वेश्यागमन - वेदों में वेश्यागमन एवं परस्त्रीसेवन को पृथक्-पृथक् न गिनकर एक व्यभिचार में ही समावेश किया गया है तथा इस प्रंसग में सेविका का स्वामी से जार कर्म का वर्णन किया गया है। वहां कहा गया है कि व्यभिचारिणी सेविका जारकर्म तो करती है किन्तु उससे वंशवृद्धि नहीं चाहती है।[६७]

वसुनन्दिकृत श्रावकाचार में वेश्यागमन करने वाले की निंदा करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य एक रात भी वेश्यागमन करता है, वह सबकी जूठन खाता है, क्योंकि वह सबके साथ समागम करती है। वेश्या पुरुष का सर्वस्व हर लेती है और उसे अस्थिचर्मशेष करके छोड़ देती है। वह सामने तो प्रेम प्रदर्शित करती है, खुशामदी करती है किन्तु अन्ततः उसका धनापहरण का भाव रहता है। वेश्यागामी कामान्ध होकर वेश्याकृत अपमानों को सहन करता है। वेश्यासेवन से उत्पन्न पाप से जीव भयानक दुःखों को प्राप्त करता है। इसलिए मन, वचन, काय से वेश्या का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।[६८]

५. शिकार - सभी सभ्य समाजों में आचार की प्रशंसा एवं अनाचार की निन्दा की जाती है। यद्यपि वेदों में शिकार की प्रशंसा या निन्दा के प्रसंग नहीं है किन्तु परवर्ती साहित्य में शिकार की प्रशंसा भी की गई है और निन्दा भी । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास एक ओर सेनापति के मुख से शिकार खेलने के गुण गिनाते हैं तो दूसरी ओर नर्मसचिव विदूषक के मुख से शिकारा की निंदा भी करते हैं।[६९] शिकार के गुण गिनाना यदि पूर्व पक्ष है तो शिकार की निंदा उत्तरपक्ष।

जैनाचार में शिकार की बहुशः निन्दा की गई है। इसे निष्प्रयोजन पाप कहा गया है।[७०] लाटीसंहिताकार का कहना है कि शिकार खेलने में अनेक प्राणियों की हिंसा करने के परिणाम होते हैं, भले शिकार में सफलता मिले या न मिले। अतः शिकार का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।[७१]

६. चोरी - वेदों में चोरी की पर्याप्त निन्दा की गई है।[७२] ऋग्वेद की तैत्तिरीय संहिता में तीन प्रकार के चारों का वर्णन है -

स्तेन - गुप्त रूप से चोरी करने वाले।

तस्कर - प्रकट रूप से चोरी करने वाले।

मनिम्लु - अत्यन्त प्रकट रूप से डाका डालने वाले।

यजुर्वेद में भी इनका वर्णन हुआ है। चोरी को बुरे आचार में गिनकर इसकी निन्दा की गई है। जैनाचार में तो चोरी को दुर्व्यसन के साथ पाँच पापों में भी एक माना गया है तथा चोरी की जमकर निन्दा की गई है।

७. परस्त्रीसेवन - वेद में परस्त्री सेवन एवं व्यभिचारिणी स्त्रियों की पर्याप्त निन्दा की गई है। इसका स्पष्टीकरण वेश्यागमन व्यसन के संदर्भ में किया जा चुका है। कुरलकाव्य में परस्त्रीसेवन का निषेध करते हुए कहा गया है कि -

'वरमन्यत्कृतं पापमपराधोऽपि वा वरम्।
रं न साध्वी त्वत्पक्षे कांक्षिता प्रतिवेशिनी।।[७४]

अर्थात् तुम भले ही कोई भी पाप या कोई भी अपराध करलो, वह अच्छा हो सकता है, परन्तु तुम्हारे पक्ष में पड़ौसी पतिव्रता स्त्री की चाह अच्छी नहीं है।

उपर्युक्त सात व्यसनों का वर्णन जैनाचार में श्रावक के लिए अनिवार्य माना ही गया है, प्रकारान्तर से वैदिक साहित्य में भी पाया जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋषियों ने जिन सात मर्यादाओं का वर्णन किया है, उनमें एक को भी प्राप्त होने वाला मानव पापी होता है।[७५] आचार्य यास्क ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है-

'स्तेयं तल्लपारोहणं ब्रह्महत्या भ्रूणहत्या सुरापानम्।
दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा पातकेऽनृतोद्यमिति।।'[७६]

चोरी, व्यभिचार, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, सुरापान, दुष्ट कर्म का पुनः पुनः सेवन तथा पाप कर्मों में झूठ बोलना ये सात बुरी आदतें (मर्यादायें) हैं।

(ग) दान - भारतीय संस्कृति में दान देना मानव का आवश्यक कृत्य माना गया है। वेदों में दान की खूब प्रशंसा की गई है। कतिपय संदर्भ द्रष्टव्य है -

' स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।'[७७]

(जो अन्न चाहने वाले कमजोर व्यक्ति को अन्न देता है, वह दानी है।)

उदार दाता कभी भी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है, दीन-हीन दशा को प्राप्त नहीं होता तथा हानि एवं पीडा को प्राप्त नहीं होता है।[७८]

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः।[७९] (त्याग पूर्वक उपभोग करो, लालच मत करो।)

शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर।[८०] (तुम सौ हाथों वाले होकर धन प्राप्त करो तथा हजार हाथों वाले होकर दान दो।)

वेदों में कहा गया है कि दान से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है, दिया गया दान कभी व्यर्थ नहीं जाता है। अदानी को शोक प्राप्त होता है।[८१]

जैनाचार में श्रावक के षट् आवश्यकों में दान का सर्वातिशायी महत्त्व है। इसे श्रावक का दैनिक कृत्य माना गया है। अपने तथा दूसरों के उपकार के लिए अपनी वस्तु का देना दान है। विधि, द्रव्य, दाता और पात्र की विशेषता से दान में विशेषता आती है।[८२] दान के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं - औषधदान, ज्ञानदान, अभयदान और आहारदान[८३]

(घ) जलगालन - मनुस्मृति में 'वस्त्रपूतं जलं पिबेत्'[८४] कहकर छानकर जल पीने का कथन किया गया है। लिंगपुराण में भी कहा गया है कि -

'संवत्सरेण यत्पापं कुरुते मत्स्यवेधकः।
एकाहेन तदाप्नोति अपूतजलसंग्रही।।'[८५]

अर्थात् मछलीमार एक वर्ष में जितना पाप करता है, उतना पाप बिना छने जल का संग्रह (उपयोग) करने वाला एक दिन में कर लेता है।

जैन संस्कृति में जैनाचार के लिए आवश्यक अहिंसा व्रत के परिपालन एवं जीवदया की भावना से जल छानने की क्रिया को श्रावक का अनिवार्य चिह्न माना गया है। छने हुए जल की मर्यादा एक मुहूर्त, गर्म जल की मर्यादा छः घण्टा तथा उबले हुए जल की मर्यादा दिन-रात तक मानी गई है।[८६]

(ड.) रात्रिभोजनत्याग - वेदों में रात्रि भोजन विषयक कोई सीधा उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु पश्चाद्वर्ती साहित्य के कतिपय उल्लेखों से पता चलता है कि प्राचीन काल में वैदिक परंपरा में भी रात्रि भोजनत्याग की व्यवथा थी। अनेकत्र महाभारत के नाम से प्राप्त एक उल्लेख में नरक के जिन चार द्वारों का कथन किया गया है, उनमें एक रात्रि भोजन भी माना गया है। यथा -

'नरकद्वाराणि चत्वारि प्रथमं रात्रिभोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव सन्धानानन्तकापिकम्।।'[८७]

एक अन्य श्लोक में महर्षि मार्कण्डेय के अनुसार रात्रि में जल पीने को रुधिरपान के समान तथा अन्नभक्षण को मांसभक्षण के समान कहा गया है-

'अस्तंगते दिवानाथे आपः रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कण्डेयमहर्षिणा।।'[८८]

कतिपय वैषम्य

१. मधुत्याग - मधु (शहद) यद्यपि फूलों से संचित उनका रस है किन्तु उसमें मधुमक्खियों का मृत शरीर, उनके अण्डे एवं भ्रूणों का मिश्रण पाया जाता है। मधुमक्खियों का मल-मूत्र एवं लार का भी मिश्रण रहता है। अतएव जैनाचार में मुध को मांस एवं मदिरा के समान ही त्याज्य माना गया है। इसकी त्याज्यता का सभी श्रावकाचारों में कथन पाया जाता है। योगसार में कहा है -

'बहुजीवप्रधातोत्थं बहुजीवोद्भावास्पदम्।
असंयमविभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्जयेत्।।'[८९]

अर्थात् संयम की रक्षा करने वालों को बहुजीवघात से उत्पन्न तथा बहु जीवों की उत्पत्ति स्थान शहद का मन, वचन एवं काय तीनों से त्याग कर देना चाहिए। इसके त्याग को सभी श्रावकाचारों में श्रावक के अष्ट मूलगुणों में एक मूल गुण माना गया है।

वैदिक परम्परा में मधु (शहद) को त्याज्य न मानकर प्रायः सेव्य माना गया है।[१०]

२. पंच उदुम्बर फल - जो फल वृक्ष के काष्ठ को भेदकर फलते हैं, उन्हें उदुम्बर फल कहा गया है। ये पाँच हैं - बड़, पीपल, ऊमर (गूलर), कठूमर (अंजीर) और प्लक्ष (पाकर)।[११] इनका क्षीरफल के नाम से वैदिक परम्परा में उल्लेख पाया जाता है। कहीं-कहीं पाकर (प्लक्ष) के स्थान पर महुआ (मधूक) का भी कथन है। वैदिक परम्परा में इन फलों की त्याज्यता का कथन नहीं है, किन्तु जैन परम्परा में इन फलों को त्याज्य माना गया है।[१२] अनेक आचार्य एवं विद्वान् श्रावकाचार लेखकों ने पञ्चाणुव्रत के स्थानपर अष्ट मूलगुणों में पंच उदुम्बर फलों के त्याग को समाविष्ट किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है -

'योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोध पिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।।'[१३]

अर्थात् उदुम्बरयुग्म - ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़ एवं पीपल के फल त्रस जीवों की योनि या उत्पत्ति स्थान है। इस कारण इनके भक्षण में त्रस जीवों की हिंसा होती है।

निष्कर्ष (आचारगत) -

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वैदिक आचार और जैन आचार में गृहस्थ के लिए कहे गये कतिपय सामान्य नियमों में स्थूल रूप से समानता है। हाँ, कुछ विषयों में असमानता भी है। यदि दोनों संस्कृतियों के आचारगत समानता के पक्ष को उजागर किया जाये तो सौमनस्य बनेगा तथा इससे अपने- अपने धर्म के पालन में अनुकूलता का अनुभव भी होगा।

संदर्भ :

१. यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता, ७/१४ २. शतपथ ब्राह्मण, २/१ २/७
३. ऐतरेय ब्राह्मण, ६/२७ ४. प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृ. २७९
५. अष्टाध्यायी, २/४/९ ६.'अनेकान्त' त्रैमासिकी शोध पत्रिका अक्टूबर-दिसम्बर २००२ अंक ५५/४ में प्रकाशित प्रो. सत्यदेव मिश्र द्वारा लिखित 'स्याद्वाद' आलेख, पृ.१६
७. 'चर् गत्यर्थः भक्षणे च।' - पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण।
८. ऋग्वेद १०/१३४/७ ९. वही, ५/२१/१५
१०. मनुस्मृति, २/१८
११. जैन धर्म और दर्शन, पृ. २४९ १२. सागारधर्मामृत, ७/३५,
१३. विदुरनीति, ३/४२ की टीका १४. ऋग्वेद, १/१६४/३९
१५. मनुस्मृति, ४/१०८ १६. ऋग्वेद, ५/६४/३
१७. वही, ८/१८/१३ १८. यजुर्वेद, १२/१३
१९. अथर्ववेद, १/८/७ २०. वही, ३/१०/१
२१. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१३ २२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५३
२३. सागारधर्मामृत, २/८२ २४. ज्ञानार्णव, ८/२०
२५. मनुस्मृति, ५/१९ २६. ऋग्वेद, २/१२/१५
२७. वही, १/१६७/७ २८. वही, ४/१०४/१२ २९. वही, १/६३/३
३०. 'सत्यमर्थमाययति प्रत्याययति गमयति सत्यम्।' १/४/१३ पर ब्रह्ममुनिकृत टीका।
३१. निरुक्त, ३/१३ ३२. सर्वार्थसिद्धि, ९/१६

३३. विदुरनीति, ३/५८ ३४. मनुस्मृति, ४/३८ की टीका
३५. अथर्ववेद, ११/४/११ ३६. वही, ४/१६/६ ३७. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५/५
३८. ज्ञानार्णव, ९/२७ ३९. ऋग्वेद, १०/३७/२ ४०. ऋग्वेद, ४/३८/५
४१. वही, ८/६७८/१४ ४२. यजुर्वेद, ११/७९ ४३. तत्त्वार्थसूत्र, ७/१५
४४. वही, ७/२७ ४५. भगवती आराधना, ९८४
४६. ऋग्वेद, १०/८५/३६ ४७. ऋग्वेद,, १०/८५/४२
४८. अथर्ववेद, ७/३८/४ ४९. भगवती आराधना, ८०
५०. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५९
५१. स्याद्वादमंजरी, पृ. २७७ पर उद्धृत ५२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९-३४०
५३. पद्मनन्दिपंचविंशतिका, १/१६
५४. 'पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीओ नयता बद्धमेनम्।'-ऋग्वेद,१०/३४/४
५५. 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।' - वही, १०/३४/१३
५६. लाटी संहिता, २/११४ ५७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४६
?५८. सागारधर्मामृत, २/१७ ५९. यजुर्वेद, १६/३
६०. वही, १६/३ ६१. वही, १३/४३
६२. वही, १३/५० ६३. वही, १३/४९
६४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ६५-६८ ६५. ऋग्वेद,, ८/२/१२
६६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ६२-६४ ६७. द्रष्टव्य- युजर्वेद, ३०/१, २३/३० आदि
६८. वसुनन्दिश्रावकाचार, ८८-९३ ६९. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, प्रथम अंक
७०. लाटीसंहिता, २/१३९ ७१. वही, २/१४४-१४५
७२. 'स्तेना गुप्तचौराः, तस्कराः प्रकटचौराः, अतिप्रकटा निर्भया ग्रामेषु वदित्करा ममिम्लुकाः।' ऋग्वेद, तैत्तिरीय संहिता ४/१/१० की सायणाचार्यकृत व्याख्या
७३. यजुर्वेद, ११/७७-७८ ७४. कुरलकाव्य, १५/१०
७५. 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदमभ्यंहुरो गात्।' ऋग्वेद,, १०/५/६
७६. यास्ककृत निरुक्त, ६/२७
७७. ऋग्वेद, १०/११७/३ ७८. वही, १०/१०७/१८ ७९. यजुर्वेद, ४०/१
८०. अथर्ववेद, ३/२४/५ ८१. द्रष्टव्य - ऋग्वेद, में आचार सामग्री, पृष्ठ-९६-११४
८२. तत्त्वार्थसूत्र, ७/३८-३९ ८३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ११७
८४. मनुस्मृति, ६/४६ ८५. लिंगपुराण, २०२ ८६. व्रतविधानसंग्रह, पृष्ठ ३१
८७. सागारधर्मामृत, २/७६ में महाभारत से उद्धृत के रूप में कथित।
८८. भोजन दिन में क्यों ? (उपाध्याय निर्भयसागर) से उद्धृत
८९. योगसार, ८/८२ ९०. महाभारत, शान्तिपर्व, १५ ९१. संस्कृत हिन्दी कोश - आप्टे
९२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ६१ ९३. वही, ७२

- उपाचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
एस. डी. (पी.जी.) कालेज,
मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश)

जैन धर्म और इस्लाम

- डॉ. रमेशचन्द जैन

सामाजिक संरचना -

मुस्लिम धर्म को मानने वाले मुसलमान कहलाते हैं। मुसलमान का अर्थ है वह व्यक्ति जो यह मानता है कि खुदा या ईश्वर एक ही है। किसी मुस्लिम परिवार में उत्पन्न होने वाला ही मुसलमान नहीं बनता, अपितु जो कोई भी मुस्लिम या ईसाई धर्म को स्वीकार कर ले और मुस्लिम कलमा (''ला इलाही इल अल्लाह मुहम्मदुर रसूल उल्लाहा'') पढ़ ले वह मुसलमाल कहा जा सकता है। मुस्लिम धर्म अरब में उत्पन्न हुआ तथा हजरत मोहम्म्द ने इसको वर्तमान सुधरा हुआ रूप प्रदान किया था। मुसलमानों का धार्मिक ग्रन्थ कुरान शरीफ है जिसमें मुसलमानों को अच्छा आचरण करने तथा समाज की प्रगति करने की सीख दी गई है। कुरान शरीफ की आदतों में मुसलमानों के पारिवारिक संगठन, विवाह, न्याय, सहकारिता, सहयोग, धर्मप्रचार, रस्म रिवाजों के पालन, अनाथों व अपाहिजों की देखभाल आदि के संबन्ध में स्पष्टतया नियम या आदेश दिए गए हैं। प्रत्येक मुसलमान के लिए कुरान शरीफ की हदीसों (हिदायतों या निर्देशों) को मानना आवश्यक होता है।[१]

जिनेन्द्र भगवान् को मानने वाले जैन कहलाते हैं। जैन शब्द जिन से बना है, जिसका अर्थ विजेता होता है। जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे, वही सच्चा विजेता है। जैनों के अनुसार ईश्वर एक नहीं अनेक हैं। ईश्वर पूर्णकाम हैं, वे कृतकृत्य हैं। जैन मात्र वही नहीं है, जिसका जैन परिवार में जन्म हुआ हो, अपितु जो जैनधर्म के नियमों का पालन करे, वह जैन है। आचार्य सोमदेव का कहना है कि 'नाम्ना स्थापनातो वा सर्वं जैनायतेतराम्' अर्थात् नाम की अपेक्षा तथा स्थापन निक्षेप की अपेक्षा सभी जैन हैं। जैनधर्म अनादि अनन्त है। समय समय पर तीर्थंकर जन्म लेकर इसका उपदेश करते हैं। जैनों का कोई एक धर्मग्रन्थ न होकर तीर्थंकरों की द्वादशांग वाणी में निहित है। इस द्वादशांग वाणी के आधार पर अनेक ग्रन्थ लिखे गए। द्वादशांग वाणी के अन्तर्गत वर्तमान का समस्त ज्ञान विज्ञान निहित है। प्रत्येक जैन को जिनवचनों में श्रद्धा रखना आवश्यक है।

मुस्लिम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद के कुछ उपदेश इस प्रकार हैं[२] -

- माताओं के पैरों के नीचे स्वर्ग (जन्नत) होता है।
- वह सच्चा ईश्वर का उपासक नहीं है, जो अपने भाई के लिए उस वस्तु की कामना नहीं करता है, जिसकी वह स्वयं अपने लिए करता है।
- कुचले हुए की - चाहे वह मुस्लिम हो या अमुस्लिम, सहायता करो।
- रात को एक घण्टे पढ़ाना सारी रात पूजा करने से अधिक अच्छा है।
- क्या तुम अपने खुदा को जिसने तुम्हें पैदा किया है, चाहते हो ? पहले अपने साथियों को चाहो।

- अपना खाना खाने के लिए बैठने से पहले यह पता लगा लो कि तुम्हारे पास पड़ौस में कोई भूखा तो नहीं रह गया है। उसके मांगने से पहले गरीब को दे दो।
- तीन तरह के लोगों के लिए जन्नत के दरवाजे बन्द होते हैं- शोषक, शोषकों के सहायक या समर्थक और जो शोषण को सहन कर लेते हैं।
- जो कोई भी विद्वान् तुम्हें मिले, उसके सेवक बन जाओ।
- तुम्हारी कमजोरियाँ छिपी होंगी, जब तक कि किस्मत तुम्हारे साथ है।
- यह ख्याल मत रखो कि कौन कह रहा है, बल्कि यह सोचो कि वह क्या कर रहा है।

जैनधर्म में पांच समिति ओर तीन गुप्तियाँ अष्टप्रवचन मातृकायें कहलाती हैं, जो माता के समान पूजनीय है। जिनवाणी को भी माता कहा जाता है। इनसे स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति तो होती ही है, ये मोक्ष की भी कारण है।

'क्षेमं सर्वप्रजानां' कहकर जैन धर्म में सभी के कल्याण की कामना की गई है। ''क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं'' कहकर जैनधर्म में दीन दुःखी जीवों पर करुणा भाव रखने का उपदेश दिया गया है। मेरी भावना में हम पढ़ते हैं- **''दीन दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणा स्रोत बहे।''**

जैन धर्म किसी सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास नहीं करता है।

जैन धर्म में कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक सभी पापों का निबंध किया गया है। कहा गया है- समरंभसमारंभ आरंभ मन, वच, तन कीने प्रारम्भ। कृत कारित मोदन करके क्रोधादि चतुष्टय धरिके। शत आठ जु भेद भए इम तिनके वश पाप किए हम। (आलोचना पाठ)

जैनधर्म में अतिथि संविभाग व्रत की महत्ता बतलाकर पात्रों के अनुसार उसका फल बतलाया गया है। यह शक्तितस्त्याग भावना के अंतर्गत समादिष्ट होता है।

मुस्लिम धर्म की सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्त्व इस प्रकार हैं[३]-

१. ''विसमिल्लाह एल रहमान अल रहीम'' (दयालु और विशाल ह्रदय ईश्वर के नाम में) से काई भी कार्य आरंभ किया जाता है। ईश्वर से ही हम आते हैं और ईश्वर के पास ही हम लौट जाते हैं।'' इस विचार से मुसलमानों की सभी क्रियायें पथप्रदर्शित होती हैं।

२. ''ला इलाही इल अल्लाह'' (ईश्वर के अलावा और कोई देवी देवता नहीं है) मुसलमानों का सर्वोच्च धामिक सिद्धान्त है।

३. मुस्लिम धर्म के पांच मूल सिद्धान्त हैं।

(क) एक ईश्वर में विश्वास करना। (ख) प्रतिदिन पांच बार नमाज (प्रार्थना) करना। (ग) रमजान के महिने में रोजा (उपवास) करना। (घ) जकात (गरीबों के लाभार्थ) कर देना। (ड.) जीवन में एक बार अरब में स्थित मुसलमानों के पवित्र तीर्थस्थान मक्का की धार्मिक यात्रा अवश्य करना।

४. मुसलमानों के पवित्र त्योहारों में प्रमुख हैं- रमजान और ईद उल अजहा।

५. संयुक्त परिवारों को उत्तम माना जाता है।

६. मुस्लिम परिवारों में बड़े बूढ़ो, माता-पिता का आदर करने व उनका आदेश माानने पर विशेष बल दिया जाता है।

७. एक मुसलमान एक से अधिक स्त्रियाँ (अधिक से अधिक चार स्त्रियाँ) रख सकता है लेकिन उन सभी को एक ही घर में रखना आवश्यक है और उनके साथ अच्छा व्यवहार करना आवश्यक है।

८. स्त्रियों के चाल चलन को उत्तम बनाए रखने के लिए उन्हें पर्दा या बुरके को ओढ़कर बाहर निकलना आवश्यक माना जाता है।

९. मुसलमानों को मद्यपान करना तथा सूअर का मांस खाना वर्जित है।

जैनों में किसी मांगलिक कार्य को करने से पहले निम्नलिखित मंगलाचरण बोला जाता है -

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यौ जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।। (दिगम्बर परंपरा)

जैन धर्म जीवात्मा को ईश्वर का अंश नहीं मानता है, अपितु प्रत्येक जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता मानता है, उसका परलोकगमन उसके कर्म पर निर्भर हैं ईश्वर न किसी को कहीं भेजता है, वे एक नहीं अनेक हैं। इस प्रकार के परमात्माओं से भिन्न देवी-देवताओं का स्वतंत्र अस्तित्व है।

जैनधर्म पंच महाव्रतों को स्वीकार करता है। गृहस्थ इनका एकदेश पालन करते हैं। साधुओं के व्रत, नियम वगैरह श्रावकों से भिन्न हैं।

श्रावक तथा मुनि सभी के लिए त्रिकाल सामायिक (ध्यान, समता भावना) का विधान किया गया है।

जैन श्रावक या साधु रात्रि भोजन नहीं करते हैं। उपवास के दिनों में दिन और रात्रि को चतुर्विधाहार ग्रहण करने का परित्याग है।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र के अनुसार जीवों का कार्य परस्पर उपकार करना है। भोगोपभोग परिमाण या परिग्रह परिमाण रखने और आहारदान, औषधि दान, अभयदान तथा ज्ञानदान देने से गरीब, अमीर सभी प्रकार के जीवों का उपकार होता है।

प्रत्येक जैनी जीवन में कम से कम एक बार निर्वाणक्षेत्र (गिरनार, सम्मेदशिखर, चम्पापुर और पावापुर तथा अन्य तीर्थक्षेत्रों की वन्दना करने का भाव अवश्य रखता है)।

जैनों के पवित्र पर्व अष्टाह्निका, दशलक्षण, दीपावली, महावीर जयंती, अक्षय तृतीया, रक्षाबन्धन, श्रुतपञ्चमी आदि हैं, इनमें किसी भी प्रकार से बलि आदि कर्म न कर जीवों की रक्षा करने का उपदेश दिया जाता है। सामान्य जीवन में जीव रक्षा प्रत्येक जैन का कर्त्तव्य है।

जैनों में संयुक्त परिवार भी होते हैं और परिवारों में विभाजन भी होता रहता है। यह सब आपसी तालमेल पर निर्भर है।

प्रत्येक गृहस्थ तथा साधु को विनयभावना रखने का उपदेश दिया गया है।

हिन्दू कोड बिल जैनों पर लागू होने से जैन गृहस्थ एक ही पत्नी रखते हैं, किन्तु जैन साहित्य में जैनों के बहुविवाह के उल्लेख भी बहुत हैं। यह अपनी अपनी सामर्थ्य पर निर्भर है, तथापि धर्मशास्त्र एक पत्नीव्रत तथा पतिव्रत रखने का उपदेश देते हैं। स्त्रियों में पर्दाप्रथा जैनों की प्राचीन काल में नहीं थी, किन्तु मुसलमानी काल में उत्तरभारत में यह चालू हो गई थी। अब इसका तेजी से विलोप हो रहा है।

जैन परम्परा में मद्य, मांस और मधु का, त्याग प्रत्येक जैनी के लिए अनिवार्य है। इनका सेवन करने वाला श्रावक कहलाने का अधिकारी नहीं है।

कुरआन का कहना है- "अपनी पसन्द की औरत से विवाह कर दो, तीन अथवा चार, परन्तु यदि तुम्हें भय हो कि तुम उनके मध्य समान न्याय नहीं कर सकते तो तुम केवल एक (औरत) से विवाह[४] करो।" कुरआन ४:३

आमतौर पर लोग यह समझते हैं कि पर्दे का सम्बन्ध केवल स्त्रियों से है। हालांकि कुरआन में अल्लाह ने औरतों से पहले मर्दों के पर्दे का वर्णन किया है-

"ईमान वालों से कह दो कि वे अपनी नजरें नीची रखें और अपनी पाकदामिनी की सुरक्षा करें। यह उनको अधिक पवित्र, बनाएगा और अल्लाह खूब परिचित हैं, हर उस कार्य से जो वे[५] करते हैं।" (कुरआन २४.३०)

जैनधर्म में ब्रह्मचर्य व्रत के धारण करने वालों को तन्मनोहरांग निरीक्षण त्याग का उपेदश दिया गया है।

कुरआन की सूरा निसा में कहा गया है- "और अल्लाह पर ईमान रखने वाली औरतों से कह दो कि वे अपनी निगाह नीची रखें और पाकदामिनी की सुरक्षा करें और वे अपने बनाव-श्रृंगार और आभूषणों को न दिखायें, इसमें कोई आपत्ति नहीं, जो सामान्य रूप से नज़र आता है और उन्हें चाहिए कि वे अपने सीनों पर अपनी ओढ़नियाँ ओढ़ लें और अपने पतियों, बापों, अपने बेटों.... के अतिरिक्त किसी के सामने अपने बनाव-श्रृंगार प्रकट न करें।" (कुरआन २४.३१)

जैनधर्म में उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही ब्रह्मचारी को (और ब्रह्मचारिणी को भी) स्वशरीर संस्कार त्याग का उपदेश तत्त्वार्थसूत्र में दिया गया है।

कुरआन में कहा गया है - "**धर्म में कोई जोर - जबर्दस्ती न करे, सत्य, असत्य से साफ भिन्न दिखाई देता है।**" (कुरआन २.२५६)

"लोगों को अल्लाह के मार्ग की तरफ बुलाओ, परन्तु बुद्धिमत्ता और सदुपदेश के साथ और उनसे वाद-विवाद करो, उस तरीके से जो सबसे अच्छा और निर्मल हो[७]।" (कुरआन १६: १२५)

जैनधर्म में भी कहा गया है -

पक्षपातो न मे वीरो न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यं परीषहः।।

अर्थात् मुझे वीर से कोई पक्षपात नहीं है, कपिल आदि के प्रति कोई द्वेष नहीं है, जो वचन युक्तियुक्त हैं, उनका पालन करना चाहिए।

आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है-

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधि वाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।।

अर्थात् आप ही निर्दोष हैं, क्योंकि आपके वचन, युक्ति और शास्त्र के विरोधी नहीं है। अविरोधी इसलिए हैं; क्योंकि जो आपको इष्ट है, वह प्रसिद्ध से बाधित नहीं होता है।

हजरत मुहम्मद ने शराब को हराम कहा है- ''शराब तमाम बुराईयों की जड़ है और वह बेशर्मी की चीजों में से सबसे बढ़कर है।'' (हदीस : सुनन इब्ने माजा)

''हरचीज जिसकी बड़ी मात्रा नशा पैदा करने वाली हो, उसकी अल्पमात्रा भी हराम है[८]।'' (हदीश इब्ने माजा) हजरत अनस कहते हैं कि खुदा के पैगम्बर मुहम्मद ने फरमाया -

''शराब के साथ जुड़े हुए दस लोगों पर अल्लाह की ओर से लानत और धिक्कार की जाती है। जो उसको निचोड़ता या तैयार करता है, जिसके लिए तैयार की जाती है, उसकी पीने वाला, उसको पहुंचाने या भेजने वाला, जिसके पास उसे भेजा जाय या पहुंचाया जाय, जिसे शराब पेश की जाय, उसे बेचने वाला, उसकी आमदनी से फायदा उठाने वाला, उसे अपने लिए खरीदने वाला और दूसरे के लिए उसे खरीदने वाला[९]।'' (हदीस इब्ने माजा)

जैनधर्म में भी मद्यपान को सात व्यसनों के अन्तर्गन गिनाया है। पण्डित प्रवर आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में कहा है-

यदेकविन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चेतत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेदममुं च लोकं नश्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत्।।

अर्थात् यदि शराब की एक बिन्दु के जीव विचरण करने लगें तो तीनों लोकों को भी भर दें। जिससे दुःखी होकर इस लोक और परलोक विनाश को प्राप्त हो जाए, उस मद्य को अवश्य छोड़ देना चाहिए।

इस्लाम और जैनधर्म दोनों में जुआ खेलने का निषेध किया गया है। कुरआन का आदेश है - नाप और तौल को ठीक ठीक पूरा करो[१०]। (कुरआन ६/५२)

तत्त्वार्थसूत्र में अस्तेय व्रत के अतीचारों में विरुद्ध राज्यातिक्रम को गिनाया है। कुरआन (२२: ३०) में कहा गया है कि झूठ बोलने से बचो[११]। जैनधर्म में सत्य महाव्रत की महिमा वर्णित है। अप्रशस्त वचन को भी झूठ की संज्ञा दी गई है -

असदाभिधानं अनृतम् (तत्त्वार्थसूत्र - अध्याय-७)

कुरआन (१७ :३२) में कहा गया है - परस्त्री गमन के निकट भी न जाओ; क्योंकि वह निर्लज्जता और बुरा रास्ता है[१२]। जैनधर्म में इत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीता गमन का निषेध किया गया है।

कुरआन (१७ :३७) में कहा है - ''पृथ्वी पर अकड़ता हुआ मत चल, इस प्रकार तू न पृथ्वी को फाड़ डालेगा और न बढ़कर पर्वतों तक ही पहुंच जायेगा।'' ''दयालु खुदा के भक्त धरती पर चलते हैं तो नम्रता के साथ।'' (कुरआन २५ :६३)

जैनधर्म में दशलक्षण धर्म में दूसरा धर्म मार्दव धर्म बतलाया गया है, जो मान का त्याग करने का उपदेश देता है- ''**उत्तम मार्दव विनय प्रकाशे नाना भेद ज्ञान सब भासे।।**'' **मान महाविषरूप करहिं नीचगति जगत में। ''कोमल सुधा अनूप सुख चाहें प्राणी सदा।''** (दशलक्षण पूजा)

इस्लाम पर जैन प्रभाव -

९वीं शताब्दी में बहुत से जैन मुनि दक्षिण रूस के देशों में गये। उजबेकिस्तान, ओरासान, अजरबाइजान से लेकर वे सीरिया तक गए। १९७८ में जब श्री विश्वम्भर नाथ पाण्डेय सीरिया गए तो उन्हें ज्ञात हुआ कि जैन मुनि वहां आए थे और प्रसिद्ध मुस्लिम सूफी

सन्त अबुलआला अलमुआरी ने उनसे दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने मांस खाना बिल्कुल वर्जित कर दिया था। यहां तक कि वे अण्डे भी नहीं खाते थे। वे अहिंसा का प्रचार करते थे। उन्होंने अपनी सुन्दर अरबी कविताओं में अहिंसा की बड़ी प्रशंसा की है।

अरब देशों में एक नया संप्रदाय "कलन्दर" पैदा हुआ। कलन्दर मुनि अहिंसा के परम विश्वासी थे तथा सदैव सत्य बोलते थे। यूनान के दो कलन्दर मुनि एक सुलतान के यहाँ गए। सुलतान की बेगम ने उनका सत्कार किया। उन्हें बरामदे में तख्त पर बैठाया। थोड़ी देर के लिए वह अपने जनानखाने चली गई और अपने हीरों का हार वहीं तख्त पर छोड़ दिया। वहाँ बाग में एक शुतुरमुर्ग चर रहा था। हीरों की जगमगाहट ने उसको आकर्षित किया । वह आया और हीरों के हार को निगल गया। जब बेगम वापिस आयी तो उन्होंने देखा कि हीरों का हार वहां नहीं है। कलन्दरों से पूछा गया कि आप यहाँ बराबर बैठे थे? वे कहने लगे कि हम निरंतर बैठे थे। बेगम ने पूछा कि मैं यहाँ हार छोड़कर चली गई थी, वह हार कहाँ चला गया? कलन्द मौन रहे। उन्हें आरक्षियों को सौंप दिया गया। वे बहुत पीटे गए। खानातलासी ली गई, किन्तु हार नहीं मिला। किन्तु सन्देह उन्हीं पर था कि इन्होंने किसी तरह से हार को गायब कर दिया। उन्हें बेहद मारा-पीटा गया पर वे बोले नहीं। बाद जब उस शुतुरमुर्ग ने कोई चीज उगली। उसे चीरा गया तो उसके पेट से वह बेशकीमती हीरों का हार प्राप्त हुआ। तब उन कलन्दरों की जांच पड़ताल शुरू हुई। उनसे पूछा गया कि तुमने बताया क्यों नहीं कि शुतुरमुर्ग निगल गया? इतनी मार खाने के बाद भी तुम खामोश क्यों रहे ? उन्होंने उत्तर दिया कि हम सत्य बात कहते हो शुतुरमुर्ग के प्राण चले जाते। वह पाप हम अपने ऊपर नहीं लेना चाहते थे। अहिंसा पर उनका परम विश्वास था।

अरबी इतिहास में वर्णन आता है कि शाहसुजा अदरबाईजान के बहुत बड़े सुलतान थे। जैन मुनि का उनके ऊपर प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपरिग्रह की दीक्षा ले ली तथा अपने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया। बाद में वे एक कुटी बनाकर बगदाद में रहने लगे। उनकी रानी की मृत्यु हो चुकी थी। उनकी एक बड़ी सुन्दर कन्या थी। बहुत से लोग उससे विवाह करना चाहते थे। जब एक नवाब के यहां रिश्ते की बात आई तो उन्होंने तीन दिन का समय मांगा। तीन दिन बाद उन्होंने खोज शुरू की। शाहुजा ने देखा कि एक युवक मस्जिद में ध्यानमग्न होकर ईश्वर का परम भक्त है। इसके साथ ही मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा। जब युवक का ध्यान समाप्त हुआ और उसने आंखें खोलीं तो देखा कि शाहसुजा खड़े हुए हैं। उसने अपने को धन्य माना। शाहसुजा ने उससे पूछा - युवक तुम विवाहित हो ? युवक ने उत्तर दिया कि मैं बहुत गरीब हूँ। मेरे पास धन नामकी चीज नहीं है। मैं अपरिग्रह व्रत का पालन करता हूँ। कौन मुझे अपनी कन्या देगा ? शाहसुजा ने कहा कि तुम मेरी कन्या से विवाह करो। युवक ने कहा कि आपकी कन्या का पालन पोषण तो राजमहलों में हुआ है, वह अच्छी तरह कैसे रहेगी। शाहसुजा ने कहा कि मैं अपनी कन्या का विवाह तुम्हारे साथ करूँगा। कन्या का विवाह उन्होंने अपरिग्रही गरीब के साथ कर दिया। कन्या जब अपने पति के यहां आई तो देखा कि छोटी से पर्णकुटी में एक तरफ चटाई पड़ी हुई हैं, मिट्टी के पात्र में आधी रोटी रखी हुई है। कन्या ने देखा और पूछा कि यह आधी रोटी कैसी है? युवक ने उत्तर

दिया कि मेरे पास श्रम करने के बाद कुछ पैसे आ गए थे, उससे मैंने एक रोटी खरीदी थी। आधी रोट मैंने कल खायी थी और आधी रोटी आज के लिए रखी है। राजकन्या की आँखों से आँसू गिरने लगे। उसे रोते देखकर युवक ने कहा कि मैं पहले ही समझता था कि आप राजकन्या हैं, मेरी गरीबी के साथ नहीं चल सकेंगी। आखिर मेरी गरीबी को देखकर आपकी आंखों से आंसू निकलने ही लगे। उसने जवाब दिया कि तुम्हारी गरीबी को देखकर मेरी आंखों से आंसू नहीं निकले, किन्तु इसका कारण यह है कि मेरे पिता ने कहा था कि तुम नितान्त अपरिग्रही हो, लेकिन जो व्यक्ति एक रोटी, जो उसे कल मिली थी, वह आज के लिए बचाकर रखे, वह अपरिग्रही कैसा ? हमारे पिता ने कहा था, किन्तु तुम नितान्त अपरिग्रही नहीं हो। यह आदर्श ऐसे समाज में था, जो समाज परिग्रही समझा जाता है। उस समाज में जाकर जैन मुनियों ने अपने प्रचार द्वारा भावनायें पैदा कीं, विचार पैदा किए, जिन्होंने उस संस्कृति को नया रूप दिया।

इसी तरह सबसे बड़ा प्रभाव वहां के एक मुसलमान श्रीमन्त के ऊपर पड़ा। उनकी १४ बड़ी कोठियां विभिन्न देशों में थी। भारत में एक कोठी थी। उनकी कोठियां स्पेन तक फैली हुई थीं। उनका करोड़ों रूपयों का व्यवसाय था, किन्तु जैसे ही वे जैनधर्म में दीक्षित हुए, उन्होंने अपना सारा धन, महल, कोठी आदि दान कर दिया। एक लँगोटी रह गई, सोचा उसका आकर्षण क्यों ? उसका भी दान कर दिया और दिगम्बर मुनि बन गए। वे धर्म और प्रेम, अहिंसा सत्य तथा अपरिग्रह की चर्चा करते हुए भारत आए। भारत आकर वे दिल्ली पहुंचे। दिल्ली में औरंगजेब से भेंट हुई। उनका प्रचार और प्रसार देखकर भारत की जनता उनके प्रति बहुत आकर्षित हुई। हजारों उनके भक्त हो गए। औरंगजेब ने जब उनसे पूछा कि तुम नंगे क्यों रहते हो ? तो उस सरमद ने कहा - 'तन की उरयानी से बेहतर कोई लिवास नहीं (नग्नपन से बेहतर नहीं है कोई लिवास) यह वह जामा है, जिसका कोई नहीं उल्टा सीधा।'

उनसे पूछा कि अल्लाह और उसके पैगम्बर रसूल को छोड़कर पार्श्वनाथ और महावीर की तरफ तुम्हारी आस्था क्यों जागी? तो उसने उत्तर दिया- पार्श्वनाथ और महावीर में मुझको वह भक्ति, वह प्रेम, वह अपरिग्रह की भावना दिखाई दी, जिससे आकर्षित होकर मैंने पार्श्वनाथ और महावीर की शरण ली। औरंगजेब ने कहा - तुम खुदा को नहीं मानते हो ? तो सरमद ने जबाव दिया - यदि कोई खुदा है तो खुद मेरी खबर लेगा। मुझे उसकी खबर लेने से क्या मतलब ? चूंकि इस्लाम धर्म को उसने तिलांजलि दी थी, फिर वह मूर्तिपूजा की ओर आया था, इसीलिए उसको औरंगजेब की ओर से फाँसी की सजा मिली।

दिल्ली की जामा मस्जिद के बाहर एक छोटा सा मकबरा बना हुआ है, जहां वह श्रेष्ठ जैन सरमद अनन्त निद्रा में विश्राम कर रहा है। जैन उस रास्ते से निकलते होंगे, किन्तु किसी को भी यह भान नहीं होता कि यह टूटी फूटी कब्र एक महान् करोड़पति व्यवसायी की है, जो जैनधर्म में दीक्षित हुआ और जिसने दीक्षा के कारण अपने प्राण त्याग दिये।[१३]

संदर्भ :

१. डॉ. सत्यपाल रुहेला : भारतीय समाज संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ-५३ उत्तरप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, १९७३ ई.

२. The Illustrated weekly of India- Dec. 14,19, 69.

३. डॉ. सत्यपाल रुहेला : भारतीय समाज संरचना और परिवर्तन, पृष्ठ ५४-५५
४. डॉ. जाकिर नाइक : गलतफहमियों का निवारण, पृ.१०, प्रकाशक-मधुर संदेश संगम पृ. २०, अबुल फज्ल इंकलेव, जामिया नगर, नई दिल्ली।
५. वही, पृष्ठ-१७
६. वही, पृष्ठ- १७
७. गलतफहमियों का निवारण, पृ.२५
८. वही पृष्ठ- ५०
९. गलतफहमियों का निवारण, पृ. ५१
१०. अब मुहम्मद इमामुद्दीन रामनगरी : इस्लाम एक परिचय, पृ. ५८
११. वही, पृष्ठ-५९
१२. इस्लाम : एक परिचय पृष्ठ-५९, प्रकाशक- मधुर संदेश संगम E.२० अबुल फज्ल क्लेव, जामिया नगर, नई दिल्ली।
१३. पार्श्वज्योति ९ फरवरी १९८७ (अहिच्छत्र महोत्सव पर आनन्द वाटिका रामपुर में महामहिम श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे, राज्यपाल उड़ीसा द्वारा दिया गया भाषण दि. ५.१०.१९८६)

- मुहल्ला- कुँवर बालगोविन्द,
बिजनौर (उत्तरप्रदेश)

ईसाई धर्म व जैन धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

- प्रो. वीरसागर जैन

सर्वप्रथम तो ईसा मसीह के जीवन और वचनों से हमें यह भलीभाँति समझ में आता है कि वे बहुत ही कोमल, सरल एवं दयालु प्रकृति के महापुरुष थे और कपट, कटुता एवं कठोरता से कोसों दूर रहते थे।

वे संसार से विरक्त और सदैव धर्मचर्चा हेतु उत्सुक रहते थे। वे उस जमाने में भी धर्मलाभ हेतु भारत वर्ष तक आये थे और महीनों तक अनेक जैन-बौद्ध साधुओं की संगति में रहे थे। एक बार तो उन्होंने पालीताना में (जिसे वहाँ 'पेलेस्टाइन' कहा गया है और जो आज गुजरात राज्य में आता है) ४० दिन का उपवास करके जैन साधुओं की संगति की थी और उनसे आध्यात्मिक शिक्षा भी प्राप्त की थी। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री विद्यानन्द मुनि ने उनके विषय में लिखा है कि-

''महात्मा ईसा बाल्य-अवस्था से ही दयालु तथा संसार से विरक्त थे। जब वे तेरह वर्ष के हुए तब उनके परिवार वालों ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु ईसा ने विवाह नहीं किया और घर से निकल पड़े। तदनन्तर वे ईरानी व्यापारियों के साथ सिन्ध के मार्ग से भारत में चले आये।''

.....हजरत ईसा ने पेलेस्टाइन में आत्मशुद्धि के लिए जिस स्थान पर ४० दिन का उपवास किया था, वह पैलेस्टाइन प्रख्यात विद्वान् जाजक्स के मतानुसार भारत का पालीताना जैन क्षेत्र है। पालीताना में ही ईसा ने जैन साधुओं से धार्मिक शिक्षा ग्रहण की थी।

हजरत ईसा ने अपने प्रचार में तीन बातें लिखीं - १. आत्म श्रद्धा या आत्मविश्वास (Self Reliance) यानी know Thyself तुम अपने आत्मा को समझो। २. विश्व प्रेम Universal Love तथा ३. जीव दया।

इन तीनों मान्यताओं पर जैनधर्म की छाप है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ही रूपान्तर या प्रकारान्तर महात्मा यीशु का सिद्धान्त है।

इस तरह हजरत ईसा पर जैनधर्म और जैन साधुओं का प्रभाव रहा।''

(विश्वधर्म की रूपरेखा, पृ. ७८-८०)

इसके अतिरिक्त उन्होंने इतिहासवेत्ता श्रीयुत पं. सुन्दरलाल जी की कृति 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म' के पृष्ठ १३२ का संदर्भ देते हुए यह भी बतलाया है कि- ''भारत में आकर हजरत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओं के साथ रहे। जैन साधुओं से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा तथा आचार-विचार की मूल भावना प्राप्त की।''

प्राच्यविद्यामहार्णव श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने भी 'हिन्दी विश्व कोश' भाग ३, पृष्ठ १२८ पर रूसी-पर्यटक विद्वान् डॉ. नोटोविच की कृति 'Unknown life of Christ' का संदर्भ देते हुए सिद्ध किया है कि ईसा मसीह अपने ६ माह के अज्ञातवास काल में भारत और भोट देश में आकर जैन एवं बौद्ध साधुओं के साथ रहे थे।

दिनांक २० नवम्बर २०११ को हिन्दी दैनिक पत्र 'अमर उजाला' के दिल्ली संस्करण में भी इसी आशय का एक समाचार 'हॉलिवुड में बनेगा करोड़ों की लागत से फिल्म, अब देखिए ईसा मसीह की भारत यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था -

''लंदन। हॉलीवुड में जल्द ही ईसा मसीह के भारत आगमन पर फिल्म बनाई जाएगी। यानी अब आप ईसा मसीह की भारत यात्रा को देख सकते हैं। यह फिल्म ईसा मसीह के जीवन के उन वर्षों पर आधारित होगी, जिनका बाइबिल में जिक्र नहीं किया गया है। इसके तहत यह दिखाया जाएगा कि १३ से ३० सालों के समय में जीसस भारत आए थे। यही नहीं, वे यहाँ बौद्ध मठों में ठहरे थे। ...बताया जा रहा है कि इस फिल्म के निर्माताओं ने फिल्म बनाने से पहले काफी शोध किया है। .... फिल्म में जीसस की पूर्व की ओर यात्रा के बारे में बताया जाएगा। इसमें वे कई धर्मों के बारे में जानते हुए एक धर्म की स्थापना करते दिखेंगे। ...... ईसा मसीह ने अपना काफी समय अरब के रास्ते आकर भारत में बिताया था।''

इस प्रकार उक्त सभी उद्धरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट होता है कि ईसा मसीह ने जैन-बौद्ध आदि अनेक धर्मों को निष्पक्षता, उदारता एवं सूक्ष्मतापूर्वक समझने का प्रयत्न किया था और लोगों को भी इसी प्रकार धर्म का असली सार तत्त्व समझने के लिए प्रेरित किया था। उन्होंने बाह्य आडम्बरों से दूर आत्मशुद्धि या मनशुद्धि को ही धर्म के रूप में समझाने का भरसक प्रयत्न किया था।

यही कारण है कि ईसा मसीह के विचार अनेक स्थानों पर जैनधर्म से बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं। जैसे कि जैनधर्म एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक धर्म होने से आत्मज्ञान पर बहुत अधिक जोर देता है। वह कहता है कि जिसने आत्मा को जाना उसने सब कुछ जाना, सब कुछ किया और जिसने आत्मा को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना, कुछ नहीं किया। आत्मा ही विश्व में सबसे सुन्दर और उपादेय है, इत्यादि; जिसका वर्णन समयसारादि ग्रंथों में देखा जा सकता है।

ईसा मसीह ने भी बारम्बार आत्मज्ञान पर बहुत अधिक बल प्रदान किया है। उनके तीन प्रमुख सिद्धान्तों में प्रारम्भ के दो विशुद्ध आत्मा से सम्बन्धित है - १. आत्मविश्वास (Self Reliance) और आत्मज्ञान (Know Thyself) इनके द्वारा उन्होंने आत्मा को जानने और समझने की ही विशेष बात रेखांकित की है। आत्मज्ञान पर जोर देते हुए एक स्थान पर तो वे यहाँ तक कहते हैं कि-

''यदि आदमी अपनी आत्मा को खो बैठे और सारी दुनिया उसे मिल जाए तो भी उसे क्या फायदा ? आत्मा के मोल की दूसरी चीज इसे क्या मिल सकती है ?''

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कहा है कि- ''उसकी चिन्ता मत करो जो तुम्हारे शरीर को मारता है किन्तु आत्मा का नाश करने में समर्थ नहीं है। बल्कि उससे डरो जो नर्क में शरीर और आत्मा दोनों को नष्ट कर सकता है।''

और भी कहा है कि "जिनका आत्मा में विश्वास है वे नष्ट नहीं होते, किन्तु अविनाशी जीवन यापन करते हैं।"

जैन अध्यात्म पाप एवं पुण्य दोनों को हेय बताकर उनसे ऊपर शुद्धोपयोग में जाने की प्रेरणा देता है। बाइबिल में इसी प्रकार से कही गई है कि- "नैतिकता जब तक सत्-असत् और शुभ-अशुभ से ऊपर नहीं उठती, तब तक मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।"

जैनदर्शन एवं अध्यात्म का मानना है कि प्रत्येक आत्मा का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है, जहाँ प्रत्येक आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण शुद्ध-बुद्ध बन जाता है। बाइबिल में इसी भी स्वीकार करते हुए कि- "ईश्वर के राज्य की प्राप्ति परम शुभ है। ...... उसी प्रकार पूर्ण बनो जिस प्रकार स्वर्ग में तुम्हारा पिता पूर्ण है।"

अध्यात्म की उक्त बातों की तरह जैनधर्म के आचार-विचार की भी बहुत-सी बातें 'बाइबिल' में उपलब्ध होती हैं। उदाहरणार्थ- बहुत से धर्मात्मा लोग बाह्य शुद्धि पर ही जोर देते हैं, अपना अंतरंग शुद्ध नहीं करते। उनके लिए कहा गया है कि "हे कपट शास्त्रियों ! तुम कटोरे और थाली को ऊपर-ऊपर से तो माँजते हो, परन्तु वे भीतर अन्धेर असंयम से भरे हुए हैं।

अहिंसा और अपरिग्रह भी जैन आचार के प्रमुख सिद्धान्त हैं। बाइबिल में इन दोनों का पुरजोर समर्थन मिलता है। अहिंसा पर जोर देते हुए कहा गया है कि "हमें अधिकार नहीं कि किसी का प्राण लें और अपरिग्रह पर जोर देते हुए कहा गया है कि- परिग्रह इकट्ठा मत करो। "Don't store up your profits" तथा यहाँ तक कहा है कि "एक ऊँट का सुई के छेद में से निकलना सम्भव है किन्तु एक धनी का स्वर्ग में प्रवेश असम्भव है।" इससे सिद्ध होता है कि महात्मा ईसा अपरिग्रह की अवधारणा में बहुत विश्वास करते थे।

पापों के संदर्भ में एक विशेष बात यह है कि जैनधर्म केवल बाहरी पाप क्रिया को ही पाप नहीं कहता बल्कि मन में रागादि विकारों की उत्पत्ति को मूलभूत पाप मानता है और उसे दूर करने की सशक्त प्रेरणा देता है। यही कारण है कि वहाँ सभी पाप दो प्रकार के बताए गए हैं- द्रव्यहिंसा और भावहिंसा, द्रव्य झूठ और भावझूठ, द्रव्यचोरी और भावचोरों, द्रव्यकुशील और भावकुशील, द्रव्यपरिग्रह और भावपरिग्रह। बाइबिल में भी भावरूप पापों को त्यागने की बात पर जोर दिया गया है यथा- "तुमने यह सुना है कि अवैध संभोग मत करो किन्तु मैं तुम्हें कहता हूँ कि जो कोई भी व्यक्ति किसी भी स्त्री को वासनायुक्त दृष्टि से देखता है उसने मन में अवैध संभोग का कर्म कर लिया।

जैनाचार में दिखावे की बजाए भावों की विशुद्धता पर बल प्रदान किया गया है। बाइबिल का भी यही कहना है- "सावधान रहो, तुम मनुष्यों को दिखाने के लिए धर्म के काम न करो, नहीं तो स्वर्गीय पिता से कुछ भी फल न पाओगे।"

और भी देखिए कितना अच्छा कहा है- "जब तू दान करे तो अपने आगे तुरही न बजवा, जैसा कि कपटी लोग सभाओं और गलियों में करते हैं। यदि तुम ऐसा करोगे तो मैं तुमसे सच कहता हूँ कि तुम अपना फल पा चुके।"

अथवा "जब तू दान करे तो यदि दाहिना हाथ करता है तो तेरा बाँया हाथ ही न जानने पाए।"

जैनाचार दूसरे के दोषों को न देखकर अपने दोषों को ही देखकर सुधारने पर जोर देता है। वही बाइबिल भी कहती है- ''तू अपने भाई की आंख के तिनके को क्यों देखता है और अपनी ही आंख का लट्ठा तुझे नहीं सूझता।........

अथवा ''पहले अपनी आँख का लट्ठा निकाल, तभी तू तेरे भाई की आंख का तिनका भलीभांति निकाल सकेगा।

जैनाचारशास्त्र में प्रतिक्रमण की बात भी आती है, जिसकी झलक हमें बाइबिल में भी मिलती है। जैनधर्म और ईसाई धर्म के प्रतिक्रमण का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए डॉ. स्वयंप्रभा पाटील ने लिखा है कि- ''ईसाई धर्म में पाप-प्रकाशन या पाप-स्वीकृति (कन्फेशन) को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। ईसाई धर्म में सभी उपासकों के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आचरित पापों का प्रकाशन अपने धर्मगुरू के समक्ष करे और धर्मगुरू (पोप, पादरी) के द्वारा उनके प्रायश्चित्त स्वरूप जो निर्देश दिए जाएं, उनका पालन करे। ईसाई धर्म की यह परंपरा जैनधर्म की प्रतिक्रमण की अवधारणा से पर्याप्त साम्य रखती है।'' (जैनधर्म में प्रतिक्रमण, पृष्ठ-२५६) ईसा मसीह क्षमा पर बड़ा जोर देते थे। जैनधर्म का मूलभूत सिद्धान्त ही है - क्षमा दशधर्मों का प्रारंभ और समापन दोनों क्षमा से ही होते हैं। जैन अध्यात्म और जैनाचार के अतिरिक्त जैनधर्म के कर्म सिद्धान्त की भी कुछ झलक बाइबिल में मिलती हैं, यद्यपि इसकी स्पष्ट मान्यता वहां कैसी है- यह ज्ञात नहीं होता। परन्तु निम्नलिखित कथनों से प्रतीत होता है कि महात्मा ईसा पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते थे-

''जो कोई व्यक्ति अपने भाई पर क्रोध करता है वह दोषी ठहराया जाएगा।'' 'तुम्हें उस समय तक कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि तुम पाई-पाई न चुका दो।''

कोई भी शुभ वृक्ष अशुभ फल नहीं देता और कोई भी अशुभ वृक्ष शुभ फल उत्पन्न नहीं करता।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसाई धर्म और जैनधर्म में अनेक समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यद्यपि असमानताएँ भी अनेकानेक उपलब्ध होती हैं, और उनसे ही दर्शन का मूल विभेद होता है, परन्तु उनकी चर्चा फिर कभी करेंगे।

*****

संदर्भ :

१. पवित्र बाइबिल- बाइबिल सोसायटी ऑफ इंडियन, २०६, महात्मागांधी रोड, बंगलौर
२. विश्वधर्म की रूपरेखा- आचार्य विद्यानंद मुनि, जैन साहित्य सदन, चांदनी चौक, दिल्ली
३. गीता और बाइबिल का तुलनात्मक अध्ययन- डॉ. गिरिजा व्यास, हंसा प्रकाशन, किशनपोल बाजार, जयपुर
४. जैनधर्म में प्रतिक्रमण : स्वरूप एवं समीक्षा - डॉ. स्वयंप्रभा पाटील, कुन्दकुन्द भारती प्रकाशन, नेमिनाथ नगर, विश्राम बाग, सांगली, महाराष्ट्र।
५. जैन आगम और बाइबिल की धर्मनीति का अध्ययन- अमरेश मुनि 'निराला'

- श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
कुतुब इंस्ट्टीयूशनल एरिया,
नई दिल्ली-११००१६

ईसाई धर्म व इस्लाम धर्म का उद्‌भव एवं इनकी शिक्षाएँ

- डॉ. त्रिलोक चन्द कोठारी (डी.लिट.)

१. ईसाई धर्म -

प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में फिलीस्तीन देश में ईसामसीह और उनके अनुयायियों द्वारा प्रचारित और विश्वधर्मों में सर्वाधिक प्रसारित ईसाई-धर्म आज विश्व की लगभग तीस प्रतिशत जनसंख्या एवं शताधिक देशों में विस्तृत फैला हुआ है। ईसाई धर्म का स्तम्भ पिता-रूप ईश्वर, पुत्र-रूप ईसामसीह एवं पवित्रात्माओं की त्रयी पर खड़ा हुआ है। पुरानी तथा नई बाइबिल इसके समन्वित पवित्रग्रंथ हैं। कालान्तर में इसके अनुयायियों में वैचारिक मतभेदों के फलस्वरूप स्वतंत्र तीन पंथ उत्पन्न हो गए- जिनमें तीन रोमन केथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट तथा पूर्वीय-परम्परावादी प्रसिद्धि प्राप्त हैं।

बाइबिल में ईसामसीह को अब्राहम से प्रारंभ होकर डेविड तक की वंशपरम्परा में परिगणित किया गया है। जब वे लगभग २६-२७ वर्ष के थे, तब ही उनके चचेरे भाई ने ईसामसीह के ईश्वरीय पुत्र के रूप में आने की घोषणा कर दी थी। ईसा जब अपने १२ प्रमुख शिष्यों तथा अन्य अनुयायियों के साथ जोरुशलम वापिस लौटे, तो लोगों ने उनका मसीहा की भाँति सत्कार किया, किन्तु सत्ताधीस हिब्रू के अधिकारियों ने उन पर ईशनिन्दा का आरोप लगाते हुए उन्हें 'क्रूस' पर लटका दिया। उनके १२ शिष्यों ने भी साथ छोड़ दिया और एक अनुयायी 'जुडास' ने तो छल करके तीस सिक्कों की एवज में उन्हें शत्रुओं को ही सौंप दिया। सूली पर लटकाए जाने के तीसरे दिन (रविवार को) ईसा पुनर्जीवित हो उठे और लोगों तक अपना सन्देश पहुँचाने के बाद स्वर्गारोहण कर गए। पैगम्बर ईसा के सन्देश सरल, हृदयग्राही, एक परमपिता परमेश्वर में परमास्था प्रकट करने वाले और जीवन में निश्च्छल मानवीय व्यवहार के सन्देशवाहक हैं।

(i) आधार ग्रन्थ :

ईसाई धर्मग्रंथ बाइबिल (न्यू टेस्टामेन्ट) २७ विवरणात्मक उपदेशों अथवा प्रमुख सन्देशों का संग्रह है, जो प्रायः प्राचीन यहूदी धर्मग्रंथ (ओल्ड टेस्टामेंट) का संवर्धित और विस्तारित ग्रन्थ है। वस्तुतः ईसाई धर्मग्रंथ की संपूर्णता दोनों बाइबिल के सम्मिलित रूप में जाकर हुई है अतः 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को पूरक ग्रंथ रूप में नहीं देखा जा सकता। फिर भी चूंकि 'न्यु टेस्टामेन्ट' उद्‌धृत ईश्वरीय सन्देश ईसामसीह के निर्वाणकाल के पश्चात् के हैं, अतः उनके उपदेशों के रूप इसकी ग्राह्यता अधिक है। तथ्यों के अनुसार स्वयं ईसा ने अपनी शिक्षाओं को लिखित रूप में नहीं दिया, अपितु उनके उपदेशों को मौखिक रूप से ग्रहण करने के उपरान्त उनके शिष्यों ने इन्हें लिपिबद्ध किया। इस श्रृंखला में सर्वप्रथम ६८ई. में संग्रहीत मार्क के सन्देश थे, जिनमें ईसाइयों को संगठित होकर संघर्ष करने की प्रेरणा दी गई। तदनन्तर

ल्यूक द्वारा ८५-९५ ई., मेथ्यू द्वारा १०० ई. तथा अन्तिम रूप से 'जॉन' द्वारा सुसमाचारों को १२५ ई. तक लिखा गया। समग्र रूप में बाईबिल (न्यू टेस्टामेन्ट) की रचनावधि लगभग ७५ वर्षों की रही।

(ii) मूलभूत तत्व :

ईसाई धर्म में सर्वथा एकेश्वरवादी है, जिसमें ईश्वर के किसी निश्चित स्वरूप की कल्पना न करते हुए उसके अस्तित्व को उसी के द्वारा निर्मित सृष्टि में खोजने का प्रयास किया गया है। ईसाई धर्म के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं -

(१) ईश्वर - परमात्मा एक है, उसने ही यह सृष्टि निर्मित की और वही निरन्तर इसका संचालन करता है। ईसाई धर्म में यह विश्वास यद्यपि पूर्ववती 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' से आया है, फिर भी ईश्वर में पिता का स्वरूप देखना इसका परिष्कृत दृष्टिकोण है। ईश्वरीय शक्तियाँ असीमित हैं। वह अदृश्य, सीमातीत, दयालु, स्वामी और प्रेम का प्रतीक है।

(२) ईसामसीह - ईसामसीह ईश्वर के एकमात्र पुत्र, हमारे स्वामी और उद्धारक हैं, जिन्हें परमपिता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा है और वे उसके पृथक् नहीं देखे जा सकते। मनुष्य रूप में तो उनका अवतरण केवल मानवता के कल्याण हेतु हुआ था; यहाँ वे सामान्य मनुष्य की भांति जीये और मरे। ईसा के सम्बन्ध में यह चिंतन वैदिक धर्म में अवतारवाद की अवधारणा से सादृश्य स्थापित रखता है।

(३) त्रयी - ईसाई धर्म पिता रूप में ईश्वर, एकमात्र पुत्र रूप में ईसा तथा पवित्रात्मा की त्रयी को ईश्वर का सर्वोच्च रूप मानता है जिसमें पिता अजन्मा, पुत्र-पिता से जन्मा और पवित्रात्मा दोनों से निसृत बताए गए हैं। कुछ ईसाई धर्मावलम्बी इस 'त्रित्व' सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते।

(४) पाप और प्रायश्चित - ईसाईधर्म में पाप और प्रायश्चित का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार मनुष्य अपने आदि पुरुष 'आदम और इव' के काल से ही पाप का बोझ लेकर जन्मा है, क्योंकि उन्होंने ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध स्वर्गीय वृक्ष से सम्बद्ध प्रतिबन्ध का उल्लंघन किया था। मनुष्य को ऐसे पापों से बचाने हेतु ईश्वर ने ईसा को अपना रूप देकर भेजा है। उसके समक्ष जाकर व्यक्ति अपने पाप स्वीकारोक्ति कर प्रायश्चित कर सकता है। आज गिरजाघरों में इसकी पालना हेतु पृथक् 'स्वीकारोक्ति' कक्ष बने हुए होते हैं।

(५) उपवास - ईसाईधर्म में उपवास को भी बहुत महत्त्व दिया गया है किन्तु विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा इसकी अवधि पृथक्-पृथक् निर्धारित की गई है। यूनानी परम्परावादी वर्ष में २६६ दिवस का, पूर्वी परम्परावादी चालीसा (क्रिसमस और इस्टर से पहले) तथा आधुनिक चर्च केवल एक सप्ताह के लिए ही उपवास निर्धारित करते हैं।

(६) अहिंसा - बाइबिल में व्यक्तिगत हिंसा के विरुद्ध निर्देश दिए गए हैं। दूसरों को न केवल मारने का निषेध किया गया है, वरन् अनावश्यक क्रोध से बचने का भी सन्देश है। कहा गया है- ***"यदि कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चाँटा मारे, तो बायां भी उसके सामने कर दो"।*** बाइबिल में यह सम्भवतः अहिंसात्मक व्यवहार का सर्वश्रेष्ठ वक्तव्य है।

(७) क्षमा - बाइबिल में क्षमा की भावना को भी बहुत महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि ***जो अपने अपराधी को क्षमा करेगा, उसे स्वर्गस्थ पिता भी क्षमा करेगा,***

किन्तु जो क्षमा नहीं करेगा, उसे पिता भी क्षमा नहीं करेगा। बुराई को भलाई से जीतो, सदैव क्षमा करते चलो।

(८) दान - दान को जीवन का आवश्यक कार्य बताया गया है, किन्तु दान में अहंकार की भावना नहीं होनी चाहिए **''दान कर तो इस प्रकार कि बायां हाथ भी नहीं जान सके।''**

उपर्युक्त संक्षिप्त बिन्दुओं के आधाार पर यह कहा जा सकता है कि ईसाई धर्म साररूप में ईश्वर की सत्ता, उसके न्याय, शुद्ध एवं पवित्र जीवन, नैतिकता और सदाचार में विश्वास व्यक्त करता है और अहिंसात्मक जीवन पद्धति का समर्थक है।

२. इस्लाम धर्म (५७१ ई.) :

'इस्लाम' पैगम्बर मुहम्मद द्वारा संस्थापित धर्म है। यह अरबी शब्द 'अल इस्लाम' अथवा 'इस्लाम' का ही रूप है, जिसका अर्थ है समर्पण अथवा शान्ति। इसके अनुयायी मुस्लिम कहलाते हैं, जिसका तात्पर्य है समपर्णकर्ता।

पैगम्बर मुहम्मद का जन्म मक्का में २३ अप्रैल, ५७१ ई. को हुआ। जन्म से पूर्व ही पिता (अब्दुल्लाह) की मृत्यु हो जाने के कारण इनका प्रारंभिक जीवन माता (आमीना), दादा (अब्दुल मुत्तालिब) और चाचा (अबुतालिब) की देखरेख में गुजरा। २५ वर्ष की आयु में बेगम खदीजा से विवाह के पश्चात् अगले १५ वर्षो तक वे सामान्य रूप से सरल और पवित्र जीवन यापन करते रहे। ४० वर्ष की आयु में हर वर्ष की तरह पवित्र रमजान के महीने में जब वे 'हिरापर्वत' की गुफा में साधना हेतु गए, जीवन-मृत्यु एवं दुनियाँ की उत्पत्ति विषयक चिन्तन करते हुए उन्हें एक रात्रि अल्लाह का सन्देश सुनाई दिया- **''इकरा पढ़''** इस अप्रत्याशित घटना से चिन्तित पैगम्बर मुहम्मद ने जब घर लौटकर बेगम खदीजा को जानकारी दी तो उन्होंने पूर्ण विश्वास किया और उन्हें कुरेश सम्प्रदाय के ९० वर्षीय धर्माधिकारी अबू बक (बरका) के पास पुष्टि हेतु ले गई, जिन्होंने पैगम्बर मुहम्मद में आस्था एवं विश्वास व्यक्त करते हुए बताया कि अल्लाह ने उन्हें 'मूसा' की तरह अपना संदेशवाहक चुना है और यह सन्देश अन्य कोई नहीं वरन् वही देवदूत नमुस (जिब्राईल) लाया था।

आधार ग्रन्थ - इस्लाम का एकमात्र धर्मग्रन्थ पैगम्बर मुहम्मद को अल्लाह द्वारा आदिष्ट अलकुरआन अथवा कुरान है।

मूलभूत तत्त्व :-

(१) अल्लाह - इस्लामधर्म में 'अल्लाह' ईश्वर, परमात्मा, गॉड का समानान्तर शब्द है। पवित्र कुरआन में अल्लाह के ९९ अन्य नाम भी उल्लिखित हैं।

(२) अल्लाह की किताब - पवित्र कुरआन अल्लाह की वाणी है, जो अन्तिम रूप से पैगम्बर मुहम्मद के माध्यम से आदेशित हुई। कुरआन का समग्र सार उसके प्रथम अध्याय सूरा 'फातिहा' में माना जाता है।

(३) कलमा - प्रत्येक मुस्लिम अनुयायी के लिए कलमा पढ़ना आवश्यक है। ***'ला इलाह-इल्लऽल्लाह'*** (अल्लाह के सिवाय कोई पूज्य नहीं है) तथा मुहम्मदुर, रसूलिल्लाह (मुहम्मद अल्लाह के रसूल हैं) यह पढ़ना चाहिए।

(४) आखिरत - पवित्र कुरआन के अनुसार कयामत के दिन सबका न्याय होगा। दुनिया की हर चीज नेस्तनाबूद हो जाएगी। सब अल्लाहताला के सामने हाजिर होंगे। नेक लोग जन्नत जाएंगे और बद जहन्नुम भेजे जाएंगे। आखिरत का सिद्धान्त ईसाई धर्म के 'न्याय का दिन' से पूर्ण समानता रखता है तथा आंशिक रूप से भारतीय धर्मो (वैदिक, जैन, बौद्ध आदि) के कर्मफल सिद्धान्त से साम्य रखता है।

(५) इबादत - सलात (पाँच समय की नमाज) सॉम (रोजा), खैरात (अनिवार्यदान) और जियारत (जीवन में कम से कम एक बार हज यात्रा) अल्लाह की दरगाह में चार इबादते हैं, जिन्हें करना हर मुस्लिम का फर्ज है।

(६) धर्म का स्वरूप - कुरआन में मानवीय धर्म का अत्यन्त सरल और सहज रूप व्याख्यापित हुआ है।

''नेकी यह नही है कि तुम पूरब या पश्चिम को (किब्ला समझकर उन) की तरफ मुँह कर लो, बल्कि नेकी यह है कि लोग खुदा पर, फरिश्तों पर, खुदा की किताब पर और पैगम्बरों पर ईमान लाएँ और माल बावजूद अजीज रखने के रिश्तेदारों और यतीमों और मुहताजों और मुसाफिरों और मांगने वाले को दें और गुलामों को छुड़ाने में खर्च करें और नमाज पढ़ें और जाकात दें और जब अहद करलें तो उसको पूरा करें''

(७) अहिंसा - 'इस्लाम' में हिंसा को बढ़ावा देने का आक्षेप भी तत्कालीन परिस्थितियों तक सीमित समझा जाना चाहिए। अन्यथा पवित्र कुरआन के सन्देश अहिंसात्मक व्यवहार के लिए ही प्रेरित करते हैं। एक प्राणी की रक्षा को पूरी मानवजाति की रक्षा का दर्जा दिया गया है- ***''किसी का कत्ल कर डालने या मुल्क में फसाद फैलाने के जुर्म के अलावा, किसी शख्स को कोई मार डाले तो मानो उसने तमाम इंसानों को मार डाला और जिसने एक मरते को बचा लिया तो मानो उसे तमाम इंसानों को बचा लिया।''***

(८) नैतिक आचरण - इस्लाम में किसी प्रकार के नशे, शराब, जुआ अथवा व्यभिचार का पूर्ण निषेध किया गया है। इसके लिए कुरआन में आचार संहिता निर्देशित की गई है।

''धरती पर अकड़ के मत चलो। न तो तुम धरती को फाड़ सकते हो और न ही तनकर पर्वतों की ऊँचाई तक पहुँच सकते हो।''

डॉ. त्रिलोक चन्द कोठारी (डी. लिट.) भारत के दिगम्बर समाज के अग्रणीय उद्योगपति हैं। आपका जीवन इस बात का आद्वितीय उदाहरण है कि एक सामान्य किसान राजस्थान में किस प्रकार भारत को एक शक्तिशाली उद्योगपति बन गया। आपके जीवन पर विनोबा जी का प्रभाव रहा और आप विनोबा जी के साथ उनके अंतिम छह मास साथ रहे।

-(आपकी प्रकाशनार्थ पुस्तक - अहिंसा गांधीजी और सार्वभौम धर्म से साभार)

जैन और बौद्ध धर्म-दर्शन : एक तुलनात्मक दृष्टि

- डॉ. धर्मचन्द जैन

जैन एवं बौद्ध दोनों धर्म-दर्शन श्रमण संस्कृति के परिचायक हैं। इन दोनों में श्रम का महत्त्व अंगीकृत है। 'श्रमण' शब्द का प्राकृत एवं पालिभाषा में मूलरूप 'समण' शब्द है, जिसके संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में तीन रूप बनते हैं - १. **समन**- यह विकारों के शमन एवं शान्ति का सूचक है। २. **समन**- यह समताभाव का सूचक है। ३. **श्रमण**- यह तप, श्रम एवं पुरुषार्थ का सूचक है। श्रमण दर्शनों में ये तीनों विशेषाताएँ पायी जाती हैं।

दोनों धर्मदर्शनों में साम्य -

श्रमण संस्कृति के परिचायक ये दोनों धर्म-दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं रखते, सृष्टिकर्ता ईश्वर को नहीं मानते। वैदिक देवी-देवताओं को स्वीकार नहीं करते। इन दोनों का विश्वास मनुश्य के पुरुषार्थ पर है। दोनों की मान्यता है कि मनुष्य स्वयं अपने कारणों से दुःखी या सुखी होता है। मनुष्य में ही यह क्षमता है कि वह अपने पुरुषार्थ के द्वारा दुःख-मुक्ति को प्राप्त कर सकता है अथवा नरक के घोर दुःखों को भोग सकता है। ये दर्शन व्यक्ति की दृष्टि को सम्यक् बनाने पर बल प्रदान करते हैं। इनमें लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा निर्वाण को अधिक महत्त्व दिया गया है। हाँ, लौकिक अभ्युदय यदि निर्वाण में सहायक होता है तो वह स्वीकार्य है। उदाहरण के लिए मनुष्यभव, धर्मश्रवण, शुभविचार आदि लौकिक अभ्युदय निर्वाणप्राप्ति में साधक बन सकते हैं। अतः इनका होना अभीष्ट है। किन्तु आध्यात्मिक उन्नयन से रहित लौकिक अभ्युदय की अभिलाषा इन धर्मों में प्रतिष्ठित नहीं है। लौकिक अभ्युदय में यशःकीर्ति की आकांक्षा को दोषपूर्ण माना गया है। वैदिकधर्म जहाँ अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को लक्ष्य में रखते हैं तथा धर्म उसे ही कहते हैं जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो,[१] जबकि जैन और बौद्ध धर्म धर्माराधन का लक्ष्य निःश्रेयस, मोक्ष अथवा निर्वाण को स्वीकार करते हैं।

वर्ण, जाति आदि के आधार पर मानवसमुदाय का विभाजन एवं इन आधारों पर उनको उच्च या निम्न समझना जैन और बौद्ध दोनों दर्शनों को स्वीकार्य नहीं हैं। दोनों धर्म-दर्शनों के साहित्य में जातिव्यवस्था का जमकर खण्डन हुआ है तथा धर्म का द्वार सबके लिए समानरूप से खोला गया है। बौद्धग्रन्थ सुत्तनिपात में कहा गया है-

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो।[२]

जैनागम उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा गया है-

कम्मुणा बंभणो होइ,कम्मुणा हवइ खत्तियो।
वइस्सो कम्मुणा होइ,सुद्दो हवइ कम्मुणा।।३[3]

अर्थात् अपने कर्म या आचरण से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही कोई क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होता है। आदिपुराण में समस्त मनुष्यों की एक ही जाति मानी गई है-**मनुष्यजातिरेकैव**।[4] इसीलिए इन दोनों धर्मों में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र सभी वर्णों के व्यक्ति दीक्षित या प्रव्रजित हुए हैं।

इन दोनों धर्मों की एक समानता यह है कि दोनों धर्म के प्रवर्तकों ने अपना उपदेश लोकभाषा में दिया है। तीर्थंकर महावीर ने अपना उपदेश अर्धमागधी प्राकृत में दिया है तो बुद्ध ने पालिभाषा में पालिभाषा प्राकृत का ही अंग रही है। इस दृष्टि से ये दोनों धर्म आम लोगों को जोड़ने में सक्षम रहे हैं।

बौद्धपरम्परा में जिस प्रकार भगवान बुद्ध प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद शैली में देते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर महावीर भी आगमों में विभज्यवाद की शैली का प्रयोग करते हैं। विभज्यवाद शैली में प्रश्नों का उत्तर विभक्त करके दिया जाता है। उदाहरण के लिए भगवान महावीर से जयन्ती श्राविका द्वारा प्रश्न किया गया कि मनुष्य का सोना अच्छा है या जागना ? प्रभु ने इसका उत्तर देते हुए कहा- जयन्ती! जो अधार्मिक, अधर्मिष्ठ, अधर्म का कथन करने वाले, अधर्म से आजीविका चलाने वाले लोग हैं, उनका सुप्त रहना अच्छा है तथा जो धार्मिक हैं, धर्मानुसारी यावत् धर्मपूर्वक आजीविका चलाने वाले हैं, उन जीवों का जागना अच्छा है।[5] गौतम बुद्ध भी इसी प्रकार विभज्यवाद शैली का प्रयोग करते हैं। मज्झिमनिकाय में शुभ माणवक ने प्रश्न किया कि मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता। इसमें आपका क्या मन्तव्य है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गौतम बुद्ध ने कहा कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है, तो वह निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं होता और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं होता। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पन्न हैं तो आराधक होते हैं। गौतम बुद्ध ने इस आधार पर अपने को विभज्यवादी बताया है, एकांशावादी नहीं।[6]

बौद्धदर्शन में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नाम से चार ब्रह्मविहार का निरूपण हुआ है।[7] जैनदर्शन में निरूपित मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाएँ बौद्ध धर्म के ब्रह्मविहार के साथ समन्वय स्थापित करती हैं। प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव गुणिजनों के प्रति प्रमोदभाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणाभाव एवं विपरीत वृत्ति वाले जीवों के प्रति माध्यस्थ्य भाव का प्रतिपादन जैनदर्शन में हुआ है। वीरसेवा मंदिर के संस्थापक पंडित जुगलकिशोर मुख्तार ने इन चार भावनाओं को मेरी भावना में इस प्रकार निबद्ध किया है-

मैत्रीभाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहे
दीनदुःखी जीवों पर मेरे उरसे करुणास्रोत बहे।
दुर्जन क्रूर कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे
साम्यभाव रखूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे।।
गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।

बौद्धदर्शन में दो प्रकार के सत्यों का प्रतिपादन हुआ है- १. व्यवहार और २. परमार्थ। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन इन दोनों की महत्ता अंगीकार करते हैं। उनका कथन है-

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।।[८]

अर्थात् व्यवहार का आश्रय लिए बिना परमार्थ को नहीं समझाया जा सकता और परमार्थ को जाने बिना निर्वाण को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए व्यवहार और परमार्थ दोनों दृष्टियों का अपना-अपना महत्त्व है। समयसार ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द भी इसी प्रकार का मंतव्य रखते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार अनार्य व्यक्ति को अनार्य भाषा का प्रयोग किए बिना नहीं समझाया जा सकता उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परमार्थ का उपदेश असम्भव है-

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं।।[९]

बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन कहते हैं कि व्यवहार सत्य उपायभूत होता है तथा परमार्थ सत्य उपेयभूत होता है- **उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।** ऐसा ही मन्तव्य आचार्य कुन्दकुन्द का भी है जो उपर्युक्त गाथा से पुष्ट होता है।

साम्य भी भेद भी

बौद्धदर्शन में त्रिशरण का महत्त्व अंगीकार किया गया है। वहाँ बुद्ध, धर्म और संघ की शरण का प्रतिपादन है-**बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि।**[१०] जैनधर्म में चार शरण का उल्लेख प्राप्त होता है। अरिहन्त की शरण, सिद्ध की शरण, साधु की शरण और केवलिप्रज्ञप्त धर्म की शरण। मूल पाठ में कहा गया है-**अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहुसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।**[११] इन चार शरणों में अरिहन्त एवं सिद्ध की शरण के स्थान पर बौद्ध धर्म में बुद्ध की शरण स्वीकार की गई है। साधु एवं संघ की शरण में कोई विशेष भेद नहीं है तथा धर्म की शरण दोनों में समान रूप में स्वीकृत है। मात्र क्रम का भेद है। इसका एक तात्पर्य यह निकलता है कि ये दोनों धर्म किसी अन्य देवी-देवता की शरण ग्रहण करने का कथन या अनुमोदन नहीं करते हैं।

जैनधर्म में साधु-साध्वी के लिए पंच महाव्रतों की तथा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के लिए पाँच अणुव्रतों की अवधारणा है। बौद्धधर्म में भी पंचशील का प्रतिपादन हुआ है, जिनमें जैन परम्परा से कुछ भिन्नता है। जैनपरम्परा में जिन पाँच महाव्रतों का प्रतिपादन हुआ है वे हैं-

१. पाणाइवायाओ वेरमणं	-	प्राणातिपात से विरमण	-	अहिंसा महाव्रत
२. मुसावायाओ वेरमणं	-	मृषावाद से विरमण	-	सत्य महाव्रत
३. अदिन्नादाणाओ वेरमणं	-	अदत्तादान से विरमण	-	अचौर्य महाव्रत
४. मेहुणाओ वेरमणं	-	मैथुनसेवन से विरमण	-	ब्रह्मचर्य महाव्रत
५. परिग्गहाओ वेरमणं	-	परिग्रह से विरमण	-	अपरिग्रह महाव्रत

प्राणातिपात, मृषावाद आदि इन पाँचों का कृत, कारित एवं अनुमोदन के स्तर पर मन, वचन, काया से सर्वथा विरमण होना महाव्रत है तथा अंशतः विरमण होना अणुव्रत है।[१२]

बौद्धधर्म में पंचशील के अन्तर्गत परिग्रहविरमण के स्थान पर सुरामेरय-मद्यादि के त्याग को स्थान दिया गया है। उन्होंने इन पाँचों का क्रम भी कुछ भिन्न रखा है, यथा-१. प्राणातिपातविरमण २. अदत्तादानविरमण ३.काम-मिथ्याचार (व्यभिचार) विरमण-यह मैथुनविरमण का पर्यायवाची है। ४. मृषावादविरमण ५.सुरामेरय-मद्यप्रमादस्थानविरमण। श्रामणेरविनय नामक खुद्दकपाठ में इन पंचशीलों को शिक्षापद के रूप में ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि जैनधर्म में मांस-मदिरा के त्याग को श्रावक एवं साधु बनने की प्राथमिक आवश्यकता माना गया है। जैन आगमों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में मांस एवं मदिरा के त्याग का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। सप्त कुव्यसनों के अन्तर्गत भी जैनसाहित्य में मांस एवं मदिरा के त्याग पर बल दिया गया है। यही नहीं, इनके व्यापार को भी कर्मादान का हेतु होने से बौद्ध धर्म की भांति त्याज्य बताया गया है।

जैन दर्शन में परिग्रह-विरमण को महाव्रतों एवं अणुव्रतों में स्थान देकर आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद किया गया है। पर पदार्थों के प्रति आसक्तिरूप परिग्रह जब तक नहीं छूटता तब तक दुःख मुक्ति संभव नहीं है। यही नहीं जब तक पर पदार्थ एवं व्यक्तियों के प्रति आसक्ति भाव है तब तक हिंसादि पापों से भी छुटकारा नहीं मिलता। इसलिए परिग्रह से विरति आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा सामाजिक समरसता भी तभी सम्भव है जब बाह्य परिग्रह की लालसा नियंत्रित हो। परिग्रह की लालसा पर नियंत्रण होने पर बाह्य पदार्थों की उपलब्धता सबके लिए आसान हो सकती है। इसीलिए जैनधर्म में गृहस्थ के लिए भी परिग्रह का परिमाण निर्दिष्ट है।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों की संयम- साधना उतने कठोर नियमों में आबद्ध नहीं है, जितनी जैन मुनियों एवं साध्वियों की है। बौद्ध भिक्षु यात्रा में वाहन आदि का उपयोग कर लेते हैं, वे पास में पैसा भी रख सकते हैं, भिक्षा के बिना भी सुविधा से आमंत्रण पर भोजन कर लेते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन में भी कठोर नियम न होने से भिक्षुणियों की संयम-साधना पर खतरा उत्पन्न हुआ और उनकी संख्या विलुप्त हो गई है। बौद्ध भिक्षु भिक्षा में प्राप्त मांस का सेवन भी न छोड़ सके। वहीं जैन साधु- साध्वी संयम की पालना में कहीं आगे हैं। कतिपय अपवाद को छोड़कर वे आज भी पदयात्रा करके एक ग्राम से दूसरे ग्राम पहुँचते हैं, वाहन आदि का उपयोग नहीं करते। पास में फूटी कौडी भी नहीं रखते तथा एषणा समिति के नियमों का पालन करते हुए शुद्ध गवेषाणापूर्वक आहार ग्रहण करते हैं। मांस-मदिरा के सेवन से जैन साधु-साध्वी कोसों दूर हैं। साधु-साध्वी के पारस्परिक व्यवहार के नियम इतने कठोर हैं कि वे अकेले में कभी मिल बैठकर बात नहीं कर सकते। दिन के निश्चित समय में ही गृहस्थ स्त्रह-पुरुष की उपस्थिति में वे मिल सकते हैं तथा रत्नत्रय की साधना की अभिवृद्धि सम्बन्धी चर्चा कर सकते हैं, विकारवर्धक चर्चा नहीं कर सकते। दिगम्बर मुनि बाह्य परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं तथा श्वेताम्बर साधु लज्जा एवं संयम की रक्षा के लिए सीमित वस्त्र रखते हैं। उन वस्त्रादि पर भी मूर्च्छाभाव का होना उसी प्रकार त्याज्य है, जिस प्रकार शरीर एवं अपने वैचारिक आग्रह के प्रति मूर्च्छाभाव त्याज्य है।

बौद्धदर्शन में दुःखमुक्ति के लिए आष्टांगिक मार्ग का जो प्रतिपादन किया गया है उसका समावेश जैनदर्शन के त्रिरत्न में हो जाता है। आष्टांगिक मार्ग है-१.सम्यक्दृष्टि

२. सम्यक्संकल्प ३. सम्यक्वाचा ४. सम्यक्कर्मान्त ५. सम्यक्आजीव ६. सम्यक्व्यायाम ७.सम्यक्स्मृति और ८. सम्यक्समाधि। इनमें प्रथम दो को प्रज्ञा, मध्य के तीन को शील एवं अन्तिम तीन को समाधि के अन्तर्गत विभक्त किया जाता है। जैनदर्शन के अनुसार विचार करें तो सम्यक्दृष्टि को सम्यक्दर्शन के अन्तर्गत एवं सम्यक् संकल्प को सम्यक्ज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। शेष सम्यक्वाचा, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति एवं सम्यक्समाधि को सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत सन्निविष्ट किया जा सकता है। एक प्रकार से आष्टांगिक मार्ग निर्वाण के मार्ग को विस्तार से प्रस्तुत करता है तथा त्रिरत्न उस मार्ग का संक्षेप में प्रतिपादन करता है।

बौद्धदर्शन में प्रमाण दो प्रकार का मान्य है- १. प्रत्यक्ष २. अनुमान। प्रत्यक्ष प्रमाण निर्विकल्प ज्ञानात्मक होता है तथा अनुमान प्रमाण सविकल्प ज्ञानात्मक। प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय स्वलक्षण अर्थ होता है तथा अनुमान प्रमाण का विषय सामान्य लक्षण प्रमेय होता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में प्रमाणों के पृथक्-पृथक् प्रमेय स्वीकार किए गए हैं। जबकि जैनदर्शन में प्रमेय का स्वरूप एक ही प्रकार का स्वीकार किया गया है और वह सामान्य-विशेषात्मक कहा गया है। उसे ही द्रव्यपर्यायात्मक, एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक अथवा नित्यानित्यात्मक कहा जाता है। प्रमाण दो प्रकार के मान्य हैं- १. प्रत्यक्ष २. परोक्ष। इनमे परोक्ष प्रमाण के भट्ट अकलङ्क एवं उत्तरवर्ती आचार्यों ने पाँच भेद स्वीकार किए हैं- १. स्मृति २. प्रत्यभिज्ञान ३. तर्क ४. अनुमान एवं ५. आगम प्रमाण। बौद्ध दार्शनिक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क को प्रमाण नहीं मानते हैं[१३] तथा आगम प्रमाण का भी वे अनुमान प्रमाण में ही समावेश कर लेते हैं।[१४]

बौद्धधर्म का वैशिष्ट्य -

बौद्धधर्म का उद्भव यद्यपि जैनधर्म की भाँति भारतीय भूभाग पर हुआ, तथापि बौद्ध भिक्षुओं की प्रचारात्मक दृष्टि के कारण यह धर्म आज एशिया के चीन, तिब्बत, कोरिया, जापान, श्रीलंका, भूटान, बर्मा आदि विभिन्न देशों में व्याप्त है तथा अरबों की संख्या में इसके अनुयायी हैं। यूरोप एवं अमेरिकी देशों में भी यह धर्म निरन्तर प्रसार पा रहा है। प्रसार का आधार हिंसात्मक साधन नहीं, अपितु करुणा, मैत्री एवं मानवता के अहिंसात्मक सिद्धान्त हैं। ईसाई एवं इस्लाम धर्म के पश्चात् विश्व में सर्वाधिक अनुयायी बौद्धधर्म के माने जाते हैं।

जैन धर्म भारतीय धरा पर सुरक्षित रहा, यहाँ पूर्व से उत्तर, पश्चिम एवं दक्षिण तक पहुँचा, किन्तु विदेशों में अपने अनुयायी न बना सका। इसके अनेक कारण संभव हैं- (१) जैन श्रमण-श्रमणियों की आचारसंहिता अत्यन्त कठोर है जो उन्हें वाहनों द्वारा विदेशी यात्रा के लिए अनुमति प्रदान नहीं करती। (२) जैनधर्म अपनी उदार एवं अनेकान्तवादी दृष्टि के कारण भारतीय वैदिक परम्पराओं के साथ समन्वय बिठाने में सक्षम रहा, अतः उसके समक्ष ऐसी कोई विवशता नहीं रही कि उसे यहाँ से पलायन करना पड़े। बौद्ध भिक्षुओं को भारत से पलायन करना पड़ा था।

जैन धर्मावलम्बी आज अनेक देशों में रह रहे हैं, किन्तु वे मूलतः भारतीय हैं। जो कोई विद्वान् अथवा समणी विदेश में धर्मोपदेश करते हैं वे भी वहाँ रह रहे भारतीय मूल के जैनों को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। बौद्धधर्म भारत में पुनः प्रसार पा रहा है। बीसवीं सदी में डॉ.

भीमराव अम्बेडकर स्वयं बौद्ध बने तथा भारतीय दलितवर्ग को विशाल स्तर पर बौद्धधर्म से जोड़ा। इक्कीसवीं सदी में अनेक विश्वविद्यालयों में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत बौद्ध अध्ययन केन्द्रों की स्थापना हो रही है।

बुद्ध की वाणी जितनी मूलरूप में सुरक्षित रही है, उतनी महावीर की वाणी सुरक्षित नहीं रह सकी। बुद्ध की वाणी के संरक्षण हेतु चार माह में ही प्रथम संगीति हो गई थी, जबकि महावीर की वाणी के संरक्षण हेतु उनके निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् प्रथम वाचना हुई। अभी विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी से त्रिपिटकसाहित्य के १४० भाग प्रकाशित हुए हैं, जिनमें अट्ठकथा आदि व्याख्यासाहित्य भी सम्मिलित है। सम्पूर्ण त्रिपिटकसाहित्य पालिभाषा में लिखा गया है। महायान परम्परा का बौद्ध साहित्य संस्कृत में लिखा गया है। संस्कृत में लिखित बौद्ध साहित्य का बहुभाग चीनी, तिब्बती आदि भाषाओं में अनूदित हुआ। उसका बहुत अंश संस्कृत में आज भी अप्राप्य बना हुआ है।

बौद्धदर्शन में करुणा का विशेष प्रतिपादन हुआ है। महायान बौद्ध में महाकरुणा के रूप में करुणा को व्यापकता प्रदान करता है। वहाँ माना गया है कि बोधिसत्त्व में इतना करुणाभाव होता है कि वह संसार के समस्त प्राणियों को दुःखमुक्त करके बाद में स्वयं मुक्त होना चाहता है।

यदि मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाये तो बौद्धदर्शन में उसका जैनदर्शन की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म विवेचन हुआ है। बौद्ध मनोविज्ञान में चित्त की विभिन्न दशाओं का विस्तृत वर्णन हुआ है। लोभ, मोह और द्वेष से युक्त चित्त किस प्रकार अनेक दोषों को उत्पन्न करता है तथा उसकी विभिन्न अवस्थाएं किस प्रकार परिवर्तित होती रहती हैं, इसका विवेचन बौद्धग्रन्थों में विस्तार से प्राप्त होता है। चित्त और चैतसिक का विवेचन बौद्धर्शन का वैशिष्ट्य है। इसमें रागादि चैतसिकों के अनेक भेद प्रतिपादित हैं।

जैनधर्म का वैशिष्ट्य -

जैन धर्म-दर्शन में प्रभु महावीर के द्वारा उन प्रश्नों का भी समीचीन समाधान किया गया है, जिन्हें बुद्ध ने अव्याकृत कहकर टाल दिया था। उदाहरण के लिए-लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत ? लोक अन्तवान है या अनन्त ? जीव और शरीर एक है या भिन्न ? तथागत देह त्याग के बाद भी विद्यमान रहते हैं या नहीं ? इत्यादि प्रश्न बुद्ध के द्वारा अनुत्तरित हैं। वे इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझते थे तथा उन्हें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के आक्षेप की सम्भावना रहती थी, किन्तु भगवान महावीर ने इन प्रश्नों का भी सम्यक् समाधान किया है। उनके समक्ष जब यह प्रश्न आया कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत तो प्रभु ने इसका उत्तर देते हुए फरमाया कि लोक स्यात् शाश्वत है, एवं स्यात् अशाश्वत। त्रिकाल में एक भी समय ऐसा नहीं मिल सकता, जब लोक न हो, अतः लोक शाश्वत है। परन्तु लोक सदा एक सा नहीं रहता। कालक्रम से उसमें उन्नति, अवनति होती रहती है, अतः वह अनित्य और परिवर्तनशील होने के कारण अशाश्वत है।[१५]

इसी प्रकार लोक की सान्तता और अनन्तता के संबंध में भी भगवान् महावीर ने भगवतीसूत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के आधार पर उत्तर देते हुए कहा है कि द्रव्य की अपेक्षा से लोक एक है, अतः सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा भी लोक सान्त है, किन्तु काल एवं

भाव की अपेक्षा से लोक अनन्त है। काल का कोई अन्त नहीं है। अतः काल की अपेक्षा लोक अनन्त है। भाव की अपेक्षा से भी लोक अनन्त है, क्योंकि धर्मास्तिकायादि षड्द्रव्यात्मक लोक की पर्यायों का कभी अन्त आने वाला नहीं है।[१६] इन द्रव्यों का कभी भी पूर्णतः नाश नहीं होता। इसलिए लोक जैनदर्शन में अनादि-अनन्त है।

जीव और शरीर एक है या भिन्न, इस प्रश्न का समाधान भी जैनदर्शन में उपलब्ध होता है। जीव ज्ञानगुण एवं दर्शनगुण से सम्पन्न होता है, जबकि शरीर औदारिक आदि पुद्गलों से निर्मित होता है। शरीर में चेतना की प्रतीति जीव के कारण होती है। जब तक शरीर के साथ जीव का संयोग रहता है तब तक शरीर में चेतना बनी रहती है। किन्तु शरीर से जीव के पृथक् होते ही शरीर जड़ हो जाता है। इसलिए जीव और शरीर परमार्थतः पृथक् हैं, किन्तु जीवन जीते समय उनका संयोग बना रहता है। भगवतीसूत्र में आत्मा एवं शरीर के भेदाभेद की चर्चा उठायी गई है, जिसका अभिप्राय है कि जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है, तब वह रूपी व अचेतन है तथा जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है तब शरीर रूपी एवं सचेतन है।[१७] पंडित दलसुख मालवणिया इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं -जीव और शरीर का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश हो जाने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में मौजूद रहती है, या सिद्धावस्था में अशरीरी आत्मा भी होती है। अभेद इसलिए मानना चाहिए कि संसारावस्था में शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् या अग्नि-लोहपिंडवत् तादात्म्य होता है इसलिए काया से किसी वस्तु का स्पर्शी होने पर आत्मा में संवेदन होता है और कायिक कर्म का विपाक आत्मा में होता है।[१८] देह-त्याग के पश्चात् तथागत रहते हैं या नहीं, इस प्रश्न को जीव की नित्यता या अनित्यता के रूप में समझा जा सकता है। भगवतीसूत्र में इस प्रकार का प्रश्न उठाया गया है कि जीव शाश्वत है या अशाश्वत ? इसका उत्तर देते हुए भगवान महावीर कहते हैं कि द्रव्य की अपेक्षा से जीव शाश्वत है तथा पर्याय की अपेक्षा से जीव अशाश्वत है। इसका तात्पर्य है कि मुक्त जीव भी द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से शाश्वत होते हैं तथा पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से आश्वत होते हैं।

कर्मसिद्धान्त का जितना विस्तृत एवं व्यवस्थित प्रतिपादन जैनदर्शन में प्राप्त होता है उतना बौद्धदर्शन में नहीं मिलता। यह भी कहा जा सकता है कि अन्य सभी भारतीय दर्शनों की अपेक्षा जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का गूढ़ एवं विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। जैनदर्शन में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र एवं अन्तराय - इन आठ कर्मों एवं इनकी उत्तर प्रकृतियों का विवेचन हुआ है। षट्खण्डागम, प्रज्ञापनासूत्र, भगवतीसूत्र, कसायपाहुड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड एवं विभिन्न कर्मग्रन्थों में बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। बंधनकरण, उदीरणाकरण, अपकर्षण, उत्कीर्ण, उपशमना, संक्रमण, निधत्त, निकाचना आदि करणों का विवेचन जैन ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण रीति से प्राप्त होता है। जैन कर्मसिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में भी परिवर्तन कर सकता है। मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। गुणश्रेणी में चढ़ता हुआ साधक अन्तर्मुहूर्त में अपने कर्मों का क्षय कर सकता है। गुणस्थानसिद्धान्त, लेश्यासिद्धान्त आदि जैनदर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त हैं जो उसे बौद्धदर्शन से पृथक् प्रतिपादित

करते हैं। बौद्ध दर्शन में कर्मसिद्धान्त की चर्चा प्राप्त होती है। वहाँ आलयविज्ञान में वासनाएँ स्वीकार की गई हैं जो समय आने पर फल प्रदान करती हैं। जैन दर्शन की भाँति बौद्धदर्शन में कर्म को पौद्गलिक या अचेतन नहीं माना गया है।

बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया में आस्रव, संवर आदि पारिभाषिक शब्द जिस प्रकार जैनदर्शन में प्रयुक्त हुए हैं उसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी उनका प्रयोग दिखाई देता है। ये शब्द दोनों दर्शनों में लगभग समान अर्थ रखते हैं। जैनदर्शन में पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के लिए तप का विधान है। बौद्धधर्म में तप को कायक्लेष मानकर छोड़ दिया गया, किन्तु जैनदर्शन आत्मानुशासन के लिए तथा पूर्वबद्ध कर्मों को शिथिल एवं निर्जरित करने के लिए बाह्य एवं आभ्यन्तर तप का प्रतिपादन करता है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश एवं प्रतिसंलीनता ये छह बाह्य तप हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग ये छह आभ्यन्तर तप हैं। ये दोनों प्रकार के तप मनुष्य को आत्यसंयम के साथ संवर एवं निर्जरा का पथ प्रशस्त करते हैं। तप के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों के फलभोगकाल एवं फलानुभव में कमी आती है तथा कर्मों की उदीरणा होकर उनकी शीघ्र निर्जरा हो जाती है। स्वाभाविक रूप से उदय में आने वाले कर्मों को समय से पूर्व उदय में लाने की प्रक्रिया उदीरणा कहलाती है। तप के द्वारा यह उदीरणा सम्भव होती है। गहनता से विचार किया जाए तो समभाव की साधना एवं आत्मजय का मार्ग तप के द्वारा प्रशस्त होता है। इसके द्वारा रागद्वेषादि विकार क्षीण होते हैं। जिस तप से विकारों पर विजय प्राप्त न हो तथा अहंकार, क्रोध आदि कषायों की वृद्धि हो, उस तप को जैनदर्शन में अज्ञान तप या बाल तप कहकर हेय माना गया है। सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् ज्ञानपूर्वक किया गया तप ही जैनदर्शन में निर्जरा का साधन माना गया है। अज्ञानपूर्वक किया गया दीर्घकालीन तप कोई अर्थ नहीं रखता। बौद्धदर्शन में जिस तप को कायक्लेश स्वीकार कर हेय माना गया है वह सम्भवतः दीर्घकालीन अनशन तप है। तप के अन्य भेद दुःखमुक्ति की साधना में किसी भी प्रकार से हेय नहीं माने जा सकते। वासना के संस्कार को तोड़ने में तप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, इससे बौद्ध दर्शन भी असहमत नहीं हो सकता। भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, प्रतिसंलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि भेद किसी न किसी रूप में उन्हें भी मान्य ही हैं, भले ही उन्होंने इनका सीधा प्रतिपादन न किया हो।

तीर्थंकर महावीर की वाणी का कुछ अंश जैनागमों के रूप में सुरक्षित है। इन आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका, टब्बा आदि व्याख्यासाहित्य भी लिखा गया है जो जैन साहित्य की विशालता को इंगित करता है। दिगम्बरपरम्परा में षट्खण्डागम, कसायपाहुड आदि ग्रन्थ सुरक्षित हैं जो पूर्ववर्ती कर्मवाद के अंशरूप में स्वीकार्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि कृतियाँ आगमवत् मान्य की गई हैं। तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थ भी दिगम्बरपरम्परा की थाती हैं। यदि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के विद्वान् दोनों परम्परा के ग्रन्थों का अध्ययन करें तो जैनपरम्परा की प्रस्तुति अधिक सशक्त रूप में हो सकती है। इस दिशा में विद्वानों ने कदम भी आगे बढ़ाये हैं जो स्तुत्य हैं।

अहिंसा का प्रतिपादन यद्यपि जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों में प्राप्त होता है, तथापि जैनधर्म में उसकी विशेष सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है। जैनदर्शन में पृथ्वीकायिक, अपकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवों की जो परिकल्पना है, वह बौद्ध दर्शन में दिखाई नहीं देती है। बौद्धन्याय के ग्रन्थों में तो वनस्पति को भी चेतनारहित स्वीकार किया गया है,[१९] जबकि विज्ञान ने भी वनस्पति में प्रयोग द्वारा चेतना सिद्ध कर दी है।

जैनदर्शन लोक को वास्तविक प्रतिपादित करता है तथा उसकी समुचित व्याख्या करता है। जैनदर्शन के अनुसार यह लोक पंचास्तिकायात्मक अथवा षड्द्रव्यात्मक है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय - ये पाँच अस्तिकाय जिसमें हो वह लोक है। इनमें कालद्रव्य को मिलाकर लोक को षड़द्रव्यात्मक भी कहा गया है। बौद्धदर्शन में अस्तिकाय की कोई अवधारणा नहीं है, न ही वहाँ धर्म, अधर्म द्रव्यों की परिकल्पना है। आकाश एवं काल को बौद्धदर्शन भी स्वीकार करता है। जीव को बौद्धदर्शन में चित्त, विज्ञान या पुद्गल कहा गया है। जैनदर्शन का पुद्गल वहाँ रूप शब्द से अभिहित है। पुद्गल परमाणु का जो सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन में प्राप्त होता है वह बौद्धदर्शन में उपलब्ध नहीं है।

जैनदर्शन में ज्ञान एवं दर्शन को जीव का लक्षण स्वीकार करते हुए इन दोनों को पृथक् प्रत्ययों के रूप में परिभाषित किया गया है जबकि बौद्धदर्शन में ऐसे दो पृथक् प्रत्यय नहीं हैं। बौद्ध दार्शनिक ज्ञान को ही निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेदों में विभक्त करते हैं जबकि जैनदर्शन में दर्शन को निर्विकल्पक एवं ज्ञान को सविकल्पक स्वीकार किया गया है। जैन दार्शनिक दर्शन एवं ज्ञान का क्रम स्वीकार करते हैं। दर्शन के पश्चात् ज्ञान एवं ज्ञान के अनन्तर दर्शन का क्रम चलता रहता है। जैनदर्शन में ज्ञान के पाँच प्रकार प्रतिपादित हैं- १.मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान) २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्याय ज्ञान एवं ५. केवलज्ञान। बौद्धदर्शन में ज्ञान के इस प्रकार के भेद परिलक्षित नहीं होते हैं।

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। आचार्य सिद्धसेन ने अनेकान्तवाद की व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता अंगीकार करते हुए कहा है कि अनेकान्तवाद के बिना लोक का व्यवहार नहीं चल सकता-

जेण विणा लोगस्स ववहारो वि सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो, णमोऽणेगंतवायस्स।।[२०]

अनेकान्तवाद में व्यवहार और निश्चय का समन्वय स्थापित किया जाता है। कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र ने निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों की आवश्यकता स्वीकार करते हुए कहा है -

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।[२१]

बुद्ध जहाँ शाश्वतवाद और उच्छेदवाद से बचने के लिए मध्यम मार्ग को स्वीकार करते हैं एवं आत्मा के स्वरूप के संबंध में उसकी नित्यता या अनित्यता के प्रतिपादन से बचते हैं वहाँ जैन दर्शन में आत्मा को नित्यानित्यात्मक स्वीकार किया गया है।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है उसमें सत् या वस्तु उसे कहा गया है जो अर्थक्रियाकारी हो तथा क्षणिक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ होती है। उन्होंने नित्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व को असंभव बताकर क्षणिक पदार्थ में उसे स्वीकार किया है। जैन दार्शनिक वस्तु को द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से नित्य तथा पयार्यार्थिक नय की दृष्टि से अनित्य स्वीकार करते हैं।

उपसंहार

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो जैनधर्म (निर्ग्रन्थधर्म) बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन है, क्योंकि तीर्थंकर महावीर के पूर्व भी जैन परम्परा में २३ तीर्थंकर हो गए हैं, जिनमें ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों के पुष्ट प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

बौद्ध धर्म सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक (शून्यवाद) एवं योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदायों में विभक्त होकर विकसित हुआ है। जैनधर्म दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त होकर विकसित हुआ है,[२२] किन्तु बौद्ध दर्शन की विभिन्न सम्प्रदायों में तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं में पर्याप्त मतभेद दृग्गोचर होता है, ऐसा कोई तत्त्वमीमांसीय भेद जैन दर्शन की सम्प्रदायों में दिखाई नहीं देता है। जैन दर्शन के दोनों सम्प्रदाय वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक स्वीकार करते हैं तथा उसका बाह्य अस्तित्व मानते हैं। जबकि बौद्ध दर्शन में विज्ञानवाद के मत में वस्तु का बाह्य अस्तित्व ही मान्य नहीं है, वह विज्ञान को ही सत् स्वीकार करता है। सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक मत में बाह्य वस्तु का अस्तित्व तो स्वीकृत है, किन्तु वे उसे क्षणिक मानते हैं। माध्यमिक मत में वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से निःस्वभाव है तथा सत्, असत्, सदसत् एवं न सत् न असत्- इन चार कोटियों से विनिर्मुक्त है। जैन दर्शन में वस्तु को सदसदात्मक स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन में मान्य वस्तु का लक्षण ‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’ सभी द्रव्यों या पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है। जैन दर्शन में षड्द्रव्यात्मक लोक की जैसी मान्यता है वेसी कोई मान्यता बौद्ध दर्शन में दिखाई नहीं देती।

बौद्ध दर्शन में शाश्वतवाद एवं उच्छेदवाद का परिहार किया गया है। इसीलिए बुद्ध आत्मा की शाश्वतता एवं आशाश्वतता आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में मौन हैं। आत्मा को स्वीकार करने पर शाश्वतवाद का तथा उसे न मानने पर उच्छेदवाद का आक्षेप आता है, जिसे टालने के लिए बुद्ध ने इस प्रकार के प्रश्नों पर मौन धारण करना उचित समझा। इसके विपरीत भगवान महावीर ने शाश्वतता एवं आशाश्वतता का नय दृष्टि से समन्वय स्थापित किया है जो जैन धर्म की व्यापक अनेकान्त दृष्टि का सूचक है।

ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन पाँच ज्ञानों का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान को सविकल्पक निरूपित करता है तथा दर्शन को निर्विकल्पक रूप में स्थापित करते हुए उसे ज्ञान से पृथक् प्रत्यय के रूप में प्रतिष्ठित करता है, जबकि बौद्ध दर्शन ज्ञान के ही निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद अंगीकार करता है।

आचारमीमांसा की दृष्टि से देखें तो दोनों दर्शन सम्यग्दर्शनपूर्वक आचार को महत्त्व देते हैं किन्तु बौद्ध दर्शन आचार के परिपालन में अधिक कठोरता एवं शिथिलता के मध्य का मार्ग अपनाता है, वहाँ जैन दर्शन में ज्ञानपूर्वक आचरण की कठोरता पर बल प्रदान किया गया है। यही कारण है कि जैन साधु-साध्वी आज भी आचार पालन की दृष्टि से अन्य धर्मों के साधु-साध्वियों की अपेक्षा अग्रणी हैं।

दोनों दर्शनों का अध्ययन करने पर विदित होता है कि इनका पारस्पिक अध्ययन इन दर्शनों के हार्द को समझने में सहायक है। दोनों दर्शनों की आध्यात्मिक दृष्टि अत्यन्त समृद्ध है तथा मानवीय चरित्र को उन्नत बनाने में सहायक है। दोनों धर्मों में क्रोधादि, रागादि विकारों पर विजय को महत्त्व दिया गया है।

संदर्भ :

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः।- वैशेषिक सूत्र १.१.२

२. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त

३. उत्तराध्ययनसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, अध्ययन २५ गा. ३३

४. आदिपुराण, ३८.४५

५. व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र (भगवतीसूत्र), आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, शतक १२, उद्देशक २, पृष्ठ-१३४

६. दीघनिकाय-३३ संगितिपरियाय सुत्त में चार प्रश्नव्याकरण?, द्रष्टव्य, आगम-युग का जैनदर्शन, प्राकृत भारती अकादमी, जयुपर १९९०, पृ.५३-५४

७. योगसूत्र में भी इनका उल्लेख हुआ है- मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुखपुण्यापुण्याविषयाणां भवनातिश्चत्तप्रसादनम्। - योगसूत्र १.३३

८. नागार्जुन, मध्यमूल २४.१०

९. समयसार, प्रथम अधिकार, गाथा ८

१०. सुत्तपटिक, खुद्दकनिकाय, खुद्दकपाठ, रतनसुत्त

११. आवश्यक सूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८२, शरण सूत्र, पृ.१०

१२. देशसर्वतोऽणुमहती। - तत्त्वार्थसूत्र ७.२

१३. यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते।- प्रमाणसमुच्चय, वृत्ति, मैसूर, १९३०, पृष्ठ-११

१४. न प्रमाणान्तरं शब्दमनुमानात्, तथा हि सः। - दिङ्.नाग, उद्धृत, तत्त्वसंग्रहपंजिका, बौद्ध भारती प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ-५३९

१५. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक ९, उद्देशक ६

१६. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक २, उद्देशक १

१७. व्याचयाप्रज्ञप्तिसूत्र, शतक १३, उद्देशक ७

१८. आगमयुग का जैनदर्शन, पृष्ठ-६५

१९. न्यायबिन्दु, ३.५९

२०. सन्मतितर्क, ६९

२१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २२५

२२. इन दोनों के अतिरिक्त यापनीय सम्प्रदाय भी अस्तित्व में रहा है।

- 3K24-25
कुड़ी भगतासनी,
जोधपुर - ३४२००५

जैनदर्शन एवं पातञ्जलयोग दर्शन : एक तुलनात्मक अनुशीलन

- डॉ. अशोक कुमार जैन

आत्मविकास हेतु प्रचलित आध्यात्मिक साधन पद्धतियों में योग महत्त्वपूर्ण है जिसे सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। योग से मानव जीवन पूर्ण विकसित होता है। योग शब्द 'युज्' धातु से 'घज्' प्रत्यय लगाकर बना है। युज् धातु के दो अर्थ हैं जिनमें से एक का अर्थ है- संयोजित करना, जोड़ना और दूसरा अर्थ है मन की स्थिरता, समाधि। महर्षि पजञ्जलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा है। जैन परम्परा में योग को अनेक रूपों में स्वीकार किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है -

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं।।
-पञ्चास्तिकाय १४४।।

संवर और योग से युक्त जीव बहुविध तपों सहित वर्तता है वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है। उपर्युक्त गाथा की टीका में आचार्य अमृचन्द ने लिखा है - 'निर्विकल्पलक्षणाध्यानशब्दवाच्य शुद्धोपयोगो योगः' अर्थात् निर्विकल्प लक्षणमय ध्यान शब्द से कहने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो योग है।

आचार्य हरिभद्र के अनुसार -

एएसिं णियणियभूमियाए उचियं जमेत्थऽणुट्ठाणं।
आणामयसंयुत्तं तं सव्वं चेव योगो ति।। योगशतक-२१

इन अपुनर्बन्धक आदि जीवों के अपनी-अपनी भूमिका के लिए उचित तथा आज्ञारूप अमृत से संयुक्त जो जो अनुष्ठान हैं वे सब योग हैं।

तल्लक्खणयोगाओ उ चिन्तवित्तीणिरोहओ चेव।
तह कुसत्रपवित्तीए मोक्खेण उ जोयणाओ त्ति।।
-योगशतक-२२

योग के अनेक लक्षण हैं जैसे चित्तवृत्ति का निरोध योग है, कुशल प्रवृत्ति योग है, मोक्ष के साथ योजित करने वाली प्रवृत्ति योग है। ये सब भिन्न-भिन्न भूमिका के साधकों में घटित होते हैं।

उपाध्याय यशोविजय के अनुसार -

मोक्षेण योजनाद् योगः, सर्वोप्याचार इष्यते।
विशिष्य स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्रयगोचरः।।
ज्ञानसारचयनिका-८४

मोक्ष के साथ योजित करने के कारण समस्त आचार 'योग' कहलाता है। उस योग के पांच प्रकार हैं - स्थान (आसन), वर्ण, अर्थज्ञान, आलम्बन तथा एकाग्रता।

जैन परम्परा में योग को मोक्षप्राप्ति का उपाय बताया गया। पातञ्जल योगदर्शन सांख्यदर्शन की साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें योग का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ संक्षिप्त है, विषय की पूर्ण स्पष्टता और अनुभव के प्राधन्य को समाहित किये हुए है।

जैन परम्परा में योग का आधार है- गुप्ति जिसको परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वामी ने लिखा है **''सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति'** अर्थात् योगों का निग्रह करना गुप्ति है। जैन साधना का सूत्र होगा **'मनोवाक्कामगुप्तिर्योगः'**। कोई कहता है कि ध्यान तो मानसिक परिणाम है।(ध्यान मानसिक ही होता है) यह यथार्थ नहीं है क्योंकि मन, वचन और शरीर - तीनों योगों से ध्यान होता है। ऐसा अर्हत् द्वारा निरूपित है। आचार्य हरिभद्र के योग विषयक ग्रन्थ जैनदर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं। आचार्य हरिभद्र की दृष्टि बहुत उदार एवं समन्वयात्मक रही है। उन्होंने उभयपरम्पराओं (जैन एवं सांख्ययोग दोनों में) सामञ्जस्य कीएक विशेष चिन्तनदृष्टि प्रदान की है जो योगभिलाषियों के लिए पथप्रदर्शक बन सकती है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा निरूपित योग-स्वरूप तथा पातञ्जल योग में निर्दिष्ट योग स्वरूप में भिन्नता व एकरूपता दोनों ही निहित है। जब हम चित्तवृत्ति निरोध तथा मोक्षप्रापक धर्मव्यापार इन दोनों अर्थों का स्थूल रूप से चिन्तन करते हैं तो दोनों अर्थों में भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर एकरूपता भी प्राप्त होती है।

चित्तवृत्ति का निरोध करना एक क्रिया है, साधना है। इसका तात्पर्य है चित्त की वृत्तियों को रोकना किन्तु यह एकान्ततः निषेधपरक भाव को ही अभिव्यक्त नहीं करती, बल्कि विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करता है। रोकने के साथ करने का भी सम्बन्ध है। इसलिए पतञ्जलि द्वारा योगस्वरूप का वास्तविक अर्थ यही है कि साधक अपनी संसाराभिमुख चित्तवृत्तियों को रोककर अपनी साधना को मोक्ष अर्थात् साध्यसिद्धि के अनुकूल बनायें। स्वमनोवृत्तियों को सांसारिक प्रपञ्च तथा विषम वासनाओं से विमुख कर मोक्षाभिमुखी बनाये दूसरी ओर आचार्य हरिभद्र द्वारा निर्दिष्ट 'योग' अर्थात् मोक्षप्रापक धर्मव्यापार का भी यही अर्थ ध्वनित होता है। इसके अनुसार मोक्ष के साथ सम्बन्ध करने वाली साधना या क्रिया ही योग है।

जैनदर्शन में आध्यात्मिक साधना के परिप्रेक्ष्य में 'संवर' शब्द का प्रयोग हुआ है। संवर आस्रव के निरोध को कहा है। इस तरह संवर और योग दोनों के अर्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु दोनों स्थान पर विशेषण अलग हैं - एक में चित्तवृत्ति है तो दूसरे में आस्रव। आगमों में आस्रव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को कहा है। यहां आस्रव में प्रयुक्त 'योग' योगदर्शन में प्रयुक्त 'चित्तवृत्ति' के स्थान पर है। इस प्रकार पतञ्जलि ने जिसे चित्तवृत्ति कहा है, जैनदर्शन में उसे आस्रव रूप योग कहा है।

आस्रव योग के दो भेद हैं - सकषाय और अकषाय। ऐसे ही दो भेद चित्तवृत्ति के भी हैं - क्लिष्ट और अक्लिष्ट। जैनदर्शन कषाय के चार भेद मानता है - क्रोध, मान, माया, लोभ तथा पतञ्जलि भी क्लिष्ट चित्तवृत्ति के चार भेद - अविद्या, राग, द्वेष और अभिनिवेश बताते

हैं। जैनदर्शन में प्रथम सकषाय योग और बाद में अकषाय योग के निरोध की स्वीकृति है। पतञ्जलि भी पहले क्लिष्ट चित्तवृत्ति का निरोध तथा बाद में अक्लिष्ट चित्तवृत्ति के निरोध की बात करते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन एवं पातञ्जल योगदर्शन में निरूपित योग का स्वरूप स्थूल दृष्टि से भिन्न है, किन्तु सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने पर अर्थ तथा विषय में एकरूपता है।

आचार्य हरिभद्र ने निश्चय और व्यवहार दो दृष्टि से योग निरूपति किया है - वे लिखते हैं :-

निच्छयओ इह जोगो सण्णाणाईण तिण्ह संबंधो।
मोक्खेण जोयणाओ णिद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं।।
योगशतक-२

योगीश्वरों (अर्हंतों) ने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र इन तीनों के एक साथ अवस्थान को निश्चयदृष्टि से योग कहा है, क्योंकि यह योग आत्मा को मोक्ष के साथ नियोजित करता है।

ववहारओ उ एसो विन्नेओ एयकारणाणं पि।
जो संबंधो सो वि य कारण कज्जोवयाराओ।।
योगशतक-४

कारण में कार्य का उपचार कर सम्यग्ज्ञान आदि कारणों का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है, उसको भी व्यवहारदृष्टि से योग कहा गया है। गुरु की विनय करना, धर्मशास्त्रों का विधिपूर्वक श्रवण, ग्रहण आदि करना तथा शास्त्रोक्त विधि निषेधों का यथाशक्ति पालन व्यवहारयोग है। इस व्यवहारयोग के पालन से कालक्रम से सम्यग्ज्ञान आदि तीनों की उत्तरोत्तर विशुद्ध अवस्था अविच्छिन्न रूप से अवश्य प्राप्त होती है।

महर्षि पतञ्जलि ने योग के अष्टांग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि प्ररूपित किये हैं। जैन दार्शनिक आचार्य हरिभद्र ने भी योगदृष्टिसमुच्चय में आठ दृष्टियों का विधान किया है जो इस प्रकार है :- १. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा ६. कान्ता, ७. प्रभा और ८. परा। इन आठ दृष्टियों में चार दृष्टियाँ प्रतिपाती और चार दृष्टियां अप्रतिपाती हैं। प्रथम चार दृष्टियों से पतन की सम्भावना बनी रहती है। इसलिए उन्हें प्रतिपाती कहा गया है जबकि अन्तिम चार दृष्टियों में पतन की संभावना नहीं होती। अतः वह अप्रतिपाती कही जाती है। यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से विषय इस प्रकार है -

१. मित्रादृष्टि और यम -

मित्रादृष्टि योग के प्रथम अंग यम के सदृश है। इस अवस्था में अहिंसा आदि पांच महाव्रतों अथवा पांच यमों का पालन होता है। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति शुभकार्यों के सम्पादन में रुचि रखता है और अशुभ कार्य करने वालों के प्रति अद्वेषवृत्ति रखता है। इस अवस्था में आत्मबोध तृण की अग्नि के समान स्थायी नहीं होता है।

२. तारादृष्टि और नियम -

तारादृष्टि योग के द्वितीय अंग नियम के समान है। इसमें शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों का पालन होता है। जिस प्रकार मित्रा दृष्टि में शुभ कार्यों के प्रति अद्वेष

गुण होता है उसी प्रकार तारा दृष्टि में जिज्ञासा गुण होता है। व्यक्ति में तत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा बलवती होती है।

३. बलादृष्टि एवं आसन -

इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति की तृष्णा शान्त हो जाती है और स्वभाव या मनोवृत्ति में स्थिरता होती है। इस अवस्था की तुलना आसन नामक तृतीय योगांग से की जाती है क्योंकि इसमें शारीरिक, वाचनिक और मानसिक स्थिरता पर जोर दिया जाता है। इसका प्रमुख गुण शुश्रूषा अर्थात् श्रवणेच्छा माना गया है। इसमें प्रारंभ किये गये शुभ कार्य निर्विघ्न पूर्ण होते हैं। इस अवस्था में प्राप्त होने वाला तत्त्वबोध काष्ठ की अग्नि के समान कुछ स्थायी होता है।

४. दीप्रादृष्टि और प्राणायाम -

दीप्रादृष्टि योग के चतुर्थ अंग प्राणायाम के समान है। जिस प्रकार प्राणायाम में रेचक, पूरक एवं कुम्भक ये तीनों अवस्थायें होती हैं उसी प्रकार बाह्य भाव नियंत्रण रूप रेचक, आन्तरिक भाव नियंत्रण रूप पूरक एवं मनोभावों की स्थिरता रूप कुम्भक की अवस्था होती है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक प्राणायाम है। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति सदाचरण या चारित्र को अत्यधिक महत्त्व देता है। वह आचरण का मूल्य शरीर की अपेक्षा भी अधिक मानता है। इस अवस्था में होने वाला आत्मबोधक दीपक की ज्योति के समान होता है। यहां नैतिक विकास होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि का विकास नहीं हो पाता। अतः इस अवस्था में पतन की सम्भावना बनी रहती है।

५. स्थिरादृष्टि एवं प्रत्याहार -

पूर्वोक्त चार दृष्टियों में अभिनिवेश या आसक्ति विद्यमान रहती है अतः व्यक्ति को सत्य का यथार्थ बोध नहीं होता। उपर्युक्त अवस्थाओं तक सत्य का मान्यता के रूप में ग्रहण होता है। सत्य का साक्षात्कार नहीं होता लेकिन इस अवस्था में आसक्ति या राग में अनुपस्थित होने से सत्य का यथार्थ रूप में बोध हो जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से यह अवस्था प्रत्याहार के समान है। जिस प्रकार प्रत्याहार में विषम-विकार का परित्याग होकर आत्मा विषयोन्मुख न होते हुए भी स्वस्वरूप की ओर उन्मुख होती है उसी प्रकार इस अवस्था में भी विषम विकारों का त्याग होकर आत्मा स्वभावोन्मुख होती है। इस अवस्था में व्यक्ति का आचरण सामान्यतया निर्दोष होता है। इस अवस्था में होने वाले तत्त्वबोध की तुलना रत्न की प्रभा से की जाती है जो निर्दोष तथा स्थायी होता है।

६. कान्तादृष्टि एवं धारणा -

कान्तादृष्टि योग के धारणा अंग के समान है जिस प्रकार धारणा में चित्त की स्थिरता होती है उसी प्रकार इस अवस्था में चित्त की स्थिरता होती है। इस अवस्था में सदसत् का विवेक पूर्णतया स्पष्ट होता है। उसमें किंकर्त्तव्य के विषय में कोई अनिश्चयात्मक स्थिति नहीं होती है। आचरण पूर्णतया शुद्ध होता है। इस अवस्था में तत्त्वबोध तारे की प्रभा के समान एक सा स्पष्ट और स्थिर होता है।

७. प्रभादृष्टि एवं ध्यान -

प्रभादृष्टि की तुलना ध्यान नामक सातवें योगांग से की जा सकती है। धारणा में चित्तवृत्ति की स्थिरता प्रभारूप एवं दीर्घकालिक होती है। इस अवस्था में चित्त पूर्णतया शान्त

होता है। पातञ्जल योगदर्शन की परिभाषा में यह प्रशान्तवाहिता की अवस्था है। इसमें रागद्वेषात्मक वृत्तियों का पूर्णतया अभाव होता है। इस अवस्था में होने वाला तत्त्वबोध सूर्य की प्रभा के समान दीर्घकालिक और स्पष्ट होता है तथा कर्ममल क्षीण प्रायः हो जाते हैं।

८. परादृष्टि एवं समाधि -

परादृष्टि की तुलना योग के आठवें अंग समाधि से की गई। इस अवस्था में चित्तवृत्तियां पूर्णतया आत्मकेन्द्रित होती हैं। विकल्प, विचार आदि का पूर्णतया अभाव होता है। इसमें आत्मा स्वस्वरूप में ही रमण करती हैं और अन्त में निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं। इस प्रकार यह नैतिक साध्य की उपलब्धि की अवस्था है। आत्मा में पूर्ण समत्व की अवस्था है जो कि समग्र आचारदर्शन का सार है। परादृष्टि में होने वाले तत्त्वबोध की तुलना चन्द्रप्रभा से की जाती है। जिस प्रकार चन्द्रप्रभा शान्त और आह्लादजनक होती है। उसी प्रकार इस अवस्था में होने वाला तत्त्वबोध भी शांत एवं आनन्दमय होता है।

आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि ये आठ दृष्टियां ऐसी हैं जिनमें साधक में धर्मसंलग्नता किसी न किसी मात्रा में अवश्य रहती है, किन्तु इसमें प्रवेश प्राप्त करने से पूर्व भी ज्ञान अथवा चेतना की एक अवस्था होती है इसे मिथ्यादृष्टि या ओधदृष्टि कहते हैं। यह ओधदृष्टि संसार के प्रवाह में पतित अविद्या में निमग्न व्यक्ति की चेतना की अवस्था है, पतञ्जलि के अनुसार यह सभी क्लेशों का मूल है और स्वयं भी महाक्लेश है।

पतञ्जलि ने प्रथम पांच को योग के बहिरंग साधन बताये हैं, अंतिम तीन को अन्तरंग साधन कहा है। अष्टांगयोग विवेकख्याति का साधन है। आचार्य हरिभद्र ने भी प्रथम चार दृष्टियों को प्रतिपात भ्रंशयुक्त कहा है अर्थात् जो साधक उन्हें प्राप्त कर लेता है उनसे भ्रष्ट भी हो सकता है पर भ्रष्ट होता ही हो, ऐसा नहीं है। भ्रष्ट या पतन की संभावना के कारण ये चार दृष्टियां सापाय - आपाय और बाधायुक्त कही जाती है। अन्तिम चार प्रतिपात रहित अर्थात् बाधारहित हैं। अप्रतिपाती दृष्टि प्राप्त होने पर योगी का अपने मोक्ष लक्ष्य की ओर प्रयाण अनवरत चालू हो जाता है। जैसे यात्रा पर बढ़े हुए पथिक को मार्ग में कुछ स्थानों पर रुकना पड़ता है जो किसी अपेक्षा से उसकी यात्रा का अंशतः विधान है, उसी तरह मोक्षाभिमुख योगी को अवशिष्ट कर्मयोग पूरा कर लेने हेतु बीच में देवजन्य आदि में से गुजरना होता है जो आपेक्षिक रूप में चरण-चारित्र्य लक्ष्य की ओर गतिशीलता या रूकावट है किन्तु यह निश्चित है, उसके इस प्रयाण का समापन - लक्ष्य प्राप्ति में होता है।

सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि से गुणस्थान की तुलना -

प्रत्येक दर्शन में आत्मिक विकास के उपायों की विस्तार से चर्चा मिलती है। अनादिकाल से यह जीव अज्ञान से भ्रमित होने के कारण वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने और समझने में असमर्थ रहता है। जैसे-जैसे व्यक्ति की रूचि तत्त्व साक्षात्कार की ओर प्रवृत्त होने लगती है वैसे-वैसे वह अपनी शक्ति का नियोजन साधना में लगाता है और निरन्तर साधना के बल पर उत्तरोत्तर विकास कर अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

पातञ्जल योगदर्शन के योगोत्कर्ष को सम्प्रज्ञात समाधि के रूप में अभिहित किया है। इसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार 'सम्' का अर्थ सम्यक् 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट और ज्ञात

का अर्थ ज्ञान युक्त है। इसका तात्पर्य यह है कि योगी की वह स्थिति, जहां चित्त में इतनी स्थिरता आ जाती है कि अपने द्वारा गृहीत ग्राह्य ध्येय सम्यक् और उत्कृष्टता से ज्ञात रहे, चित्त की मात्र उसी में स्थिरता रहे, अस्थिर न हो, उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

इस संदर्भ में पतञ्जलि ने कहा है- जिसकी राजसिक, तामसिक वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं ऐसा उसका चित्त उत्तम कोटि की मणि अर्थात् निर्मल मणि के सदृश ग्रहीता (अस्मिता) ग्रहण (इन्द्रियां) ग्राह्य (स्थूल तथ सूक्ष्म विषयों) में स्थित होकर उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाना सम्प्रज्ञात समाधि है।

ऐसी ही स्थिति परम्परा में श्रेणी आरोहण करने वाले साधक की होती है। चूंकि गुणस्थानों की परम्परा में आठवां निवृत्तिवाद गुणस्थान है यहां अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है, इसलिए इसे अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहा जाता है। इस गुणस्थान से विकास की दो श्रेणियां निःसृत होती हैं। उपशम श्रेणी, क्षपक श्रेणी या क्षायिक श्रेणी। उपशम श्रेणी द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को उपशान्त करता हुआ दशम के बाद सीधा बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान में पहुचंता है।

सम्प्रज्ञात समाधि में एक ध्येय या आलम्बन रहता है, इसे बीज कहते हैं। अतः यह बीज समाधि कहलाती है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में आलम्बन नहीं रहता। यहां सब कुछ निरुद्ध हो जाता है अतः यह सर्ववृत्ति निरोधात्मक तथा सर्वथा स्वरूपाधिष्ठानात्मक निर्बीज समाधि है।

जैन परम्परा में साधक जब शुक्लध्यान की अन्तिम स्थिति में होता है तब वह संपूर्ण क्रियाओं से उपरत हो जाता है। इस गुणस्थान को अयोग केवली के नाम से जाना जाता है। यद्यपि इसका काल बहुत अल्प या पञ्च ह्रस्व अक्षर उच्चारण प्रमाण ही है। वह पर्वत की तरह निष्प्रकम्प अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार पातञ्जल योगशास्त्र में प्रतिपादित सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति जैन परम्परा में गुणस्थान विकास क्रम की अवस्था में हैं जो योग से अयोग की दिशा की ओर या भेद से अभेद की ओर ले जाने वाला प्रस्थान है।

आचार्य हरिभद्र ने गुणस्थान रूपी आध्यात्मिक विकास क्रम को पांच अवस्थाओं में विभक्त किया है - अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। इन्होंने स्वयं ही इनकी तुलना योगदर्शन की सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात भूमिकाओं से की है। प्रथम चार सम्प्रज्ञात और अन्तिम चार असम्प्रज्ञात। इनमें समता, चित्तवृत्ति की समत्व की अवस्था ओर वृत्तिसंक्षय आत्मरमण की व्यवस्था है। समत्व हमारी आध्यात्मिक साधना का प्रथम चरण है और वृत्ति संक्षय आध्यात्मिक साध्य की उपलब्धि। पं. सुखलाल संघवी ने कहा है कि हरिभद्र ने सांख्ययोग के अनुसार उपर्युक्त मान्यता की तुलना तो की है, किन्तु जैन और सांख्य का जो मूलगत भेद है तथा उसी को लेकर वृत्तिसंक्षय का जो अर्थ जैन परंपरा के साथ संगत हो जाता है वह योग बिन्दु में बतलाया है।

आचार्य हरिभद्र तथा पातञ्जलि दोनों ने ही योग साधना में कायिक आचार की अपेक्षा मानसिक भावना की उत्कृष्टता को महत्व प्रदान किया है। पतञ्जलि ने क्रियायोग की

आवश्यकता बताते हुए कहा है- समाधि की भावना के लिए क्लेशों को तनु करने हेतु क्रियायोग है अर्थात् तप से शरीर, प्राण, इन्द्रिय ओर मन की अशुद्धिदूर होने पर वे स्वच्छ होकर क्लेशों को दूर करने और समाधि प्राप्ति में सहायता देते हैं। स्वाध्याय से अंतःकरण शुद्ध होता है और चित्त विक्षेपों के आवरण से शुद्ध होकर समाहित होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वरप्राणिधान से समाधि सिद्ध होती है और क्लेशों की निवृत्ति होती है। इस प्रकार कायिक की अपेक्षा मानसिक भावना को श्रेष्ठ बताते हुए टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि सद्बोधनय्निष्ठा तथा भावपूर्वक जो सत्क्रिया की जाती है वह दोषों को सर्वथा नष्ट कर देती है, जिससे वे पुनः नहीं उभर पाते हैं, जैसे भस्म के रूप में बदला हुआ मेढक फिर कभी जीवित नहीं होता।

बाह्य क्रिया अर्थात् शारीरिक क्रिया द्वारा दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, उपशम मात्र होता है, जिससे वे अनुकूल स्थिति पाकर फिर उभर आते हैं जैसे टुकड़े-टुकड़े बना, मिट्टी में मिला मेंढक शरीर वर्षा होने पर जीवित हो जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने भी ऐसा ही कहा है- शारीरिक क्रिया अर्थात् देहाश्रित बाह्य तप द्वारा नष्ट किये गये दोष मेंढक के चूर्ण के समान है। यही दोष यदि भावना अर्थात् मनोभाव अन्तर्वृत्ति की पवित्रता द्वारा क्षीण किये गये हों तो मेंढक की राख के समान समझना चाहिए।

आध्यात्मिक विकास में साधक अनेक प्रकार की अलौकिक सामर्थ्य भी प्राप्त करता है। जैन योग में इन्हें लब्धि, पातञ्जल योग में इसे विभूति तथा बौद्ध परम्परा में ये अभिज्ञाएं कहलाती हैं। जैनधर्म में भी संयम के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियाँ हैं जैसे आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोषधि, जलोषधि। ये क्रमशः स्पर्श से मलमूत्र के प्रयोग से, श्लोस्मा के स्पर्श से व शरीर के शेष मलों के स्पर्श से रोगों को दूर करने की शक्तियाँ हैं।

योगदर्शन में धारणा, ध्यान, समाधि- इन तीनों का किसी एक ध्येय में एकत्र होना संयम कहा गया है। संयम द्वारा योगी विकास की अनेक कोटियां प्राप्त करता है। पतञ्जलि के अनुसार स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व भूतों की इन पांच अवस्थाओं में संयम द्वारा योगी भूतजय प्राप्त करता है।

इस प्रकार जैन एवं योग परम्परा दोनों में ही योग की महत्ता को स्वीकार किया है। साधना के प्रतिपादन करने में प्रयुक्त शब्दों में कहीं असमानता हो सकती है लेकिन भावगत समानतायें दोनों ही दर्शनों में प्राप्त होती हैं। हमें साधना द्वारा स्वस्वरूप की प्राप्ति हेतु तत्पर रहना चाहिए।

- विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००५ (उ.प्र.)

मीमांसादर्शन और जैनदर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

- डॉ. कुलदीप कुमार

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार 'दर्शन' शब्द 'दृश' धातु+ल्युट् प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाए अथवा जो देखता है अथवा दृष्टि मात्र ही दर्शन है। दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से प्राप्त होती है-

१. ''दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।'' जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप को देखा जाता है वह 'दर्शन' है।

२. ''दृश्यतेऽनेन परं तत्त्वमिति दर्शनम्।'' जिसके द्वारा परम तत्त्व के दर्शन किए जाएँ वह दर्शन है। ३. ''पश्यति ''दृश्यतेऽनेन दृष्टिमात्र वा दर्शनम्।'' जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाता है या देखना मात्र दर्शन है।

४. ''दृश्यते निर्णीयते वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्।'' 'दर्शन' उस तर्क-वितर्क, मंथन या परीक्षास्वरूप विचारधारा का नाम है जो तत्त्वों के निर्णय में प्रयोजनभूत हुआ करती है।

दर्शन की परिभाषा एवं दर्शनशास्त्र का कार्य -

मनुष्य एक विचारशील या चिन्तनशील प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य करते समय अपनी विचारशक्ति का प्रयोग करता है। इसी विचारशक्ति को विवेक कहते हैं। अतः मनुष्य में जो स्वाभाविक विचार शक्ति है उसी का नाम दर्शन है। ''दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्''। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाता है वह दर्शन है। अर्थात् यह संसार नित्य है या अनित्य, इसकी पुष्टि करने वाला कोई है या नहीं, आत्मा का स्वरूप क्या है, इसका पुनर्जन्म होता है या नहीं, ईश्वर की सत्ता है या नहीं, इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है।

भारतीय दर्शनशास्त्र की एक मौलिक विशेषता यह है कि वह वस्तुतः आध्यात्मिक है, क्योंकि इसका मूलमंत्र है- 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् आत्मा को जानो। समस्त भारतीय दर्शन आत्मा की महत्ता पर प्रतिष्ठित हैं। समस्त भारतीय दर्शनों का प्रयोजन मोक्षप्राप्ति है। संसार के सभी प्राणी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिवैदिक - इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं; अतः इन दुःखों से निवृत्ति का उपाय बतलाना दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। इसलिए दर्शनशास्त्र दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का प्रतिपादन करता है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगनिदान, आरोग्य और औषधि- इन चार तत्त्वों का प्रतिपादन आवश्यक होता है, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी दुःख, दुःख के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारणों का कथन करना आवश्यक है।

दर्शन के भेद -

सर्वप्रथम दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है- भारतीय दर्शन और अभारतीय दर्शन (पाश्चात्य दर्शन)। जिन दर्शनों का प्रादुर्भाव भारतवर्ष में हुआ है वे भारतीय दर्शन हैं और जिन दर्शनों का प्रादुर्भाव भारतवर्ष के बाहर अर्थात् पाश्चात्य देशों (यूनान आदि) में हुआ है, उन्हें अभारतीय दर्शन कहा जाता है। भारतीय दर्शन भी दो भागों में विभक्त हो जाते हैं - १. वैदिक दर्शन- सांख्य, योग वेदान्त, मीमांसा, न्याय तथा वैशेषिक दर्शन।

२. अवैदिक दर्शन- जैन, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन।

जैनदर्शन -

जिस प्रकार विभिन्न दर्शनों के प्रवर्तक विभिन्न ऋषि-महर्षि हुए हैं, उस प्रकार जैनदर्शन का प्रवर्तक कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। जैन शब्द 'जिन' शब्द से बना है। 'जिन' शब्द का अर्थ है जो व्यक्ति ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों और रागद्वेषादि भावकर्मों को जीतता है वह 'जिन' कहलाता है। कहा भी जाता है कि- ''जयति कर्मारातीनिति जिनः''

ऐसे 'जिन' के द्वारा उपदिष्ट धर्म तथा दर्शन को जैनधर्म और जैनदर्शन कहते हैं। प्रत्येक युग में चौबीस तीर्थंकर होते हैं तथा वे अनादिकाल से चले आ रहे धर्म और दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। वर्तमान युग में ऋषभनाथ से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने जैनधर्म तथा दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' जैनदर्शन का आद्य सूत्रग्रंथ है। जैनदर्शन में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- ये सात तत्त्व बतलाए गए हैं। सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को मिलाकर नौ पदार्थ बतलाए गए हैं। जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- ये छः द्रव्य माने गये हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय- ये आठ कर्म हैं। जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक- ये पांच भाव होते हैं। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु- ये पांच परमेष्ठी होते हैं। अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पांच व्रत हैं। जैनदर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष को ही प्रमाण माना जाता है।

जैनदर्शन में प्रत्येक आत्मा कर्मों का नाश करके परमात्मा अर्थात् ईश्वर बन सकता है। कहा भी है- ''अप्पा सो परमप्पा'' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है।

जैनदर्शन में ईश्वर को इस सृष्टि का कर्ता नहीं माना जाता तथा वह न तो कभी अवतार लेता है और न कभी लौटकर आता है। जो आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय- इन चार घातिया कर्मो का नाश कर देता है वह केवली अथवा अरिहन्त कहलाता है। अरिहन्त अवस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य- इन चार अनन्त चतुष्टियों की प्राप्ति हो जाती है। कुछ काल बाद वही आत्मा शेष चार अघातिया कर्मों का नाश करके सिद्ध हो जाता है। सिद्धावस्था ही मोक्ष की अवस्था है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर मोक्ष प्राप्त होता है।

जिस प्रकार दूध में से घी निकालने पर दुबारा नहीं मिलाया जा सकता, गेहूँ के दाने को भूनकर बोया नहीं जा सकता, तिल में से तेल निकालने के बाद दुबारा नहीं मिलाया जा सकता, स्वर्ण पाषाण में से एक बार सोना निकालने के बाद दुबारा नहीं मिलाया जा सकता; उसी प्रकार जो जीव एक बार मुक्त हो जाता है वह पुनः शरीर धारण नहीं करता।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग हैं। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ में सर्वप्रथम मोक्षमार्ग का ही उल्लेख किया है-

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"१

१. जैनदर्शन में मति, श्रुति, अविध, मनःपर्याय और केवल- ये पांच ज्ञान माने गए हैं।

"मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।"२

जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त -

भारतीय इतिहास में जैनदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि परिस्थिति या भावना से वस्तुतत्त्व को जैसा देखा उसी को उन्होंने दर्शन के नाम से कहा। किन्तु किसी भी तत्त्व के विषय में कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नहीं हो सकती है। सर्वथा भेदभाव या अभेदवाद, नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्तदृष्टि है। जैनदर्शनानुसार प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है और कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मों का एक साथ प्रतिपादन नहीं कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त और स्याद्वाद के नाम से कहा है। जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतों का समन्वय करना है। विचार जगत का अनेकान्त ही नैतिक जगत् में अहिंसा का रूप धारण कर लेता है। अतः भारतीय एवं अभारतीय पाश्चात्य दर्शनों के इतिहास को समझने के लिए जैनदर्शन का विशेष महत्त्व है।

पूर्व मीमांसा दर्शन -

'मीमांसा' शब्द का अर्थ है- पूजित विचार। अर्थात् किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ वर्णन। "मीमांस्यते विचार्यते अवगृहीतोऽर्थो विशेषरूपेण अनया इति मीमांसा" जिसके द्वारा ग्रहण किया अर्थ विशेष रूप से मीमांसित किया जाता है अर्थात् विचारा जाता है वह मीमांसा है।

वेद के दो भाग हैं- कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। यज्ञयागादि की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है और जीव, जगत् तथा ईश्वर के रूप और परस्पर सम्बन्ध का निरूपण ज्ञानकाण्ड का विषय है। इन दोनों में दिखाई पड़ने वाले विरोधों को दूर करने के लिए मीमांसा की प्रवृत्ति होती है।

मीमांसा के दो भेद हैं- कर्ममीमांसा और ज्ञानमीमांसा। कर्मविषयक विरोधों का समाधान करती है कर्ममीमांसा तथा ज्ञान विषयक विरोधों का समाधान करती है ज्ञानमीमांसा। कर्ममीमांसा या पूर्वमीमांसा के नाम से अभिहित दर्शन 'मीमांसा' कहलाता है। ज्ञानमीमांसा या उत्तरमीमांसा के नाम से अभिहित दर्शन 'वेदान्त' कहलाता है। मीमांसा का मुख्य तात्पर्य 'समीक्षा' है।

पूर्वमीमांसा दर्शन के मूल प्रवर्तक वेदव्यास के शिष्य 'जैमिनी ऋषि' थे, जिन्होंने ईसा पूर्व '२००' में 'जैमिनिसूत्र' की रचना की। पूर्वमीमांसा में तीन मत प्रचलित हैं- (क) कुमारिल भट्ट का 'भाट्टमत', (ख) प्रभाकर मिश्र का 'प्राभाकरमत' या 'गुरुमत', (ग) मुरारी मिश्र का 'मिश्रमत'।

कुमारिलभट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा - पदार्थ दो हैं- भाव व अभाव। भाव चार हैं- द्रव्य, गुण, कर्म व सामान्य। अभाव चार हैं- प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य व प्रत्यक्ष। द्रव्य

'ग्यारह' हैं- पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन, दिक्, तम व शब्द। 'गुण'- गुण द्रव्य से भिन्न व अभिन्न हैं उनकी संख्या 'तेरह' है- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व तथा स्नेह।

प्रभाकरमिश्र या गुरुमत की अपेक्षा पदार्थ आठ हैं- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति एवं सादृश्य। द्रव्य नौ हैं- पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन व दिक्। गुण इक्कीस हैं- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, संयोग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, संस्कार, शब्द, धर्म, अधर्म तथा वेग।

मुरारि मिश्र या 'मिश्रमत' की अपेक्षा परमार्थतः ब्रह्म ही एक पदार्थ है। व्यवहार से पदार्थ चार हैं- धर्मी, धर्म, आधार व प्रदेश विशेष।

मीमांसा और जैन की तुलना-

मीमांसा वेद को अपौरुषेय व स्वतः प्रमाण वेदविहित हिंसा यज्ञादिक को धर्म, जन्म से ही वर्णव्यवस्था तथा ब्राह्मण को सर्वपूज्य मानते हैं। जैन उक्त सर्व बातों का खण्डन करते हैं। उनकी दृष्टि मं प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग ही चार वेद हैं। अहिंसात्मक हवन व अग्निहोत्रादिरूप पूजा-विधान ही सच्चे यज्ञ हैं। वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं, गुण व कर्म से होती है, उत्तम श्रावक ही यथार्थ ब्राह्मण है। इस प्रकार यह दोनों दर्शनों में भेद है।

जैनदर्शन में द्रव्य का लक्षण 'सत्' कहा गया है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य- इन तीनों से युक्त अर्थात् इन तीनों रूप है, वह सत है

"सत् द्रव्यलक्षणम्"३ , "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"४

यद्यपि द्रव्य का लक्षण सत् है, लेकिन गुण और पर्यायों के समूह को भी द्रव्य कहते हैं। जैसे जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख ज्ञान आदि गुण पाये जाते हैं और नर-नारी आदि पर्यायें पाई जाती हैं, किन्तु द्रव्य से गुण और पर्याय की सत्ता अलग नहीं है कि गुण भिन्न है, पर्याय भिन्न हैं और उनके मेल से द्रव्य बना है। अनादिकाल से 'गुणपर्यायात्मक' ही द्रव्य है। गुण नित्य होते हैं और पर्याय अनित्य होती हैं। अतः द्रव्य को नित्य-अनित्य कहा जाता है। जैनदर्शन में सत् का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य माना गया है। मीमांसादर्शन के पारगामी महामति कुमारिल भट्ट भी पदार्थो को उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, अवयव-अवयवी में भेदाभेद, वस्तु को स्व की अपेक्षा सत् और पर की अपेक्षा असत् तथा सामान्य-विशेष को 'सापेक्ष' मानते हैं।

द्वितीय शताब्दी के प्रभावशाली जैन आचार्य समन्तभद्र ने द्रव्य की त्रयात्मकता के विषय में दो दृष्टान्त दिये हैं। उन्हीं दृष्टान्तों का समर्थन आचार्य कुमारिल ने भी किया है। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं-

"घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।[५]

एक किसान के एक पुत्र है और एक पुत्री। किसान के पास एक सोने का घड़ा है। पुत्री उस घड़े को चाहती है। पुत्र उस घड़े को तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। किसान पुत्र की हठ पूरी करने के लिए घड़े को तुड़वाकर उसका मुकुट बनवा देता है। घड़े के नाश से पुत्री दुःखी होती है, मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है और किसान जो कि सोने का

इच्छुक है, वह न शोक करता है न हर्ष, क्योंकि मुकुट बन जाने के बाद भी सोना उसमें कायम है; अतः वस्तु त्रयात्मक है।

''पयोव्रतो न दध्यति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।।[६]

जिसने केवल दूध की खाने का व्रत लिया है, वह दही नहीं खाता। जिसने केवल दही खाने का व्रत लिया है वह दूध नहीं खाता और जिसने गोरस मात्र न खाने का व्रत लिया है वह न दूध खाता है और न दही, क्योंकि दूध और दही दोनों गोरस की दो पर्याय हैं, अतः गोरसत्व दोनों में है। इससे सिद्ध है कि वस्तु त्रयात्मक- उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। मीमांसादर्शन के आचार्य कुमारिल भट्ट मीमांसाश्लोकवार्तिक में लिखते हैं-

''वर्धमारकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः।।''७
''हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्।।८
''न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता।।''९

अर्थात्- जब सोने के प्याले को तोड़कर उसकी माला बनाई जाती है तब जिसको प्याले की जरूरत है, उसको शोक होतां है, जिसे माला की आवश्यकता है उसे हर्ष होता है और जिसे सोने की आवश्यकता है उसे न हर्ष होता है और न शोक। अतः वस्तु त्रयात्मक है। यदि, उत्पाद, स्थिति और व्यय न होते तो तीन व्यक्तियों के तीन प्रकार के भाव न होते, क्योंकि प्याले के नाश के बिना प्याले की आवश्यकता वाले को शोक नहीं हो सकता और सोने की स्थिरता के बिना सोने के इच्छुक को प्याले के विनाश और माला के उत्पाद में माध यस्थ्य नहीं रह सकता। अतः वस्तु सामान्य से नित्य है और विशेष अर्थात् पर्याय रूप से अनित्य है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि किसी अंश में मीमांसा दर्शन अनेकान्तवादी है। इस अपेक्षा से जैनदर्शन व मीमांसादर्शन तुल्य है। और भी अन्य कई विषयों में जैनदर्शन व मीमांसादर्शन में भेद व तुल्यता है। जैसे दोनों ही जरायुज, अण्डज व स्वेदज (संमूर्च्छन) शरीरों को पांच भौतिक स्वीकार करते हैं। दोनों की इन्द्रिय विषयों के त्याग आदि को मोक्ष का साधन मानते हैं। दोनों ही शरीरादि की आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार दोनों दर्शनों में तुल्यता है। परन्तु जैन दार्शनिकों की भांति मीमांसक सर्वज्ञत्व का अस्तिव नहीं मानते, आत्मा को स्वसंवेदनगम्य नहीं मानते।

संदर्भ :

१. तत्त्वार्थसूत्र, १/१, २. वही, १/९, ३. वही, ५/२९, ४. वही, ५/३०, ५. आप्तमीमांसा, श्लोक-५९, ६. वही, - ६०, ७. मीमांसाश्लोकवार्तिक, श्लोक-२१, ८. वही,-२२, ९. वही,-२३

- वरिष्ठ व्याख्याता, जैनदर्शन विभाग,
श्री ला. ब. शा. रा. संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-१६

जैनधर्म एवं पर्यावरण-संरक्षण

- प्राचार्य (पं.) निहालचंद जैन

आज विश्व में - एक चेतावनी, चिन्तन और चेतना का दौर सा चल रहा है। चेतावनी का विषय है- पर्यावरण, चिन्तन का विषय है- पर्यावरण-प्रदूषण और चेतना का विषय है- 'पर्यावरण का संरक्षण'। मनुष्य अपने स्वार्थ एवं आमोद-प्रमोद के लिए अतुल प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट करने पर उतारु बना हुआ है। मनुष्य चाहे वह धनाढ्य-समुदाय का हो या सोशलिस्ट समुदाय का, दोनों वर्गों ने प्रकृति का दोहन कर इसके साथ छेड़छाड़ कर, इसका भरपूर Exploitation किया है, कर रहा है और यह धारणा बन गयी है कि सुखी रहने की कुंजी, भौतिक समृद्धि और पदार्थ-विज्ञान का विकास है।

आज की टेक्नालॉजी, जो भोगवादी संस्कृति की प्रणेता है, ने जीवन के नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों एवं आधुनिकीकरण के दृष्टिकोण को प्रभावित किया है, जिसने पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी को असंतुलित कर दिया है। आज पर्यावरण- प्रदूषण तथा पारिस्थितिकी-असन्तुलन की समस्या, मानव के अस्तित्व के लिए चुनौती बनी हुई है। मनुष्य- मनुष्य के बीच और मनुष्य-प्रकृति के बीच के संबंधों ने पर्यावरण को काफी हद तक प्रभावित किया है, जिसे मुख्यतः चार वर्गो में विभाजित कर सकते हैं-

(i) भौतिक-परिवर्तन - इसके अंतर्गत- भूमिक्षरण, वनों का विनाश, महानगरों में बहुमंजिली इमारतों का निर्माण, खनन आदि।

(ii) रासायनिक परिवर्तन- इसके अंतर्गत-जल, वायु, ध्वनि, रेडियो धर्मिता आदि का प्रदूषण

(iii) जैविक परिवर्तन- जैविक उपजातियों का विलुप्त होना।

(iv) सामाजिक पैथोलॉजी - इसके अंतर्गत हिंसा की बढ़ती प्रवृत्ति, मांसाहार, मानसिक तनाव, लालसा, अनावश्यक धन संग्रह, आतंकवाद आदि।

उक्त चार वर्गों को मुख्यतः दो घटकों के अंतर्गत समायोजित किया जा सकता है- (i) बाह्य-पर्यावरण। (ii) आन्तरिक पर्यावरण।

मनुष्य पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यदि उसके शरीर में विकार उत्पन्न होते हैं, तो संपूर्ण पर्यावरण कलुषित हो उठता है। स्वच्छ पर्यावरण के लिए मनुष्य का स्वस्थ होना आवश्यक है। हम वही होते हैं, जो पेट में डालते हैं। "We are, what we eat" अर्थात् पर्यावरण का सम्बन्ध हमारे आचार-विचार, खान-पान, आहार-विहार आदि से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। जहां बाह्य पर्यावरण के घटक- वस्तुएँ या पदार्थ हैं, वहीं आन्तरिक पर्यावरण जीवन और अन्तर्जगत से संबन्धित है जिसमें मन-मस्तिष्क और आत्मा (चैतन्य) की अहम् भूमिका होती है।

हमारे देश के ४१वें संविधान संशोधन द्वारा, प्रत्येक नागरिक का मूल कर्त्तव्य है कि वह प्राकृतिक पर्यावरण (वन, झील, वन्य-प्राणी, भूमि) की रक्षा करें, उसका संवर्द्धन करे, प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव रखे तथा अवैध शिकार से बचे। संविधान की उक्त धारा में पर्यावरण के दोनों घटकों का संरक्षण आ जाता है।

१- लाखों गरीब व्यक्ति या वनाश्रित आदिवासी जन, अपने जानवरों के पालन-पोषण एवं स्वयं की अनेक जरूरतों के लिए वनों पर आश्रित रहते हैं। जंगल- न केवल वन-सम्पदा, औषधि, जड़ी बूटी व इमारती लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति करता है, अपितु यह भूमिक्षरण को रोकता है। जलवायु नियंत्रित होकर वर्षा होने में वनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। लेकिन हमने विगत ३०० वर्षों में हजारों वर्षों की संचित खनिज व वन संपदा का उपभोग कर समाप्त कर दिया। विगत एक सर्वेक्षण के अनुसार प्रतिवर्ष १७० लाख हेक्टेयर जंगल, जो जापान देश के क्षेत्रफल के बराबर होता है, नष्ट कर देते हैं। वृक्षों का महत्त्व, इसी बात से आंका जा सकता है कि एक व्यक्ति को प्रतिदिन औसत १६किग्रा. ऑक्सीजन चाहिए। इसके लिए ५० वर्ष की आयु और ५० टन वाले ५-६ वृक्ष चाहिए। यानी ५-६ वृक्षों को काटना, एक आदमी को प्राणवायु से वंचित कर देना है।

जलाभाव (Water Stress) - शुद्ध पेयजल की समस्या गंभीर होती जा रही है। भू-जल-स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। १९५० से २०१२ तक पेयजल की मांग तीन गुनी बढ़ गयी है। Human Development Report के अनुसार २० देशों के १३२ मिलियन व्यक्ति जलाभाव की समस्या से जूझ रहे हैं। यदि यही हालत रही तो २०५० तक २५ और देश इस सूची में जुड़ जायेंगे। इसके साथ ही नगरीकरण औद्योगीकरण, जैविक व रसायनिक कचरा, मांसाहार आदि पर्यावरण प्रदूषण के लिए उत्तरदायी हैं।

२. रासायनिक परिवर्तन - औद्योगीकरण के कारण दो खतरे उत्पन्न हो गये हैं। (i) Global Warming का (ii) ओजॉन गैस (O_3 gas) की सतह का क्षीण होना।

वायुमण्डल की Ultravoilet और Cosmic rays पृथ्वी तक आने में ओजॉन गैस की परत, एक परावर्तक के रूप में कार्य करती है और उन्हें पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश नहीं करने देती। ओजोन गैस की परत पतली होने का कारण Co_2 है, जिससे उक्त Ultravoilet rays पृथ्वी पर आने से Cancer जैसी बीमारी का कारण बनती है।

३. Bio Diversity Loss -

यानी वनस्पतिक और जीवधारियों की प्रजातियों का विलुप्त होना- १९७२ से इस पृथ्वी पर वनस्पतिक व अन्य जीवधारियों कीं लगभग १० हजार प्रजातियाँ विलुप्त हो गयी हैं। ऐसा अनुमान है कि २०२० तक इनकी संख्या एक करोड़ तक पहुंचने की सम्भावना है। एक बार जो प्रजाति समाप्त हो जाती है, उसका पुनः अभ्युदय कभी नहीं हो पाता जैसे- डायनासोर आदि। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि पर्यावरण में जितनी अधिक प्रजातियाँ रहेंगी, उतना अधिक मनुष्य के जीवन का अस्तित्व सुरक्षित रहेगा। प्रत्येक प्रजाति, मानव-विकास के लिए अद्‌भुत वरदान सिद्ध होती है।

४. सामाजिक पैथोलॉजी -

भगवान् महावीर - पर्यावरण संरक्षण के महान पुरोधा थे। उन्होंने कहा कि सामाजिक पुनर्निर्माण में- अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जैनधर्म का आध्यात्मिक संविधान- पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण से बहुत जुड़ा है। अहिंसा- जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है। सूक्ष्म जीवों से लेकर विशाल काय प्राणियों तक में- दया, प्रेम एवं उनकी रक्षा का भाव जैनधर्म की प्रमुख बात है। आचार्य उमास्वामी देव ने- मनुष्य- मनुष्य एवं मनुष्य व अन्य प्राणी/ पादपों के बीच अन्तर्सम्बन्धों पर एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया- **''परस्परोपग्रहो जीवानाम्''** "All Life is bound together by mutual support of interdependence". यह पारिस्थितिकी विज्ञान का यथार्थ सत्य है। जैनधर्म की अहिंसा पेड़-पौधों तक को काटने के लिए साफ मना करता है। क्योंकि सर जगदीश चन्द्र वसु-वैज्ञानिक ने पादप जगत में अनेक प्रयोग करके सिद्ध किया कि उनमें भी प्राण होते हैं, उनमें सुख-दुःख की संवेदनाएं होती हैं। यदि वे भय से कांपते हैं तो संगीत से प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। उन्होंने Cresograph के द्वारा दिखाया कि पेड़-पौधे विभिन्न परिस्थितियों में अलग-२ Response देते हैं।

शाकाहार- पर्यावरण संरक्षण का आधार है -

शाकाहार- अहिंसा की प्रतिष्ठा का व्यावहारिक रूप है जो सात्विक एवं स्वास्थ्यवर्द्धक आहार है। यह गलत धारणा है कि माँसाहार-शाकाहार की तुलना में अधिक शक्तिवर्द्धक है। एक शाकाहारी ०.७२ एकड़ भूमि से जीवन यापन कर सकता है, जबकि एक मांसाहारी के लिए कम से कम १.६३ एकड़ जमीन की जरूरत होती है। केवल अमेरिका में एक कि.ग्रा. गेहूँ उत्पादन के लिए ५० गैलन जल की आवश्कता होती है, जब कि एक कि. मांस के लिए १०,००० गैलन पानी चाहिए। रोगों को रोकने में फाइबर का बड़ा महत्त्व है, जो शाकाहारी खाद्यान्न में ही मिल सकता है। माँसाहार में फाइबर बिल्कुल नहीं होता। अनाज, दाल, फलों व दूध में यह सुलभता से पाया जाता है। बाईबिल में लिखा है- ''यदि तुम शाकाहार करोगे तो तुम्हें जीवन-ऊर्जा प्राप्त होगी। किन्तु मांसाहार करते हो, तो वह मृत आहार तुम्हें मृत बना देगा।

कत्लखाने-पर्यावरण के दुश्मन -

अहिंसा के अभाव में क्रूरता की शक्ति बढ़ने लगी और व्यक्ति मांसाहारी हो गया। मांसाहार ने कत्लखानों का शुभारंभ किया जो पर्यावरण के लिए सबसे बड़ा अभिशाप है। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में देश में वैध कत्लखानों की संख्या ३६००० से अधिक है। अलकबीर कत्लखाने द्वारा इस्लामी देशों में, मांस-निर्यात के लिए, विदेशी मुद्रा कमाने के लिए, कत्ल का रास्ता, हमारी भारतीय-संस्कृति और प्रकृति दोनों के खिलाफ है।

प्रायः एक शंका उठायी जाती है कि यदि मांसाहार बंद हो जाए तो अन्न, धान्य, फल सब्जी के भाव आसमान पर चढ़ जायेंगे। पशु-पक्षी इतने बढ़ जायेंगे कि रहने की जगह और खाने को उन्हें खाद्यान्न नहीं मिलेगा। आखिर इसका समाधान क्या है? अर्थशास्त्री मालथस के अनुसार खाने-पीने कीवस्तुओं और जनसंख्या के बीच का संतुलन, प्रकृति स्वयं बनाये रखती है। यदि मनुष्य, आबादी को बेरोकटोक बढ़ने देता है तो प्रकृति महामारियों/ विपदाओं द्वारा उसे संतुलित कर लेती है। अतः मांसाहार-शाकाहार को जीवित रखे है, यह कहना एक धूर्त संयोजन व विवेकहीन कथन है। माँ बच्चे को जन्म देती है तो इसके पूर्व उसके स्तनों में दूध नहीं होता। जन्म पाते ही माँ के स्तनों में प्रकृतितः दूध की व्यवस्था हो जाती है। प्रकृति

यह जानती है कि बच्चे के दाँत नहीं, उसका पेट कैसे भरेगा ? जीवन- संरक्षण, प्रकृति के साथ चलता है।

आन्तरिक पर्यावरण प्रदूषण -

जल, वायु, ध्वनि एवं पृथ्वी पर बढ़ रहे अन्य प्रदूषणों से भी ज्यादा खतरनाक व्यक्ति का मानसिक या आन्तरिक प्रदूषण है। व्यक्ति, आज मानसिक तनाव, हिंसा की बढ़ती प्रवृत्तियों ने जघन्य अपराधों को ही नहीं बढ़ाया, वरन् आत्म-हत्या की घटनाएँ एवं आतंकवाद को भी बढ़ाया है।

मनुष्य की संग्रह प्रवृत्ति व जमाखोरी की लालसा -

मनुष्य की संग्रह प्रवृत्ति ने वर्ग-शोषण को जन्म दिया है। मनुष्य की लालसा-आकाश के क्षैतिज बिन्दु को पाने के लिए बेतहाशा दौड़ लगा रहा है पर क्या क्षैतिज बिन्दु कभी पाया जा सकता है ? इससे सामाजिक समरसता-संतुलन व सौजन्य तीनों बिगड़ रहे हैं। जैनधर्म इसे 'परिग्रह' की संज्ञा देता है। यानी वस्तुओं के प्रति अतिलगाव। आदमी जितना जोड़ता है वह उतना ही संवेदन शून्य जड़ होता जाता है। भगवान् महावीर ने इसका समाधान दिया- 'अपरिग्रह' या 'परिग्रह परिमाण' यानी अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं को सीमित करना/ कम करना। अनावश्यक संग्रह प्रकृति के दोहन व मनुष्य के शोषण के बिना संभव नहीं है। यही सामाजिक-प्रदूषण है।

व्यक्ति अपने काषायिक भावों के कारण भी मानसिक तनाव, ईर्ष्या, द्वेष, अशान्त-मन, उद्वेग एवं उत्पीड़न में बना रहता है। चार प्रकार के कषाय भाव जैनधर्म में कहे हैं- क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हीं चारों के कारण वह अपनी आत्मा को कलुषित करता रहता है। इस आंतरिक-प्रदूषण को कम किया जा सकता- क्रोध के उद्वेग को क्षमा भाव से, मान या अहंकार भाव को विनम्रता से, माया को सरल व निष्कपट भावों से तथा लोभ-मल को संतोष जल से दूर किया जा सकता है।

पर्यावरण-संरक्षण में शाकाहार संबन्धी अन्तर्राष्ट्रीय मान्यताओं के संदर्भ-

नोबेल पुरस्कार विजेता (सम्मानित) डॉ. अर्तुरी वर्तुनेन (जीव-रसायनिक शोध संस्थान, फिनलैण्ड के निदेशक) ने शाकाहार को पर्यावरण संरक्षण का मौलिक कारक (घटक) माना है। इन्होंने विश्वास प्रकट किया कि शाकाहारियों को जीवन ऊर्जा के आवश्यक पोषक तत्त्व, नैसर्गिक रूप से प्राप्त हो जाते हैं।

आज शाकाहार के बढ़ते निरापद प्रभाव से विश्व के ७३ से अधिक देश, विश्व शाकाहार कॉग्रेस (World Vegetarian Congress) के सदस्य बन चुके हैं। इस संगठन ने शाकाहार की वैज्ञानिकता को स्वीकार कर इससे कैन्सर व हृदय-रोग जैसे असाध्य रोगों से निदान में सहमति व्यक्ति की है।

इंग्लैण्ड की वेजीटिरियन सोसाइटी (१८४७) ने वेजीटेरियन शब्द का व्यापक अर्थ दिया- ''संपूर्ण निर्दोष, स्वस्थ, ताजा और जीवन बनाये रखने वाला''। इसी प्रकार "All India Animal Welfare Association" ने जीव-जंतुओं के मौलिक अधिकारों के परिप्रेक्ष्य में शाकाहार को एक नया आयाम दिये जाने की बात दुहराई है और देश के पर्यावरण की रक्षा के लिए जागरूकता का निर्माण करने का संकल्प लिया है। आवश्यकता है कि पर्यावरण संरक्षक

के लिए "**एक विचार क्रान्ति**" की जो मांसाहार की वीभत्सता को उजागर करे और इसके निरसन के लिए ठोस प्रयास हों।

जैनधर्म- "पर्यावरण-संरक्षण" की मूल भावना से घनिष्ठतः जुड़ा हुआ है। वह केवल राष्ट्र एवं राजा को धार्मिक व नैतिक बने रहने की बात ही नहीं करता, वरन् समय पर वर्षा होने, दुर्भिक्ष न होने, संक्रामक-रोगों के न फैलने आदि भावनाओं के द्वारा भाव-शुद्धि व समाज-सुख की बात दुहराता है-

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान धार्मिको भूमि पालः,
काले काले च सम्यक् विकिरतु मघवा व्याधयोयान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारीं क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततां सर्व सौख्य प्रदायी।।

श्रमणाचार एवं पर्यावरण संरक्षण-

जैन साधु (श्रमण) की आचार-संहिता में, महाव्रतों का पालन एवं षड्आवश्यकों का नियमन-पर्यावरण संरक्षण में सहयोगी है। उनका जलपात्र-शुद्धि के लिए होता है जिसकी संरचना इस तरह होती है कि जल ग्रहण करने का मुँह बड़ा व जल निकास का मुँह बहुत छोटा रहने से, जल का निकास बहुत नियंत्रित रहता है। जीवनोपयोगी वस्तुओं का देखभाल कर केवल सीमित वस्तुओं का ही उपयोग करते हैं। स्वाध्याय हेतु शास्त्र, सूक्ष्म जीवों के संरक्षण के लिए पिच्छी एवं शुद्धि के लिए जलपात्र (कमण्डलु) के अलावा उनका कोई परिग्रह नहीं होता है। दिगम्बर साधु व जैन साध्वीं आहार चर्या २४ घण्टे में केवल एक बार करते हैं ताकि शरीर में शक्ति, बनी रहे और उनकी साधना निरावाध संपन्न हो सके। प्रकृति जिस प्रकार निरावरण है, उसी प्रकार प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर दिगम्बर श्रमण बिना आवरण के रहता है। भू-शयन करता है। पद-गामी होता है। उनका आंतरिक पर्यावरण भी राग-द्वेष से रहित स्वच्छ एवं निर्मल रहता है। उनकी साधना का एक आयाम, सामाजिक-शुद्धि एवं सौहार्द का वातावरण निर्मित करने में सहायक होता है।

इस प्रकार जैनधर्म की अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त-दृष्टि, बाह्य एवं आंतरिक पर्यावरण के संरक्षण के लिए मनुष्य-मनुष्य के बीच समता, दया और शोषण रहित सामाजिक ढाँचा तैयार करता है। अनेकान्त दृष्टि-सर्वधर्म समभाव की उदारता पर आधारित धार्मिक सहिष्णुता का बीजारोपण करता है। अहिंसा- लोकमाता है, जो पर्यावरण संरक्षण का मूल मंत्र है और सामाजिक पैथोलॉजी को दृढ़ संबल प्रदान करता है। इक्कीसवीं सदी में 'पर्यावरण-प्रदूषण' एक ज्वलन्त समस्या है, जिसका समाधान खोजती- श्रमण संस्कृति, राष्ट्र के विकास में अत्यन्त सहयोगी है।

*****

- निदेशक,
वीर सेवा मन्दिर, २१, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-२

अहिंसा, जैनधर्म और इस्लाम

- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है। मुहम्मद अली की पुस्तक 'Religion of Islam' में इस शब्द की व्याख्या बताई गई है। इस्लाम शब्द का अर्थ है- 'शान्ति में प्रवेश करना'। अतः मुस्लिम व्यक्ति वह है, जो 'परमात्मा पर विश्वास और मनुष्यमात्र के साथ पूर्ण शांति का संबन्ध' रखता हो। इस्लाम शब्द का लाक्षणिक अर्थ होगा- वह धर्म, जिसके द्वारा मनुष्य भगवान की शरण लेता है और मनुष्यों के प्रति अहिंसा एवं प्रेम का व्यवहार करता है। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में इस्लामधर्म की विशेषताओं पर व्यापक प्रकाश डाला है।

इस्लाम के प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब माने जाते हैं, जिनका जन्म अरब देश के मक्का शहर में सन् ५७० ई. में हुआ था और मृत्यु सन् ६३२ ई. में हुई। इस्लामधर्म के मूल कुरान, सुन्नत और हदीस नामक ग्रन्थ हैं। कुरान वह ग्रन्थ है, जिसमें मुहम्मद साहब के पास खुदा के द्वारा भेजे गये संदेश संकलित हैं। सुन्नत वह है, जिसमें मुहम्मद साहब के कार्यों का उल्लेख है और हदीस वह किताब है, जिसमें उनके उपदेश संकलित हैं।

कुरान में प्रेम और अहिंसा से सम्बन्धित अनेक सन्देश हैं। इकबाल की पुस्तक 'Secret of the Self[2] की भूमिका में लिखा है- ''नबी ने कहा है, 'तखल्लिक्-बि-इखलाकिल्लाह' अर्थात् अपने भीतर परमेश्वर के गुणों का विकास कर। खुदा बन्दों को प्यार करता है और वे उसे प्यार करते हैं; इसलिए उसका एक नाम वदूद (प्रेमी) भी है।'' - यह कुरान का ही वचन है।

हदीस का वचन है कि ''ईमान की ७० शाखाएँ हैं। सबसे ऊँची यह कि अल्लाह को छोड़कर किसी की इबादत मत करो और सबसे नीची यह कि जिन बातों से किसी का नुकसान होता हो, उन्हें छोड़ दो।''

कुरान का फातिहा नामक अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक तरह से यह कर्मफल के विवेचन का अध्याय है, इसमें प्रत्येक मुसलमान का ध्यान हर रोज पांच बार दिलाया जाता है। उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कर्मफल पर विश्वास दृढ़ होने पर आदमी दुष्कर्मों को छोड़ देता है। कुरान कहता है- ''अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम अवश्य मिलेंगे। जिसने भी, कण मात्र भी सुकर्म किया है, वह उसे अपनी आंखों से देखेगा; जिसने कण मात्र भी दुष्कर्म किया है, वह भी उसे अपनी आँखों से देखेगा।''

इस्लाम दर्शन में ग्यारहवीं शती में एक प्रख्यात चिंतक हुए 'अबुल अरा' (सन् १०५७)। अबुल अरा आवागमन के सिद्धान्त के विश्वासी थे। शाकाहारी तो थे ही, दूध, मधु

और चमड़े का व्यवहार भी नहीं करते थे। पशु-पक्षियों के लिए भी उनके मन में दया थी। वे ब्रह्मचर्य और यतिवृत्ति का भी पालन करते थे।

इस्लाम की मान्यता है कि जगत में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी खुदा के ही बन्दे और पुत्र हैं। कुरान शरीफ के प्रारंभ में अल्लाताला का विशेषण **'विस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीमि'** है, जिसका अर्थ है 'खुदा दयामय है अर्थात् खुदा के मन के कोने-कोने में दया का निवास है।

मुहम्मदसाहब के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानवों को संबोधित करते हुए कहा - "हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना।" अर्थात् तू माँस का भक्षण मत कर। इसी प्रकार 'दीन-ए-एलाही' विचारधारा के प्रवर्तक सम्राट अकबर ने कहा - "मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान नहीं बनाना चाहता।" यदि किसी की जान बचाई तो मानों उसने सारे इन्सानों की जिन्दगी बख्शी है। कुरान शरीफ का वाक्य है - 'व मन् अह्या हा फकअन्नम् अह्यन्नास जमी अनः'।

कुरआन में अहिंसा सम्बन्धी आयतें -

मुझे कुरआन देखने एवं पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। मक्तबा अल-हसनात, रामपुर (उ.प्र.) से सन् १९६८ में हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कुरआन मजीद, जिनके मूल संदर्भो का प्रयोग मैंने किया है, को ही मैंने पढ़ा है। इसी ग्रन्थ से मैंने कुछ आयतें चयनित की हैं जो अहिंसा की भावना को व्यक्त करती हैं। प्रस्तुत हैं वे चयनित आयतें -

१. अल्लाह ने काबा को शान्ति का स्थान बनाया है। (२८:५७)
२. नाहक खून न बहाओ और लोगों को घर से बेघर मत करो। (२:८४)
३. दूसरे के उपास्यों को बुरा न कहो। (६:१०८)
४. निर्धनता के भय से औलाद का कत्ल न करो। (१७:३१)
५. नाहक किसी को कत्ल न करो। मानव के प्राण लेना हराम है। (१७:३३)
६. यतीम पर क्रोध न करो। (९३:९)
७. गुस्सा पी जाया करो और लोगों को क्षमा कर दिया करो। (२:१३४), (२४:२२)
८. बुराई का तोड़ भलाई से करो। (१३:२२), (२८:५४,५५), (४१:३५)
९. कृतज्ञता दिखलाते रहो। (१४:७)
१०. सब्र करना और अपराध को क्षमा करना बड़े साहस के काम हैं। (४२:४३)
११. दो लड़ पड़ें तो उनमें सुलह-सफाई करा दो। (४९:९,१०)
१२. दुश्मन समझौता करना चाहे तो तुम भी समझौते के लिए तैयार हो जाओ (८:६१)
१३. जो तुमसे न लड़े और हानि न पहुँचाये उससे, उसके साथ भलाई से व्यवहार करो। (६०:८)

अहिंसा के प्रायोगिक रूप -

मुस्लिम समाज में मांसाहार आम बात है। किन्तु ऐसे अनेक उदाहरण भी देखने में आये हैं जहाँ इस्लाम के द्वारा ही इसका निषेध किया गया है। इसका सर्वोत्कृष्ट आदर्शयुक्त उदाहरण हज की यात्रा है। मैंने अपने कई मुस्लिम मित्रों से इसका वर्णन साक्षात् सुना है तथा कई स्थानों पर पढ़ा है कि जब कोई व्यक्ति हज करने जाता है तो इहराम (सिर पर बाँधने का सफेद कपड़ा) बाँध कर जाता है। इहराम की स्थिति में वह न तो पशु-पक्षी को मार सकता है न किसी जीवधारी पर ढेला फेंक सकता है और न घास नोंच सकता है। यहाँ तक कि वह

किसी हरे-भरे वृक्ष की टहनी पत्ती तक भी नहीं तोड़ सकता। इस प्रकार हज करते समय अहिंसा के पूर्ण पालन का स्पष्टविधान है। 'इहराम की हालत में शिकार करना मना है'।[१]

इतना ही नहीं, इस्लाम के पवित्र तीर्थ मक्का[२] स्थित कस्बे के चारों ओर कई मीलों के घेरे में किसी भी पशुपक्षी की हत्या करने का निषेध है। हज-काल में हज करने वालों को मद्य-मांस का भी सर्वथा त्याग जरूरी है। इस्लाम में आध्यात्मिक साधना में मांसाहार पूरी तरह वर्जित है, जिसे तर्के हैवानात (जानवर से प्राप्त वस्तु का त्याग) कहते हैं।

डॉ. कामता प्रसाद लिखते हैं 'म. जरदस्त ने ईरान में पशुबलि का विरोध कर अहिंसा की प्राणप्रतिष्ठा की थी। ईरान के शाहदारा के पाषाणों पर अहिंसा का आदेश अंकित कराया था। त तेजमशेद नामक स्थान पर एक ऐसा लेख आज भी मौजूद है। आज भारत में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं। कर्नाटक राज्य में गुलबर्गा में अल्लन्द जाने के मार्ग में चौदहवीं शताब्दी में मशहूर दरवेश हजरत वाजा बन्दानवाज गौसूदराज के समकालीन दरवेश हजरत शारुक्रुद्दीन की मजार के आगे लिखा है[३] -

"यदि तुमने मांस खाया है तो मेहरबानी कर अन्दर मत आओ"

इसके अलावा कई मुस्लिमसम्राटों ने जैनों के दशलक्षण-पर्युषण पर्व पर कत्लखानों तथा मांस की दुकानों को बन्द रखने के आदेश भी दिये हैं। जिसके प्रमाण मौजूद हैं।

सारांश के रूप में कह सकते हैं कि इस्लाम में सद्गुण (Virtue) और दुर्गुण (Vice) का स्पष्ट विवेचन हुआ है। इस धर्म ने ईश्वर में विश्वास करने, धर्मपथप्रदर्शकों के विचारों पर आस्था रखने, निर्धनों और दुर्बलों के प्रति दयाभाव रखने की सीख दी है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में उन तत्त्वों की अवहेलना की गई है, जिनसे हिंसाभाव की उत्पत्ति या वृद्धि होती है और उन तत्त्वों को अपनाया गया है, जिनसे अहिंसाभाव की पुष्टि होती है एवं अहिंसा का विकास होता है। यदि हम वास्तव में विश्व शांति और भाई-चारा स्थापित करना चाहते हैं तो हमारा यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि मजहबों के उन बिन्दुओं को उजागर करें जिनमें अहिंसा, प्रेम, बन्धुत्व आदि की चर्चा है तथा प्रायोगिक उदाहरण हैं, न कि सिर्फ उन्हें जिनके कारण हमारे कटु अनुभव जुड़े हैं।

सूफी दर्शन और अहिंसा -

इस्लामधर्म के अन्तर्गत ही सूफी संप्रदाय भी विकसित हुआ है। सूफियों का मानना है कि मुहम्मदसाहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे- एक ज्ञान को उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान, उन्होंने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान, विश्व के सभी व्यक्तियों के लिए प्रसारित किया गया, जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनायें। दूसरा ज्ञान, उन्होंने अपने कुछ प्रमुख शिष्यों को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था, वही सूफीदर्शन कहलाया। कुरान का किताबी ज्ञान तो 'इल्म-ए-शाफीन' और हार्दिक ज्ञान 'इल्म-ए-सिन' कहलाता है।

सूफीदर्शन का रहस्य है- परमात्मा-सम्बन्धी सत्य का परिज्ञान करना। परमात्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओं का परित्याग करना। जब परमात्म-तत्त्व की अन्वेषणा ही सूफियों का लक्ष्य रहा है तो हिंसा-अहिंसा का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हिंसा-अहिंसा

का प्रश्न वहीं उत्पन्न होता है, जहाँ किसी के प्रति रागभाव का प्राधात्य हो और किसी के प्रति द्वेष की दावाग्नि सुलग रही हो; वहीं हिंसा का प्राधान्य रहता है।

सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर बल दिया गया है। वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुंचना चाहते हैं। उनके अनुसार मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है। प्रेम परमात्मा का सार है। प्रेम ही ईश्वर की अर्चना करने का सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।

इस प्रकार सूफी संप्रदाय में, प्रेम के रूप में अहिंसा की उदात्त भावना पनपी है। प्रेम के विराट रूप का जो चित्रण सूफी संप्रदाय में हुआ, वह अद्भुत है।

यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो पाएँगे कि इस्लामिक विश्वास, वचन और कर्मकाण्ड (Practice), इसके बाहरी रूप हैं, जबकि इसका आंतरिक रूप सूफीमत है; अतः जनसाधारण का नीतिगत विचार भी सामाजिक और व्यावहारिक नियमों के अंतर्गत पाया जाता है, पर इसका आंतरिक रूप सूफी विचारों में ही देखा जाता है।

जहाँ तक सूफी मत का प्रश्न है, उसमें आत्म-विकास (Development of the Soul) का पाठ सिखाया गया है। इसमें बहुत ऊँचे आंतरिक आचार की बातें बताई गयी हैं। इस्लाम के अनुसार सच्चा जेहाद तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं अथवा वासनाओं के विरुद्ध करना चाहिए। अध्यात्म की दृष्टि से सूफी अहिंसा के अधिक करीब दिखायी देते हैं।

इस्लाम और जैनधर्म -

भारत सदाकाल से अहिंसा, शाकाहार, समन्वय और सदाचार का हिमायती रहा है, उसकी कोशित रही है कि सभी जीव सुख से रहें, 'जिओ और जीने दो' - जैनधर्म का मूलमंत्र है। जैनधर्म ने अपने इस उदारवादी सिद्धान्तों से मुल्क के तथा विदेशी मुल्कों के हर मजहब और तबके को प्रभावित किया है। इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'विश्व वाणी' के यशस्वी संपादक पूर्व राज्यपाल तथा इतिहास विशेषज्ञ डॉ. विशम्बरनाथ पाण्डेय ने अपने एक निबन्ध 'अहिंसक परम्परा' में इस बात का जिक्र किया है। वे लिखते हैं कि -

'इस समय जो ऐतिहासिक उल्लेख उपलब्ध है, उनसे यह स्पष्ट है कि ईस्वी की पहली शताब्दी में और उसके बाद के १००० वर्षों तक जैनधर्म मध्य-पूर्व के देशों में किसी न किसी रूप में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम को प्रभावित करता रहा है। प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान क्रेमर के अनुसार 'मध्य-पूर्व' में प्रचलित 'समानिया' संप्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी. एफ. मूर के अनुसार 'हजरत' ईसा की जन्म शताब्दी से पूर्व इराक, शास और फिलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों तरफ फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथियोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों अगणित भारतीय साधु रहते थे जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए मशहूर थे, ये साधु वस्त्रों तक का त्याग किये हुये थे' अर्थात् वे दिगम्बर थे।

'सियाहत नामए नासिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन धर्म का काफी प्रभाव पड़ा। कलन्दरों की जमात परिव्रजकों की जमात थी। कोई कलन्दर दो रात से अधिक एक घर में नहीं रहता था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे - साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे।

डॉ. कामता प्रसाद जैन अपने एक निबन्ध 'विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा' में लिखते हैं कि 'मध्यकाल में जैन दार्शनिकों का एक संघ बगदाद में जम गया था; जिसके सदस्यों ने वहाँ करुणा और दया, त्याग और वैराग्य की गंगा बहा दी थी। 'सिहायत नामए नासिर' के लेखक की मान्यता थी कि इस्लाम धर्म के कलन्दर तबके पर जैनधर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। वे लोग अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अहिंसा का पालन करते थे, ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। श्री विशम्बरनाथ पाण्डेय लिखते हैं कि 'एक बार दो कलन्दर मुनि बगदाद में आकर ठहरे। उनके सामने एक शुतुमुर्ग किसी का हीरों का हार निगल गया। सिवाय कलन्दरों के किसी ने यह बात नहीं देखी। हार की खोज हुई। कोतवालों को कलन्दर मुनियों पर संदेह हुआ। मुनियों ने मूक पक्षी के साथ विश्वासघात करना उचित नहीं समझा। उन्होंने स्वयं कोतवालों की प्रताड़ना सहन कर ली लेकिन शुतुरमुर्ग के प्राणों की रक्षा की।

डॉ. कामता प्रसाद लिखते हैं कि 'अलविद्या फिर्के के लोग हजरत अली की औलाद से थे- वे भी मांस नहीं खाते थे और जीव दया के पालते थे। ई. ९वीं-१०वीं शती में अब्बासी खलीफाओं के दरबार में भारतीय पण्डितों और साधुओं को बड़े आदर से निमंत्रित किया जाता था। इनमें जैन बौद्ध साधु भी होते थे। इस सांस्कृतिक संपर्क का सुफल यह हुआ कि ईरान में अध्यात्मवाद जगा और जीव दया की धारा बही।'

वे लिखते हैं कि प्राचीनकाल में अफगानिस्तान तो भारत का ही एक अंग था और वहाँ जैन एवं बौद्ध धर्मों का प्रचार होने से अहिंसा का अच्छा प्रचार था। ई. ६वीं, ७वीं शताब्दी में चीन यात्री हुएनसांग को वहाँ अनेक दिगम्बर जैन मुनि मिले थे।

अरब का उल्लेख जैन आगमों में मिलता है। भारत से अरब का व्यापार चलता था। जादिस अरब का एक बड़ा व्यापारी था- भारत से उसका व्यापार खूब होता था। भारतीय व्यापारी भी अरब जाते थे। जादिस का मित्र एक भारतीय वणिक था। वह ध्यानी योगी की मूर्ति अपने साथ अरब लाया और उसकी पूजा करता। जादिस भी प्रभावित हो पूजा करने लगा। मौर्यसम्राट सम्प्रति ने जैन श्रमणों, भिक्षुओं के विहार की व्यवस्था अरब और ईरान में की, जिन्होंने वहां अहिंसा का प्रचार किया। बहुत से अरब जैनी हो गये, किन्तु पारस नरेश का आक्रमण होने पर जैन भिक्षु और श्रावक भारत चले आये। ये लोग दक्षिण भारत में बस गये और 'सोलक' अरबी जैन कहलाये।'

वे आगे लिखते हैं कि- 'सन् ९९८ ई. के लगभग भारत से करीब बीस साधु सन्यासियों का दल पश्चिम एशिया के देशों में प्रचार करने गया। उनके साथ जैन त्यागी भी गए, जो चिकित्सक भी थे। इन्होंने अहिंसा का खासा प्रचार उन देशों में किया। सन् १०२४ के लगभग यह दल पुनः शान्ति का संदेश लेकर विदेश गया और दूर-दूर की जनता को अहिंसक बनाया। जब यह दल स्वदेश लौट रहा थो, तो इसे अरब के तत्त्वज्ञानी कवि अबुल अला अल मआरी से भेंट हुई। जर्मन विद्वान् फ्रान क्रेगर ने अबुल-अला को 'सर्वश्रेष्ठ सदाचारी शास्त्री और सन्त कहा है।'

अबुल-अला गुरू की खोज में घूमते-घामते जब बगदाद पहुंचे, तो बगदाद के जैन दार्शनिकों के साथ उनका समागम हुआ था और उन्होंने जैनशिक्षा ग्रहण थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अबुल अला पूरे अहिंसावादी योगी हो गये। वे केवल अन्नाहार करते थे। दूध

नहीं लेते थे, क्योंकि बछड़े के दूध को लेना वे पाप समझते थे। बहुधा वे निराहार रहकर उपवास करते थे। कामता प्रसाद लिखते हैं कि वे शहद और अण्डा भी नहीं खाते थे। पगरखी लकड़ी की पहनते थे। चमड़े का प्रयोग नहीं करते थे। नंगे रहने की सराहना करते थे, सचमुच वे दया की मूर्ति थे।

इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन ने जलालुद्दीन रूमी एवं अन्य अनेक ईरानी सूफियों के विचारों को प्रभावित किया। जीव दया का यह चिंतन कुरआन मजीद से भी प्रकट हुआ है। पार-१२ सत्ताइसवें नूर 'अन-नस्ल' में २३ आयतें हैं जो मक्का में उतरीं थीं। उनमें एक प्रसंग बड़ा महत्त्वपूर्ण है- ''सुलेमान के लिए उसकी सेनायें एकत्र की गयीं जिनमें जिन्न भी थे और मानव भी, और पक्षी भी, और उन्हें नियंत्रित रखा जाता था; यहाँ तक कि जब ये सब च्यूँटियों की घाटी में पहुँचे, तो एक च्यूँटी ने कहा : हे च्यूँटियों! अपने घरों में घुस जाओ ऐसा न हो कि सुलैमान और उनकी सेनायें तुम्हें कुचल डालें और उन्हें खबर भी न हो।'' --कुरआन मजीद, पृ. ४२४ इसी पृष्ठ पर नीचे लिखा है कि च्यूँटियों की बात कोई सुन नहीं पाता; परन्तु अल्लाह ने हसरत सुलैमान अ. को च्यूँटियों की आवाज सुनने की शक्ति प्रदान की थी। 'कुरआन मजीद का यह प्रसंग इसलिए संवेदनशील है कि संसार के छोटे से प्राणी चींटी की भी हृदय वेदना की आवाज को सशक्त अभिव्यक्ति देकर इस ग्रंथ में उकेरा गया है। यह अहिंसक भावना की सशक्त अभिव्यक्ति है। बाद में सूफी कवियों ने भी अपनी रचनाओं में उन्हीं आध्यात्मिक चेतना को आवाज दी जो जैन परम्परा की अमूल्य मौलिक धरोहर रही है। एक उदाहरण प्रस्तुत है -

'ता न गरदद नफ्स ताबे सहरा, कैद वा यावी दिले मजरूहरा।
मुर्गे जाँ अज़ हत्से यावद रिहा, गर बतेग् लकुशी ई ज़हदा'

सारांश के रूप में हम यह कह सकते हैं कि संसार की प्रत्येक धर्म, संस्कृति, सभ्यताएं और दर्शन सदा से एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। जैन संस्कृति के अहिंसावादी आचार-विचार से इस्लाम धर्म भी काफी प्रभावित हुआ। कुरआन की आयतों में तो अहिंसा, जीवदया, करुणा का प्रतिपादन तो था ही, साथ ही उदारवादी तथा व्यापक सोच रखने वाले इस्लामिक सूफियों और दार्शनिकों को जब अन्य परम्पराओं में इन अच्छाइयों का उत्कृष्ट स्वरूप दिखाई दिया तो उन्होंने उन सद्गुणों को ग्रहण किया।

संदर्भ :

१. कुरान मजीद, २:१,१५
२. कुरान मजीद, २७:९१
३. दिशा बोध, कलकत्ता, अगस्त २००४, पृ. ७

- श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ,
कुतुब इंस्ट्टीयूशनल एरिया,
नई दिल्ली-११००१६

Anekant and Mutual Tolerance

- By Prof. M. L. jain

Every living being, every religion tries to answer and faces three Central questions in every country all the time- in search of happiness, bliss and truth

(i) What should I believe in ? What is the correct faith ?

(ii) What should I learn? What should I know?

(iii) What should I do? What actions should I take to achieve eternal happiness and bliss.

There are Two ways in which the above questions have been answered. One is by EKANTWAAD- one sided absolutism. One insists on one's own truth of his own faith and absolutely denies the validity of the opposite view. Such a view many a time has promoted hate. I Quote Martin Luther King-

Hate in reply of hate multiplies hate, and
the darkness of a starless night becomes
more dark. Darkness can not remove darkness
Hate multiplies hate:It is only light
that can remove it.
Voilence muttiplies voilence
And
Muscle power multiplies muscle power.
Ultimately
that cyclone descends downward
And there is destruction all around.

- Martin Luther King

Jains go out in search of the point of view of ANEKANTWAAD. The apparently conflicting religions can be reconciled by Jaina principle of many sidedness or non absolutism. This principle promotes mutual tolerance because there may be apparant differences in different religions in rituals and matters of ceremony, but there is strong under current of similar principles and values in all religions. There is a fundamental unity at the root of all religions.

I quote - Fritjof Capra

Fritjof Capra says:

' When the mind is disturbed
Multiplicity of objects take shape
But when the mind is silent

The multiplicity of objects evaporates
and unity is achieved'
At the root of all religions
The fundamental unity of existence seems
to be recognized.
As long as that unity in not forgotteen
No conflict would ever arise among the religions.

The Key of Knowledge, by Barrister C. R. Jain echos the same views-

"Apart from matters of ceremony there are hardly any differences in the cardinal principles of the different creeds which are flourishing in our midst in the world. The differences with respect to doctrinal matters and dogmatic belief disappear with the true interpretation of the sacred books and we have also seen how a true and lasting reconciliation is possible amongst the followers of the apparently hostile sects. Even the differences in respect of ceremonies exist on the surface and totally disappear when we look into the principles underlying their observance. The ignorant alone emphasize the difference between the places and forms of worship: in reality, the object of worship is always the same, whether it be understood by the devotee or not. (C R Jain- Key of Knowledge.)"

To the true worshipper in spirit all places are alike, their forms and designations being matter of secondary import. The Sufis maintain :-

"The true mosque in a pure and holy heart is builded : there let all men worship God; for there He dwells, not in a mosque of stone".

The Fact is that the earnest seeker after truth has eyes and ears only for the living Divinity enshrined within his won heart and not for the style and structure of the places made by the human hand.

So far as the attainment of happiness is concerned, there are no material differences in the principal religions of the world. They all prescribe :
(i) discriminaiton between the Self and the non-self,
(ii) renunciation,
(iii) concentration and
(iv) devotion
for the attainment of the great ideal of happiness. The Hindus classify these means as the different kinds of Yoga, Karma Yoga, Jnana Yoga, Raja Yoga, Bhakti Yoga and like the Muhammadans describe them as belief, purification, resignation and dovotion; in other systems they are known by other names.

The great codifier Manu difining dharma said,

Dhrithi ksama damoasteyam saucamindriyanigrahah,
Dhiravidya satyamkrodho dasakam dharmalaksanam.

- Manusmrti, 6.10

Dharma or good conduct has ten characteristics: (1) *dhrti* (firmness), (2) *ksama* (forgiveness), (3) *dama* (self-restraint), (4) *astey* (not stealing), (5) *souca* (cleanliness), (6) *indriya-nigraha* (restraint of senses), *(7) dhi* (wisdom,

(8) vidya (knowledge), (9) satya (truth), and (10) *akrodha* (non-anger/non-violence). They are beneficial not only for Hindus but for the entire world. An individual or society can move towards the upliftment by observing them in life. So are Ten superior human qualities mentioned in Jaina thought which can make life of the individual and the society pure, peaceful and happy. They are *ksama* (forgiveness), *mardava* (softness), *arjava* (pure), *satya* (truth), *soucha* (cleanliness), *samyama* (restraint), *tapa* (austerity) *tyaga* (renunciation), *akincana* (poor/destitute), and *aparigraha* (possessionless). They too take us towards good conduct and humanity.

Patanjali (200 BC) in Samadhi Shatak (Sutra33) says:

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यविषयाणां भावनातश्चित प्रसादनम्

The mind becomes clarified by cultivating attitudes of friendliness, compassion, gladness and indifference respective by towards happiness misrey, virture and vice.

A Jain Saint Acharya Amitgati in 12th century in the equanimity Sutra of the Jains said :

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृतौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव।।

Oh Lord (life) make myself such that I may always have love for all living beings (friendship with all) please in the company of learned, sympathy & compassion for those in pain, and tolerance for those who are pervesely unclined towords me.

Conclusion :

The objective of every religion should be not to increase the personal and social prejudices but to bridge the gulf between the numerous faiths by promoting better understanding & promoting mutual tolerance. All the articles in the present issue of Anekant emphasize that there are more similarities among different religions then differences which are very superficial & insignificant,. Almost all religions emphasize and accept that love compassion and non violence, self restraint and austerity is supreme (Dharma) spritual values. It is by virtue of spiritual values that supreme spintual benificence results. To him whose mind is absorbed in spirtual values even godeds pay homage.

"Remember that everywhere you will find some sort of faith and righteousness. See that you foster this and do not destroy". KING ASOKA.

Comparative Study of Jaina Philosophy of Karma With the Schools of Indian Philosophy And its Socio-Spiritual Analysis

- Dr. Samani Shashi Prajna

As per Jain perspective, our *Karmas* determine what we deserve and what we can deserve. The entire ancient Indian philosophical thought, right form the *vedas* to the modern *Vedant* of Sankar, has the law of *Karma* as its basic foundation. If this presupposition is negated or is shown to have no logical or scientific basis for its acceptance, all Indian philosophical systems except *Carvaaka* philosophy become redundant. The law of *Karma* is not only the foundation of India's philosophy but also guides all social actions of the people of this country. The Indian moral ideas have evolved from the *vedic* and *sramanic t*raditions and the Law of *Karma* is one of the central principles on which the entire Jain philosophy rests.The present article is a honest endeavior to discuss the role of karma in Indian Philosophy.The article is divided into three sections; A, B and C. In Part-A, I have discussed the jaina theory of karma and Part-B explains about the Comparative Study of Jaina Philosophy of Karma With the Indian philosophy and the third and the last Part-C is dedicated to the socio-spiritual analysis of jaina theory of karma.

Part-A

As per Jain perspective, our *Karmas* determine what we deserve and what we can deserve. We are responsible for what we are. Moreover, what we wish to be, we have the power to make ourselves. If our present life is the result of our past deeds, it certainly follows that our future can be produced by our present actions. For illustration: X produces Y and Y produces Z and So on. So we can assert that Z is produced by X . So the law of causation upon which the entire structure of physical and biological sciences are based, strengthens our belief in the law of *karma.*The law of k*arma* in turn ultimately based on the doctrine of rebirth. It is said that when a man is born in this world, his birth may be the result of anyone of his numerous acts, or a set of acts, which may have to be fructified through several bodies. The consequenceof a person's acts not

being fully worked out in this life, need a future life for their consumption. The doctrine of immortality of the soul which justifies the belief in a future existence of the individual, equally justifies the pre-existence of the Law of *Karma.*

Karma, according to Jains, is of material nature, is a matter in a subtle form, having a substantial force. It has the property of developing the effects of merit and demerit. The soul, by its dealing with the outer, becomes associated with the particles of subtle matter scattered throughout the universe. These become *Karma* and build up a special body called *Karmanasarira,* which does not leave the soul till its final emancipation. As per Jain view, each *Karma* works in such a way that every change which takes place leaves a mark on our character. It produces effects on character, disposition, instincts and tendencies of the doer. The word *saskaara* is meant for the physcial, moral and mental traits with which a person is born. They form part of his personality and are borne by him in this life time and carried into a future existence. This leads us to conclude that all that exists and happens in the phenomenal world is if,. Thus, it may be said that all our miseries as well as happiness are due to our own *Karmas.* (the outcome our own deeds of. So, if our deeds are good, the results are also good and they are bad they lead to bad results.

The general maxim, 'As you sow, so shall you reap', which formulates the essence of the law of *Karma,* has no evidence in the empirical world. If we try to look into the lives of individuals, the law is operative in its negative form. You do wrong, and still you lead a happy life. You are virtuous still your life is full of miseries. Such cases have, no doubt, been attempted to be reconciled with the law of *Karma* on the other grounds, specially the present one. But what is the scientific basis for the acceptance of the past life cases? Cases have been reported wherein some persons are believed to be narrating the incidents of past life. But we have not as yet found an instance which has received universal acceptance as the scientific laws. Observation and experiment are the two important steps of scientific procedure. It is on the basis of verification that scientific laws are established. Can the law of *karma* be verified? The analysts would surely brush aside such laws for the simple reason that they are meaningless, because this theory cannot be verified empirically. So we have no scientific evidence for the law of *karma.* The law of causation itself is a presumption which has not been proved conclusively. Still moral arguments adduced in support of the law of *karma* can at best put in the category of a postulate of morality. Not only morality but also the entire structure of Indian philosophy rests

on this law of karma presumption. Rajendra Prasad quotes -The three belief systems i.e. the belief in law of karma ,the belief in rebirth,and the belief in moksha form a good logical family in the sense that no one of them can be completely disassociated from the each other.[1]

Part-B

Belief in the law of karma is considerded to be one of the most fundamental features of classical Indian philosophy with the lone exception of I the so called *Carvakas* (materialists) and western thinkers don't agree and believe in this law of *karma.* Those semantic religions like Christianity, Islamism, and Judaism don't believe in the concept of rebirth. So it is the belief system of a person which regulates the entire actions of the human beings. The history of India also repeated the very same things during the period of British rule, colonise the belief system of Indians and colonise the Indians. This tool was adopted by the Britishers and they succeded in their goal. In the same way, what we see in the western world situations today is an effect of their belief system which can be seen in the name of over materialistic life style, highly technological progress and comfort zone attitude leading towards the problem of deficiency of natural resources,
deforestation, global warming, climate change, species extinction, reactive voilence and all such dis-compassionate human behaviour. They were all together bearing the fruition or consequences of their own belief system backed up by their non-belief in law of *karma.*

Concept of *Karma* in Classical Indian Philosophy: A Comparitive Study

But for the *Carvakas* all the orthodox systems base their views upon the Law of *Karma*: For them, perception is the only valid source of knowledge.Nothing is real, which is not perceptible. As soul has no existence in the philosophy of *Carvakas* , they do not believe in the future life and the Law of
Karma. The ideal which *Carvakas* present before us is that of hedonism. It lays emphasis on the individual happiness.

The denial of soul is as absurd as to say that "my mother is barren". If there is no soul as a separate entity then body is the soul, which is contradiction in saying. By rejecting the existence of soul, *Carvakas* reject the doctrine of rebirth and Karma which reduces their philosophy to escapicism. They do not care even for moral values. As they reject every other source of knowledge other than perception and all moral values of life, 'Agnosticism' and 'Escapicism' are the necessary outcome of the philosophy of *Carvakas.*

The Buddhists hold that every one in the universe is subject to the influence of cause and effect. “What is that which sets the phenomenal world into motion in order to come into existence from the unknown and again, to disappear into the unknown to reappear again, as before, without ever stopping the continuity coming and disappearing? The only answer to this is, that it is due to the *saskaras*, the result of our own day-to-day actions, that the continuity of the samsara is maintained. As Buddhists agree that soul is transitory in nature, the law of conservation cannot occur.The law of conservation means that there is no loss of effect of work done and that there is no happening of events to a person except as the result of his own work, merits and demerits of action.[2]

According to the *Nyaya-Vai*s*eika* school, our body has its source in the acts done by the person, and is the basis of pleasure and pain. The body is formed under the influence of the unseen force of destiny and is the result of the persistence of the effect of the previous acts. The birth of a being is not a mere psychological process. Uddyotakara says: The *karma* of the parents who have to enjoy the experiences resulting from the birth of the child, as well as the karma of the personality which has to undergo experiences in the world, both these conjointly bring about the birth of the body in the mother’s womb.The connection of the soul with the body is called its birth and its separation it death. We come into the world not in entire forgetfulness, but with certain memories and habits acquired in the previous step of existence. There must be a future where we can experience the fruits of our deeds and a past to account for the differences in our lots in the present. When we exhaust all our deeds, the soul is freed from rebirth and attains emancipation. According to Vatsyayan, “the fruition of all one’s acts comes about in the last birth preceding release”. In the philosophy of *Sakhya-yoga* school, the law of *Karma* is assumed as a valid principle of life. They hold that our life, its character and everything are determined by it. They argue that though we do not remember our past lives, we can infer particulars about them from the tendencies of the present. These tendencies, according to them, will cease to exist on the disappearance of their cause *(hetu),* motive *(phala),* substratum (a*sraya)*, and object *(*a*lambana).* The root cause is *avidy*a,though we may have other proximate causes .*Sakhya’s* theory of *satk*a*ryavad* also points out the admissibility of the Law of *Karma*. According to it, the effect subsists in latent in the cause. They argue for the same reason that the non-existent cannot be made existent.

In the same way, our present is an outcome of our past lives and on the same logic, the future will be the result of our present lives.

Mimasakas attempt to prove the Law of *Karma* with the help of its doctrine of *apurva.* They say that our acts are enjoyed with a view to their fruits. There is a necessary connection between the act and its result. Jaimini termssuch unseen force, as *apurva,* i.e., something new, not known before. So*, apurva* is the metaphysical link between work and its result. According to them, man enjoy the fruits of his actions performed in the past life, here in the present by means of . In the same way, he will have to enjoy the fruits of actions performed in the present life, with the help of same *apurva.*

For Sankara individuality is due to *Karma,* which is a product of *avidya.*The world, we live in, is just the return of the works of doer. The individual is working machinery intended to produce its effects in the form of suffering and happiness. Moral life is always active and is never exhausted. It takes endless forms, owing to the variety of the demands of the conditions of human life. This process goes on for ever, unless perfect knowledge is gained. Perfect knowledge consumes the seed of Karma and makes rebirth impossible. Freedom from the subjection of the Law of Karma is the end of human life. To get rid of *avidya* is to be freed from the Law of *Karma.*

Points of Agreements and Disagreements

1. As per Vedantins ,Diversity is the product of *avidya.* In the same way, jains do believe in Diversity is the product of *karma*.
2. Moreover *avidya* can be overcome only by right knowledge. In the same way, jains do believe in change of *karmas* through ones self-effort. Not only this , but right knowledge,right intuition,. right conduct together pave the path of liberation.[3]
3. Actions are classified into three categories (*prarabdha, sancita ,sancyamana*) in accordance with the degree of maturation attained by them. The question of maturation arises because there may exist a time-lag between an action done and the effectuation of the relevant experiences of joy or sorrow for the doer.Even jains do believe in time-lag between karmic bondage and fruition of karma.
4. The consequences of *sancita ,sancyamana a*ctions can be avoided by theattainment of right knowledge, but those of *prarabdha* actions canot by any means.Only the fruits of unriped *karma* can be destroyed by true knowledge. The fruits of riped karma have to be experienced in any case,even if true knowledge is attained.4In the same way jains also believe that only *dalik karmas* can be changed ,the *nikacita karmas* cannot be changed even by *tirthankaras*.

5. The systematic and scientific mechanism of eight categories of karmas as discussed in Jainism is not found elsewhere.
6. Jainism provides a clear picture of process of bondage and spiritual ways to get rid of this karmic bondage and end the cycle of birth and death.
7. The concept of transference of merit is not permitted in Jainism but the concept of self-responsibility of ones actions is accepted.
8. Mahavira propounded the concept of *atmakarttvavada* (theory of creation by the self). In matters of pleasure and pain, neither God nor anybody else is responsible for them ,the worldly soul is solely responsible for them,

Jains don't impose on anybody to have belief in this notion of *karma.* As Jain philosophy is basically *anekantic* philosophy, it do asserts and supports the contradictory notion in the light of the other infinite number of perspectives. We can manage to experience the difference in the responsible actions operated by the person having belief in this natural law of *karma.* The law of *karma,* therefore is a law, which dominates all other natural laws, but it is not a blind law. It is living and spiritual-cum-social law. We can proceed into the world of practical life where this philosophy of *karma* has its own socio-spiritual relevance in all spheres of human life. But in spite of the great importance accorded to the law of karma by the indologists and Indian as well as non-Indian-it has not been given a conceptual analysis which is very important from the philosophical point of view to understand the intelligibility of the doctrine of karma. Dayakrishna and Rajendra Prasad have attempted to give a conceptual analysis of the doctrine of karma. But in the process they have raised a number of conceptual issues which deserve a close attention on the part of researchers. It is hoped that the study undertaken here is the extension of such a spirit. Unless we analyse the concepts of karma and *karma phala* and their relation to *karta,* we cannot understand the doctrine of karma in a fruitful manner.

The notion of *karma* is conceptually connected with the notion of *sasara,* transmigration, freedom and responsibility. In order to understand the notion of karma, a socio-spiritual analysis of the notion of *sasara,* transmigration, freedom and responsibility is also required at which the present article aims. The objective of this article is not to ascertain the truth or falsity, validity or invalidity of the doctrine of *karma* nor even to make a historical study of the different interpretations of the doctrine of *karma.*

Part-C

Socio-Spiritual Analysis of *Karma* Theory

Karma and rebirth are the two most important presuppositions of all schools of Indian Philosophy with the solitary exception of the system of *carvaka*. The Indian religions are intensely theistic and believe that God is omnipresent, omnipotent and omniscient and hence possessing absolute authority. The *carvakas* were a school of total materialism and didn't believe in

any metaphysical reality be it soul or God. Both Buddhism and Jainism didn't believe in God as the creator, sustainer and destroyer of this universe. They believe that the universe is *anadi*, without beginning and *ananta*, without an end. Among the systematic schools, only the *Nyaya Vaiseika* admits God as the necessary condition for the fruition of the *karman*, which remains as an unseen potency (*ada*) consisting in merit and demerit in the soul. The yoga philosophy admits God only as an object of worship or meditation, and not as an agent in the fruition of the *karman*. *Sacara* accords a provisional place to personal God in his monistic *vedanta*. Even Christian religion also asserts God

but does not believe in the concept of rebirth. The entire ethics of Jain Philosophy is based on the strong foundation of the theory of *karma*. Now let us proceed to the relevance of this theory.

Change of *Karma* VS Doctrine of Self-effort (*puruarthavada*)

In Jainism, the moral responsibility of each and every *karma* is not endorsed to the God, but it falls under the orbit of the individual self. This novel concept of moral responsibility of the individual self, which is based on the philosophy of *karma* can restrain the human race from blaming others for ones good or bad actions. Although it is sure and certain that bound *karmas* must be experienced by the self someway or the other, after the completion of the duration of *karmas*. As per Jain philosophy, there are two types of *karmic* bondage,[5] *dalika karma* and *nikacita karma.* When the intensity of a bondage is extremely strong, it has to be suffered as it is,it cannot be mitigated. Such *karmas* are of *nikacita* nature, they can't be changed in any case.6 The other part of *dalika karmas*, which occupies the maximum space in the *karmic* range, is changeable. The unchangeable part of *nikacita karma* is very small. On the basis of that small part of unchangeable *karma*, we can't declare that we can't change our destiny or bound-*karmas*.[7] In *Bhagavati Sutra*, we get the reference of two types of *vedana* (sensation) namely, *evabhuta* and *anevabhuta vedana*. *Evabhuta* means to experience the *karmas* as it is bound. *Anevabhuta* means to experience the

karmas with a difference. Gautam asked–Lord! Soul experiences *evabhuta* or *anevambhuta vedana*?

Mahavira replied–Gautam! Soul experiences both the kinds of *vedana*. This reference is authentic proof of concept of change in *karma*.[8] So the *karmic* atom of *dalika* type can be changed and in experiencing its fruition man is independent. One is free in experiencing the *dalika karma* as it is or can be made other-wise. Whereas in *nikacita* type of *karma*, all the possibilities of change, ceases in itself. Thus *tirtha kara* Mahavira possessed *anekantic* perspective. He didn't give absolute importance either to *karma* or to self-effort. He established the relativity of soul and *karma*.9 If we assert that once the *karmas* are bound, can't be altered in any state. Then, there will be no scope of transformation through meditational practices, auto suggestions and practice of different kinds of austerities. One should not give up ones hard work or efforts by giving importance to the small range of unchangeable *karmas*. The philosophy of *tirtha kara* Mahavira is the philosophy of efforts (*puruarthavada*).

The two most important revolutionary concepts of *tirtha kara* Mahavira in the context of *karma* theory are *Udirana* (pre-maturation of *karmas*) and *sakramaa* (change of *karmas*). On the basis of which we can call the doctrine of *karma* as the doctrine of *puruarthavada* in the words of Mahavira.[10] This concept of *puruarthvada* as propounded by Mahavira must be understood clearly. The doctrine of *karma* truly speaking is a doctrine of self-effort. It is believed that *puruartha* or human effort is essential pre-requisite for the maturing of past *karmas*. The *Mahabharata* 136.7-8 compares past *karmas* to seeds which remain fruitless if they are not sown, the tilling of the soil for sowing is human effort which is essential for sown seeds to mature. This proposition is however not universally true. Birth, length of life, death and human sufferings generally has no relationship to human effort. Every soul has a right to do *atma sadhana* and thereby transforming human-personality through freedom of action. The *Bhagvad Gita* also emphasizes on "*atmaiva hyatmano bandhuratmaiva ripuratmana*", ones own self is ones friend and ones own self is ones enemy. Hence one should lift ones self up by ones own effort. As Jain Agama *Uttaradhyayana Sutra* avers : "*appa katta vikatta ya duhaa ya suhaa ya*"[11] : self or *atma* is the maker of sorrow or happiness. As compared to animals, man is endowed with the capacity to counter his *pravrttis* (actions) born of *saskaras* through the process of *udavartana*,[12] *apavartana*,[13] *sakramana*, [14] *udiraa*,

i.e. increased realization, decreased realization and transformation, prematuration. The energy whereby the soul increases the length of duration and the intensity of fruition of a *karman* this process is called increased realization. And the energy whereby the soul decreases them is called 'decreased realization'. *Sakramaa* means transformation of the length of duration and intensity of fruition of a *karman*. There are few exceptional cases, where the concept of *sakramaa* does not apply. They are as follows:

a. *Sakramaa* (transference) always occurs in parallel *prakti* (subtypes)
only but not in opposite sub-types of *karmas*.

b. *Sakramaa* never occurs in main types but always occurs in subtypes.

c. The four sub-types of life-span *karma* mutually doesn't change.

d. Likewise deluded view and deluded conduct mutually doesn't change.[15]

Pre-mature realization is the process by which a *karman* is made capable of premature fruition. Thus there is an open room for changing the *dalika karmas* through the process of *nirjara* i.e. penances and tolerance of hardships etc. If there is no scope for change, then there will be no difference between the God and *karma*, both are once determined are unchangeable. Then there will be no scope for personal efforts of *sadhana*, giving charity, observing vows, humanly behaviour, meditation, service to others etc. But through determined will power and self-effort we can change our future. In the area of *nikacita karma bhoga*, experiencing the results of past actions, a man is not free, but in the area of *yoga* as a discipline for transformation of human personality he is free. "Restrain" or "*Sayam*" is a supreme virtue which can be observed in various ways i.e. restrain over emotions or passions, restrain over thoughts, restrain of sensual organs, restrain over ones legs, hands, words etc. are possible only in the human realm.[16] The believer of *karma* philosophy will always remain optimistic in his approach and accepts the existence of rebirth, heaven, hell and fruition of *karmas* according to ones deeds, i.e. asserts the concept of reward and punishment. Man is independent in binding new *karmas* as well as in shedding of the *karmas*. This belief acts as a remote control over ones behaviour, over ones attachment towards possessions, over ones consumable and non-consumable goods, over ones violent acts and over ones laxity and control over ones attachment and 15 *Viseavasyaka Bhaya* of Jinabhadra Ga'i.Ed. Dalsukha Malavaniya and Bechardasji, Lal

Bhai Dalpatabhai.Ahmedabad : Bhartiya Samsk(ti Vidyamandir.Vol.-I, 1968, verse 1939. 16 *Dasvaikalika Sutra*, op. cit., 10. 14 aversion. *Uttaradhyayana Sutra* explains attachment and aversion is the main cause of bondage. Kundakunda explains : "*Sauvarikampi nigalam badhanati kalayasam ca yatha puruam badhanatyevam jivam subhamasubham va ktam karma*"17 i.e. a shackle made of gold is as good as one made of Iron for the purpose of chaining a man. Similarly the *karmas*, whether good or bad equally bind a person.18 It is quoted in *Muaka Upaniad*, *akama*, a desireless person, transcends the human seed, that is overcomes rebirth and transmigration. According to Jainism, the inflow of *karmic* matter, that is a*srava*, is stopped by *savara* coupled with the destruction of, or exhaustion of past *karmas* through *nirjara*. Thus it is clear that each and every soul can get rid from bondage through positive efforts and can attain the ultimate goal of liberation. Thus *karma* is a doctrine of self-effort. It is not a doctrine of eternal damnation of a sinner in hell for one-time sin committed by him, which is so eloquently and powerfully expressed by John Banyan : "one leak will sink a ship and one sin will destroy the sinner". The *karma* doctrine offers prospects of redemption, change of attitude, change of ones habits, change of ones nature through disciplined conduct and atonement. Impartial justice in the heart of society can be established automatically through the law of *karma*.

Acarya Mahapraj–a says, there is a great mystery of science hidden behind the theory of *karma*. The person who wants to establish good destiny, must concentrate on the main sources of *purushartha* i.e. mind, body and speech activities, which work only after the destruction of *antaraya karma*. *Tirthakara* Mahavira showed the great path of establishing ones bright destiny through the practices of mental, vocal and physical inhibitions. Moreover Acarya Mahapraj–a says that *kusala mana, kusala vai* and *kusala karma* is a cause of establishing good fortune.19 It is a tenet in Jainism that man alone is responsible for his own condition of weal or woe. He is the architect of his own destiny. It is the result of the reciprocal interaction between himself and the rest of the world.

Doctrine of *Karma* and Non-transference of Merit

Jainism is the only religion which didn't countenance the concept of *puyadana. Puya* is not treated as *datavya*, the thing given. The Jain thinkers believe the concept of *karma* as being material in character.[20] There is influx of *karmas* into the soul on account of performance of *karmas* and the same could be purged (*nirjara*) by appropriate but there could be no question of transfer of *karma* as

accepted in *smtis, puras* and *vedas*. The sharing, inheritance or transfer of evil *karmas* is contrary to the doctrine of *karmas*, which postulates an exclusively personal responsibility for good and evil *karma*. But we find traces of the belief in sharing, inheritance, and transfer of evil *karma* in early literature like *gveda*, *Atharvaveda*.

The problem of mass or collective suffering such as due to natural cala3mities like draught, floods, earthquakes etc. was also explained as the consequence of the misdeeds of the ruler. The Buddha says that when kings are evil minded, his ministers become likewise; in consequence the rhythm of the seasons is disturbed, rain winds occur out of time and crops are poor, people suffer from sickness.[21] The *Mahabharata*[22] attributes the natural calamities to the sins of the ruler. This was supported by the Manu23 that a king who fails to do his duty of protection towards the subject shares, one-sixth of the sins of his subjects, where as the doctrine of *karma* which strongly emphasizes the element of personal responsibility for actions that each person enjoys and suffers the consequences of his own acts and there is no transference of merit. Nobody can share ones suffering and pleasure according to the theory of *karma*. Neither his kinsmen, nor his friends, nor his sons, nor his relations will share his suffering, he alone has to bear it; for the *karman* follows the doer.[24] Nearest or dearest whosoever it is, nobody can share or transfer ones deeds to others as per Jainism.

Lord Mahavira, in *Uttaradhyana Sutra* rightly discussed that *appakatta vikattaya, duhaa ya suhaaya*.Soul experiences joy and sarrow according to ones own *karma*. If there is no law of *karma*, it means a complete abrogation of the law of *karma* by permitting an evil-doer to escape the consequences of his misdeeds by transferring the same to someone else and thereby make an innocent person suffer for the same. So *Milindapa–ha* 295-296 says emphatically, “An evil deed, O king, cannot be shared with one who has not done it, has not consented to do it. Well, O King, so is it that a good deed can be shared but not an evil one.”It is not the case.The idea of sharing and inheritance of evil as embodied in the *g-veda* and *Atharva veda* and *Mahabharata* represents ideas of a stage prior to the formulation and universal acceptance of the classical doctrine of *karma* which strongly emphasizes the element of personal responsibility for actions.

Law of Personal Responsibility

The main difference between the acceptance of God and theory of *karma* is that in case of God, moral responsibility of an individual is transformed to the almighty God and on the other hand,

theory of *karma* places a strong foundation and endorses moral responsibility of each and every action to oneself. The doctrine of *karma* is a revolutionary development which endowed man with free will, made him responsible for his own acts and the architect of his destiny. The doctrine of *karma* is a doctrine of personal responsibility for a man's entire actions. So each man is responsible for his own actions and he alone has to bear their consequences. It made him self-centred but not selfish. It is also an essential feature of the doctrine that a person must do good and avoid evil. He must not cause injury to various forms of life as, such acts produce demerit; likewise, he must do good to all beings to earn merit (*puya*) which will ensure rebirth in higher forms of existence and bring happiness. Thus, the doctrine of *karma* provided strong motivation not to act exclusively for personal benefit and disregard to the interests of his fellow beings. The graph of morality will be increased to the highest extent and an individual will not always stick to the materialistic objects leading a luxurious life and there will be a balance between spirituality and materiality.

The belief in the theory of *karma* can establish a society bereft of corruption, adulteration, terrorism, mal-practices, incidents of rapes, cruel behaviour with the animals and the employers etc. The members of society who believe in *karma* can never exploit the rights of others and can help in building an eco-friendly life on the earth. The cruel behaviour resulting through selfish urge in case of dowry, medical experiments causing environmental pollution, mismeasurement and mixing harmful materials in the milk products used for the babies etc. can also be avoided. Jainism asserts that one who tortures and kills other beings, who strives in an extra-ordinary manner after possessions and who is governed by life long passions, obtains *naraka* a*yuya* (infernal life). The deceitful, the fraudulent man, who is in possession of the thorns, binds *tiryunca* a*yusya* (non-human life), the humble, sincere one, whose passion is slight, *manuya* a*yusya* (human life).[25] The belief in the above statements of canons can
restrain the entire act of an individual. The A*cara* *ga Sutra* cites, *karmic* bondage occurs when the actions are done in the wake of non-vigilence. Thus the *karma* incurred due to non-vigilence is uprooted by means of vigilence (selfawareness).[26]

Theory of A*tmakarttvava*da

A man has, at his disposal, three means to perform any activity, mind, speech and body. Activities may be good or evil. If mind, body and speech are themselves good, the activity will also

be good, and if they are vitiated, the activity will also be evil. Thus it is clear that result of the three fold activity is the cause of new bondage. So according to Jainism, your soul is responsible for both good and evil *karmic* bondage. It creates both pain and pleasures for itself. Neither God nor anybody else nor any object is responsible for them. Thus Mahavira propounded the concept of a*tmakarttvavada* (theory of creation by the self).[27] In matters of pleasure and pain, the worldly soul is solely responsible for them, as self does all its actions consciously and automatically encouragement to moral values in life occurs. This is the greatest relevance of *karma* theory that crimes and punishments can be kept under control in the society.

Jainism believes that *puruartha* is the key factor, through which a man can transform himself.[28] It means, *purua* (soul) is neither a toy in the hands of *niyati* (universal law) or *bhagya* (fate), nor even everything is controlled by *karma*. It is the *puruartha* that builds the system of *karma*. One should be very clear about the limitations of the power of *karma* or *niyati*. Some people say, "Whatever is destined in *bhagya* (fate) is bound to happen." Jainism, however does not conform to such absolutistic statements. If we enthrone *karma* or *bhagya* i.e. fate of destiny on the seat of God, then what is sense in denying the theist conviction that man is not a mere puppet in the hands of God or almighty? As cited in the *Uttrajjayaai*, my ownself is the doer and undoer of misery and happiness; my ownself, friend and foe, according as I act well or badly.[29] Therefore, it would be absolutely wrong to believe that *karma* is everything or whole and sole. *Karma* is not the universal sovereign. Man can change ones destiny through efforts.

Equanimity in Bearing *Karmas* Leading to Liberation

Self, in its dynamic march through worldly lives is constantly earning and shedding *karmas*. It earns further *karmic* bondages even while suffering the fruits of the past *karmas*, if it does not suffer the said fruits with equanimity and objectivity. A person who passes through some calamity-mental or physical grumbles against his fate, looses temper and commits acts of indiscretion and violence with a view to avoid the uncomfortable circumstances in which he is placed. Another man who is passing through a period of prosperity or is invested with some power over his fellow men, he while enjoying this prosperity and power, he commits of acts of indiscretion and violence. Both these persons are reaping the fruits of their past or present *karmas* but while doing so, they are creating fresh bondages by their acts of indiscretion and violence. Even acceptance of fruits of good and bad *karmas* with over joy or sorrow disturbs the mental

equilibrium and results in fresh bondage of *karmas*. Therefore, the ideal way to face the fruits of ones *karmas* is to face them calmly, objectively and peacefully with full equanimity of mind. If you are oppressed with pains, treat the occasion with equanimity and understanding, thinking within yourself that it is a good opportunity to shed your *karmas*, which have been of your own creation out of some ignorance. If you are passing through a period of pleasure, thank the scheme of universe which has not failed to reward your good actions of the past, and be prepared to do further good without any strings of desires attached to it. One should constantly remember that pleasure and pain are the inseparable constituents of life and the true art of living consists in learning to bear with equanimity and understanding. If this is done, no fresh *karmic* bondages are evolved while reaping the fruits of our past *karmas*.[30]

Thus it can be concluded that in the context of Jain ethics, doctrine of *karma* is as important as the theory of cause and effect in the field of science. Thus the doctrine of *karma* is based on certain fundamental postulates :

(i) It is a law of personal responsibility; the doer himself must bear the consequences of his actions. This liability cannot be shifted. If a person escapes human retribution, he must face 'divine' retribution. The unexhausted *karmas* have to be experienced by the doer in his subsequent life or rebirth. The very belief in this *karma* theory restrains each and every action of the human conduct. Moral conduct of an individual is the cause of moral conduct of the society. So it can be said that peaceful co-existence, law and order in the society can be maintained through the faith in the law of *karma* in this L.P.G. era.

(ii) There is inequality and sufferings in life, the doctrine of *karma* is evolved as a parallel to and on the pattern of the general law of causation, cause and effect, which we notice in the physical universe. The doctrine of *karma* seeks to explain these phenomena in a "rational" manner, that they are not the result of blind functioning of the universe, an arbitrary fate. Hence, the doctrine is based on the maxim, 'As you sow, so shall you reap'. The inequality and suffering, which a man has to face or undergo, is nothing but the consequences of his own earlier acts. It is a law of retributive justice. Thus it is the doctrine of *karma*, which makes the world of sentient creation morally intelligible. There is no escape from the consequences of *karmas* in case of *nikacita karmas*.[31]

(iii) The doctrine of *karma* extended the causal law to the moral realm. It held that good and evil deeds have a necessary causal

connection with the experience of happiness and unhappiness. Since this is intended in a more than psychological sense there was obviously need for a mediating agency which would connect *karma* with its result which might be separated from it widely in time and space. Brahmanical system tended to postulate God as the agency, which rewards or punishes good and evil deeds. Jainism, like Buddhism, however attributed an unseen power to *karman* itself, which brought about its result at the appropriate time. One implication of this doctrine is that the distinction of good and evil must be held to be objective and independent of subjective relativity.[32]

(iv) Another implication is that action must be held to create an unconscious and persistent force which remaining connected with the psyche of the agent and has the capacity of directing it into situations appropriate to its own fruition and controlling the affective reactions of the experiences arising form such situations.

(v) The doctrine of *karma* is useful in keeping mental equanimity in good and bad times and in receiving urge from with in for performing good acts. He never become arrogant in the days of his happiness and good fortune, nor does he become downcast and depressed in the days of his miseries and misfortune.[33] But he remains calm and composed and maintains balance of mind at all times favourable and adverse, because he knows that all the circumstances and situations that arise in man's life are but plays of *karma*. He is convinced of the fact that by force of good works, man can overcome difficulties and remove miseries as also that he can make his life more and more happy by advancing on the path of righteousness. By doing so, man makes himself permanently happy and at the same time attains higher and higher stages of spiritual evolution and consequently attains liberation lying beyond the duality of good and evil (vi) The importance of human effort is emphasized by Mahavira, which rules supreme in Jainism. According to him, a man should lift his soul by his own efforts. He says, "The soul is the begetter of both happiness and sorrow, it is its own friend when it treads the path of righteousness and is its own enemy when it treads the forbidden path.[34] The prerequisite to the path of righteousness is to conquer the four passions, viz., anger, pride, deceit and greed and the five sense organs. He says conquer anger by forgiveness, pride by humility deceit by straight forwardness and greed by contentment.[35] According to Mahavira, conquering ones own self is the most difficult thing in the world. He says, Victory over ones self is greater than conquering thousands and thousands of enemies on the battlefield. A true conqueror is one who conquers his own self.[36]

Conclusion

In short, doctrine of moral causation inspires optimism and makes man the master of his own destiny. It teaches man to remain always engaged in good works and to perform ones duties well. The doctrine of *karma* has the message for man that he can attain fortunes by good works. It is in his own hands to shape his own good or bad destiny and consequently to experience their good or bad fruits. Practice of righteousness, influence his *karma*, in accordance with their intensity, he can alter his *karma*, transform the bad *karmas* into the good and almost destroy it. No *karma* lasts forever. On the expiry of its time limit, it is destroyed and with its end, ends its fruition. This is the reason why the wise remains continuously engaged in the activity of creating good destiny in order to perpetuate forever their good state. By doing so man makes himself permanently happy and at the same time attains higher and higher stages of spiritual development. Thus Mahapraj–a states that *karmavada* is a powerful tool to root out the wide spread immorality. It is neither an escapist theory nor it calls for modify resignation, its actual, deep and practical meaning is to employ our efforts to our present and future for the better.[37]

Bibliography:

Original Texts

A guttara Nikaya.Ed. Bhikkhu J. Kashyap.Pali Publication Board.Bihar : Motilal Banarasidass.1960.

Acara ga Sutra.Ed. Yuvacarya Mishrimalji 'Madhukar'.With original Text, Hindi version, Notes, Annotation and Appendices.Beawar : Shri Agam Prakashan Samiti.1998.

Dasvaikalika Sutra.Ed. Mishrimalji Maharaj.Beawar : Agam Prakashan Samiti.1991.

Gommatsara (*Karmakaa*) of Nemichandra Siddhanta Chakravarti.Ed. Manoharlalji Shastri.With Sanskrit Renderings and Hindi Translation.Agas : Shrimad Rajchandra Ashram.1986.

Maukyopaniad ..Gorakhpur : Geeta Press, v.s. 2026.

Samayasara of Kundakundacarya.Ed. Acarya Vidyasagar.Ajmer : Digambar Jain Samiti.3rd edn. 1994.

Tattvartha Sutra of Umaswami.Ed. J.L. Jaini.Delhi : Barrister Champat Rai Jain Trust.1956.

Bhagavai Viahapaatti.Ed. Mahapraj–a, with Prakrit Text, Sanskrit renderings, Hindi translation and Critical annotations.Ladnun : Jain Vishva Bharati

Institute.Vol. I, II, III.1994.

Uttaradhyayana Sutra.Ed. Muni Mishrimalji Maharaj.Trans. Muni Rajendra. Beawar : Agam Prakashan Samiti.1991.

Bhagvad Gita. Geeta Press,Delhi,1992.

Viseavasyaka Bhaya of Jinabhadra Ga'i.Ed. Dalsukha Malavaniya and Bechardasji, Lal Bhai Dalpatabhai.Ahmedabad : Bhartiya Samsk(ti Vidyamandir.Vol.-I, 1968.

Mahabharata of Vedavyas.Ed. Sukthankar V.S. and S.K. Belvalkar.Poona : Bhandarkar Oriental Research Institute.1954.

Karma Prakti of Nemicandra.Ed. Hiralal Shastri, Bharatiya J–anpitha.1964.

Karma Prakti with *curi* and the commentaries of Malayagiri and Upadhyaya Yasovijaya (1937)

Manusmti,Ed., Hargovinda Shastri,Varanasi:Coukhambha Samskrit Samsthan,V.S.2062.

Thaa.Ed. Muni Nathmal.With Prakrit text, Sanskrit Rendering and Hindi version with notes.Ladnun : Jain Vishva Bharati.1976.

Reference :

1. Rajendra Prasad,*Karma,Causation and Retributive Morality*,Delhi:ICPR & Munshiram Manoharlal Publishers,1989.p.20
2. Chatterjee &Dutta,An Introduction toIndian Philosophy,University of Calcutta:Calcutta,1939. p.18
3. Tattvartha Sutra of Umasvati, 1.1
4. S,N.Dasgupta,*A History of Indian Philosophy*,vol-ii,Cambbridge University Press: Cambbridge,1992. p.403
5. Mahaprajna.Jain Darsana Ka Samyak Darsana, op.cit.,p.48
6. Gommatsara : Karmakanda, verse 440.
7. Mahaprajna.Jain Darsana Ka Samyak Darsana, op.cit.,p.49
8. Bhagavati, op.cit.5.118.
9. Mahaprajna.Jain Darsana : Manan aur Mimamsa, op.cit.,p.298,299
10. Mahaprajna.Jain Darsana Ka Samyak Darsana, op.cit.,p.46
11. Bhagvad Gita, verse 6.5
12. Karma Prakrti with curni and the commentaries of Malayagiri and Upadhyaya Yasovijaya (1937),p.19(2)
13. Ibid, p. 19(2) 14. Ibid, p. 19(2)
15. Visesavasyaka Bhasya of Jinabhadra Gani.Ed.
16. Dasvaikalika Sutra, op.cit.10.
17. Samayasara, verse 146.
18. Mundaka Upanisad, op.cit.II.1.
19. Mahaprajna.Jain Darsana Ka Samyak Darsana, op.cit.,p.46-47
20. Yuvaraj Krishan. The Doctrine of Karma. Page.39
21. Anguttar Nikaya.II.iV.70.

22. Mahabharata of Vedavyas. Vol.9.1954, 12.91.34-35
23. Manusmrti. VIII.304
24. Uttaradhyayana Sutra, op.cit.13.23
25. Thanam.Ed. Muni Nathmal. 4.628,629,630,631.
26. Acaranga Sutra, op.cit.,5.4.74.
27. Mahaprajna, Phgilosophical Foundations of Jainism,op.cit.,p.98
28. Mahaprajna, Phgilosophical Foundations of Jainism,op.cit.,p.34
29. Uttarajjayanani.20.37
30. The Path of Arhat, p.109
31. Uttarajjayanani.13.8
32. G.C. Pande, *Lectures on Jainism*.Delhi : Delhi University Press.1977., p.10
33. *Jain Philosophy and Religion*, Eng. Trans. Of *Jain* '*darsana*' by Muni Nyayvijayaji, p.241.
34. Uttarajjayanani.20.37
35. Dasvaikalika Sutra, 8.39
36. Uttarajjayanani.9.34
37. Mahaviraraj Galera..Jain Studies and Science, p.154

- Asstt. Prof. in Deptt. of Jainology
Comparative Philosophy & Religion
Jain Vishva Bharati University

	Jainism	Christianity	Islam	Hinduism	Buddhism
God	Each living being has a Soul. God is a fully enlightened Soul. Each soul is capable of becoming God	God is loving creator of heavens and Earth. Holy Spirit and Trinity which guides; to love and show compassion. Jesus is son of God	Allah – Powerful but unknowable (Jesus was a Prophet)	Multitudes of gods but one Supreme reality	Theravadas are atheist; Mahayana are polytheistic; Buddha said nothing is permanent.
Who created the Universe	Matter changes, no one created it. Soul is uncreated and eternal	God is the creator of heavens and earth	God (Allah)	God	Changing
Purpose of self- human life	to help each other; to realize one's own full potential;	Faith in Christ; Prayer, Bible study	To submit to the will of God to gain a paradise after death. Follow five pillars: faith,	Attain better rebirth.	Avoid suffering and gain enlightenment

			prayer, alms, pilgrimage, fasting.		
Body and its relation to the Soul / god	Body is matter Soul is non-matter-energy	Soul resides in body	Not defined.	Two different entities	Two different entities
Who controls your actions.	We are responsible for our own actions	God and individual's sins.	–	God	Self
Meaning of happiness	Compassion, managing your passions	Loving Christ	–	–	–
Is there a cause/ effect	Yes, All thought, speech, and action make an imprint on your Soul (Karma) and their effects are felt throughout your current and future lives	No direct link in this life.God judges at the end.	No direct link in this life.God judges at the end.	Yes	Yes

Human suffering is due to	Unable to understand our true nature. Attachment to matter/physical realm.	All have sinned and seperated from God.		Maya-desire for worldly materials; Humans are in bondage to ignorance and illusion.	Maya-desire for physical material
How to reach Nirvna/salvation	Living a life of Non- Violence, Non-Absolutism, and Non-Possessiveness	Follow Christ's message of love and to believe in Him.	Follow Quran	Give up Maya	–
Is there reincarnation/ rebirth	Yes until Nirvana/Moksh is attained	No, but after death there is eternal heaven or hell (or temporary purgatory)	No	Yes	Yes, until enlightenment. No surviving Soul
Key propagator	Rishabhnath Mahavir (2500 BC)	Jesus Christ	Muhammad	–	Gautama Buddha
Force which started/propagated the religion	Violence towards animals and humans	Conditions at the time; Oppression	–	–	Observed suffering in dayto day life

Number of worldwide followers	10 million	2 billion; 1 out of every 3 individual	1.3 billion (Sunni: 940 million)	900 million	360 million
Scriptures word of God, prophet, belief	Written several hundred years after Mahavir; modified over time	Started 40 years after Christ's death; modified over time	Not modified	Vedas. Modified over time	Not modified
Purpose of prayers	To celebrate the qualities of an enlightened being/Soul	To reach salvation	Pray to Allah	One with supreme	Self-realization
Key scriptures/ writings	Samaysar Tattvarth-Sutra	The holy Bible and New Testaments	Quran, Hadith	–	Tripitaka (Pali Canon): Mahayana\ sutras like the Lotus Sutras.
Diet	Vegetarian (nomeat, fish, eggs); some are vegan; no alcohol.	During lent, or before taking communion some food restrictions or fasting	No alcohol or pork	Vegetarian	Vegetarian when convenient

Key monk vows	Non-Violence, Non-Possessiveness, truth, non-stealing, managing sensual desires	Priests, ministers. pastors, bishops. To give up all Possessions.	Imams	–	Four noble truths; eightfold path

By Courtsey-Jainway of life (JAINA- U.S.A)
Editor - Yogendra Jain
(Summarised and Edited by Nihal Chand Jain)

आचार्य जुगलकिशोर 'मुख्तार' स्मृति - व्याख्यानमाला

स्नेहिल - आमंत्रण

(समय - 23 दिसमबर 2012 रविवार प्रातः 10.30 से दोपहर 2.00)

समारोह अध्यक्ष - न्यायाधीश माननीय अभय गोहिल जी

प्रमुख वक्तागण -

१. डॉ.एम.बी. मोदी वैज्ञानिक D.R.D.O. नई दिल्ली
२. प्रो. डॉ. अनुपम जैन इन्दौर (म. प्र.)
३. आचार्य राजकुमार जैन, इटारसी (म. प्र.)

समारोह निदेशक - डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर

समारोह संयोजक - प्राचार्य पं. निहाल चंद जैन, निदेशक वीर सेवा मंदिर

स्थानः वीर सेवा मंदिर का वातानुकूलित सभागार २१ दरियागंज नई दिल्ली 2, दुरभाष न. 23250522.

वीर सेवा मंदिर के पदाधिकारीगण कार्यकारिणी सदस्य, आजीवन सदस्य, विद्वज्जन एवं समस्त प्रबुद्ध श्रोतागण - सादर आमंत्रित है।

निवेदक :
सुभाष जैन (शकुन प्रकाशन)
अध्यक्ष - वीर सेवा मंदिर
21 दरियागंज नई दिल्ली 2

A Short list of References and Readings on Comparative Study of Jainism, Buddhism, Islam, & Christianity

- Complied by Prof. M. L. Jain

1. **C. R. Jain**
   The Key of Knowledge (Sanganer Jaipur Publicaiton) Chapter-IX on Hinduism, Chapter- V, VI, XII an Christanity Chapter XIV-on Islam. Chapter-X V on Reconciliation, (Republication of 1915 Editon).

2. **C R Jain**
   Confluence of oppsites- (Sanganer-Jaipur Publicaton).

3. **C R Jain**
   असहमत संगम- (सर्वधर्म समन्वय) Hindi Translation of Confluence of opposites by Kamta Prasad Jain Sarvodaya Vidyapeeth- Kishangarh, Ajmer Rajasthan.

4. **C R Jain**
   Gems of Islam - Part-I pages (1-188)
   Part - II (pages - 1-244) Jain Library London, Republished by Today & Tomorrow New Delhi

5. **Agam & Tripatak & Muni Nagraj.**
   Vol I & Vol II, both in Hindi & English (Excellent reading on Buddhism & Jainism)

6. **Prof. P. S. Jaini**
   (a) Collected Papers on Buddhist Studies & Jaina Studies (Motilal Banarsidas)
   (b) Christianity & Jainism- An Interfaith Dialogue (Publication of Hindi Granth Karyalaya Bombay.

7. **Paul Daundas**
   The JAINS - particularly Chapter VIII (1992) (pages - 195 to 209) on Jain relativism & relations with Hinduism & Buddhism.

8. **Dr. Sadhvi Sadhna**
   The Universe of Acharya Sushil Muni- The Philosophy of World Religions. 2005.

9 **Bhagchand Bhasker**
Jainism in Buddhist Literature - Nagpur, Alok Pbulication-1972

10 **Dr. Trilok Chand Kothari**
अहिंसा गांधीजी व सर्वभौम धर्म (Hindi Book)

11 **BRAHM CHARI SHITAL PRASAD**
Buddhism & Jainism

12 **OSHO- RAJNEESH**
(a) Mahavir Vani vol. I & vol 2,
(b) JINA SUTRA- vol. i & vol 2.

13 **Dr. Nand Kishor Prasad**
Mythology of Buddhism & Tirthankaras - vol.2- Vaishali Research Institute (1974) Bihar.

14 **Dr. Ramesh Chand Sinha**
Salient Features of Hindu & Christian Ethics- vol.IV- Vaishali Institute of Research (Bihar) 1983.

15 **P. S. Jaini**
The Jaina Path of Purification

16 **H V Glassnapp**
Jainism- An Indian Religion of Salvation- particularly Section VIII-PP 492-511.

17 **Muni Shiv Kumar**
The Doctrine of Liberation in Indian Religion- with special reference to Jainism (2000) Munshi Ram Manohar Lal (Publicaiton).

18 **A Chakravarti**
Introduction to Samyasra (Bhartiya Gyanpeeth Publication)- about 150 Pages. (Essential Reading on the subject)

19 **A N Upadye**
Introduction to PACHASTIKAYASARA, (Bhartiya Gyanpeeth Publication) (about 60 page).

20 **QURRSTROM - oile**
Jainism & Early Buddhism Essays in Asian Humanities Press- 2003

21 **BRUHNKLAVS & ALBRECHT WEZLS**
Studies ZUM JAINISM & Buddhims (1981) - Germany)

22 **Devendra Muni**
The Source Book of Jain Philosophy.

23 **Yogendra Jain**
The Jaina way of Life. (Page- 162-168) Jainism & other religions (Similarities & Differences in Tabular Form)

24 **Encyclopaedia of World Religions**
See the pages on world religions.

25 **Edword Thomas**
Jainism or The Early Faith of Ashoka (Ancient Religions of the East) Publication of Asian Educaiton Services, New Delhi-1995 (This is a very good reading)

(Editors Note) - Reserch Scholars & Students of Camparative study on religions are advised to look up references in footnotes of the above mentioned books & articles.